

ॐ

परमात्मने नमः

सहजानन्द सोपान

आत्मोन्नति के प्रशस्त क्रम का भाववाही विवेचन

लेखक

ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जैन

सम्पादन

बाल ब्र. कु० कुन्दलता, M.A., L.L.B.

कु० आभा जैन, M.Sc., B.Ed.

प्रकाशक :

जैन महिला शास्त्र सभा

दरियागंज, नयी दिल्ली

ग्रन्थ : सहजानन्द सोपान

(आत्मोन्नति के प्रशस्त क्रम का भाववाही विवेचन)

लेखक : ब्र० शीतलप्रसाद जैन

सम्पादित प्रथमावृत्ति : 1000 प्रतियाँ

(दस लक्षण महापर्व भाद्रपद शुक्ल पंचमी दिनांक 06 सितम्बर से भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी दिनांक 15 सितम्बर 2016 के अवसर पर)

मूल्य :

प्राप्तिस्थान :

- (1) **जैन महिला शास्त्र सभा, दरियागंज, नयी दिल्ली**
- (2) **ब्र० आभा जैन, 2/5, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली-2**

मुद्रक : देशना (दिनेश) कम्प्यूटर्स

मालवीया इण्डस्ट्रियल एरिया, जयपुर

मोबा : 9928517346

दो शब्द

अनादिकाल से यह जीवात्मा इस असार संसार में सच्चे व शाश्वत सुख को न पाता हुआ भ्रमण कर रहा है। सुख ही यह चाहता है, पर वास्तविक सुख का स्थान इसे मालूम ही नहीं है। इसकी सत्ता में मोह-राग-द्वेष भाव होते हैं। जिनके कारण इसके साथ कार्माणशरीर अर्थात् आठ कर्मों का संयोग है और उसकी वजह से यह नाना स्थूल शरीरों को धारण करता हुआ अर्थात् भीतरी व बाहिरी नाना भेष बनाए हुए घूम रहा है। इसका वास्तविक स्वरूप इन रागादिक, कर्मादिक व शरीरादिक से भिन्न ज्ञान मात्र है, उसी की ही इसे अनुभूति करनी चाहिए।

उस निज स्वरूप में ही वह आनन्द भरा हुआ है जो तृप्तिकारक, तृष्णा का नाश करने वाला, स्वाधीन, बाधारहित, बन्धनाशक व समरूप है, उसको पाकर ही इस आत्मा का अनादिकालीन संसार भ्रमण से मुक्ति का मार्ग बनेगा और यह तृप्त-तृप्त हो जाएगा। वह आनन्द सहज अपनी आत्मा से ही पैदा होनेवाला है। आत्मा, आत्मा रूप ही है, पर, पर रूप ही है, आपमें पर नहीं, पर में आप नहीं, शरीर और आत्मा का जो यह मेरा पिजला है, उसमें मात्र जानने-जानने वाला आत्मा जो है, बस वह मैं हूँ, उतना मात्र ही मैं हूँ – इस तरह पर से भिन्न अपने स्वरूप का लगातार भेद विज्ञान करे और तब तक करता ही चला जाए जब तक स्वानुभव न हो जाए, स्वानुभव होने पर सहजानन्द आएगा। एक बार सहजानन्द प्राप्त होने पर भी वहाँ पर रुकना नहीं है, पुनः-पुनः उसी का रसामृतपान करते हुए चारित्र्यदशा का अभ्यास करना है और ज्ञानानन्द स्वरूप ही रह जाना है, वही मुक्ति का मार्ग है और वही मोक्षस्वरूप है।

ब्र. शीतलप्रसादजी ने 'सहजानन्द सोपान' यह बहुत ही सुन्दर ग्रन्थ बनाया है और इसमें पूरे के पूरे मुक्ति मार्ग का यथार्थ विश्लेषण कर दिया है

जो वास्तव में ही स्तुत्य है और जिसे पाठक पढ़कर स्वयं जान सकेंगे। इस एक पुस्तक में भेदज्ञान, स्वानुभूति व सहजानन्द – ये छोटी-छोटी तीन किताबें हैं। इस जीव को सहजानन्द की प्राप्ति करनी है और भेदज्ञानपूर्वक स्वानुभूति करनी, वह उसकी प्राप्ति के सोपान अर्थात् सीढ़ी हैं। अतः तीनों ही महिमावन्त हैं, सो ब्र. जी ने प्रत्येक की बहुत प्रशंसा करते हुए उसे अतिशय साधुवाद दिया है।

भेदज्ञान की परिभाषा बताते हुए वे उसकी महिमा ऐसे लिखते हैं—

यह आत्मा अनादि से पुद्गल से मिला हुआ कुछ का कुछ दिख रहा है। इसकी ऐसी मिली हुई दशा में भी जिस बुद्धि से यह बिल्कुल निराला दिखे और जो कुछ-कुछ परसंयोग व परसंयोग जनित विकार हैं, वे सब निराले दिखें उसे ही भेद विज्ञान कहते हैं।

भेद विज्ञान ही वह चक्षु है जो पदार्थ को यथार्थ दिखाने वाली है। भेद विज्ञान ही सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती का वह सुदर्शन चक्र है जिसके प्रभाव से वह इस षट्द्रव्यमयी षट्खण्ड लोक पर अपना पूरा अधिकार जमा लेता है तथा कर्मों के वंश को और मोहनीयकर्म को निरन्तर अपनी चोटों से शिथिल व निर्बल करता हुआ उसका सर्वथा क्षय कर देता है।

धन्य है भेदविज्ञान। तुम छद्मस्थों के सदा मित्र बने रहो।

फिर स्वानुभव की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं कि 'यह जीव सिद्ध भगवान के समान परम शुद्ध, ज्ञान-दर्शनमय, अमूर्तिक एवं परमानन्द का भण्डार है – ऐसा निश्चय करके यह ज्ञानी सर्व पर से मुँह मोड़, एक अपने ही शुद्ध स्वभाव की तरफ सन्मुख हो, एकाग्र होकर जिस अवस्था को प्राप्त होता है, उसी को स्वानुभव कहते हैं।

भेद विज्ञानरूपी उदयाचल से स्वानुभव का सूर्य उदित होकर संसार भ्रान्ति के तम को मिटा देता है, आनन्द कमल को प्रफुल्लित कर देता है और परमामृत के समुद्र में स्नान करने को उत्साहित कर देता है और जैसे दूध को बिलोने से मक्खन निकलता है, वैसे भेदज्ञान के अभ्यास से स्वानुभव होता है। स्वानुभव ही वह परमतृप्तिकारी भोजन है जो अनादि की क्षुधा को मिटा देता

है। स्वानुभव ही कभी नाश न होने वाली वह अमोघ विद्या है जो विद्याधरों को भी अप्राप्य है। स्वानुभव ही वह अमृतमयी रसायन है जिसके पीने से सहजानन्द का लाभ होकर आत्मा परम पौष्टिकपने को प्राप्त होता है।

धन्य है स्वानुभव ! तू ही भव सिन्धु से पार करने वाला वह अद्भुत एवं दृढ़ जहाज है जो शिव द्वीप में पहुँचा देता है। तू ही वह ध्यान की ज्वाला है जो आत्मारूपी सुवर्ण को अवश्य शुद्ध कर देती है। तू ही परम देव है, जो तेरी शरण लेता है, वह सदा ही सन्तोषकारक आत्मानन्द का भोग करता है।

फिर सहजानन्द का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि सहजानन्द के लिए हर एक बुद्धिमान प्राणी को अपनी आत्मा की ही गोद में खेलना चाहिए, उसी से उत्पन्न आनन्दामृत का भोजन करना चाहिए, उसी की यथार्थ गुणावली की माला की सुगन्ध लेनी चाहिए, उसी का ही पवित्र दर्शन करना चाहिए, उसी के द्वारा होने वाला शुद्धभावरूपी शब्द, ज्ञान के कर्णों से सुनना चाहिए। आत्मा ही के द्रव्य व गुणों का मनन करना चाहिए, उसे ही अपना सर्वस्व मानकर उस आत्मदेव की वेदी पर अपने सर्व अहंकार व ममकार की बलि चढ़ा देनी चाहिए अर्थात् अपने आपको न्यौछावर कर देना चाहिए।

सहजानन्द का पता पाने वाला महात्मा अपने आत्मारूपी कूप पर जाता है। ध्यान की रस्सी में उपयोगरूपी लोटे को बाँधकर वह सहजानन्द के जल को खींचता है तथा उसे शुद्ध निश्चयनय के छलने से छानकर निर्मल उपयोगरूपी कटोरे में चरता है और निर्मल सहजानन्द को पीकर परम सन्तोष को पाता है।

अथवा सहजानन्द को भांग की भी उपमा दी जा सकती है। जिसमें अपूर्व नशा है। ज्ञानी सहजानन्दी भांग को पीकर स्वानुभव के नशे में चूर होकर शिवनारी को वर लेता है। वही सच्चा मोक्ष रूपी स्त्री का भक्त है। वही साधक है, वही यति है, वही मुनि है, वही अनगार है, वही श्रावक है, वही ऐलक है, वही क्षुल्लक है, वही ब्रह्मचारी है, वही महाव्रती है, वही अणुव्रती है, वही सम्यग्दृष्टि है, वही जिनभक्त जैनी है और वही जगदम्बा जिनवाणी देवी का भक्त है।

हे सजानन्द ! तू धन्य है। तू ही अनादिकाल की इन्द्रिय सुख की तृष्णा

को बुझा देता है, राग-द्वेष-मोह की उपाधियों को हटा देता है, कर्मबन्ध के कारणों का शमन कर देता है और तत्त्वज्ञानी को मोक्ष का-सा लाभ इसी जीवन में प्रदान करता है। तू ही अमृतमयी समुद्र है। तू मेरे भीतर सदा प्रवाहित रहो, मैं तुझमें ही गोते लगाकर परम सुखी होऊँगा।

उज्जैन से श्री विमलचंदजी झांझरी साहिब ने हमें ब्र. श्री शीतलप्रसादजी की रचित 'निश्चयधर्म का मनन' पुस्तक की एक प्रति भेजी थी जो कि उन्होंने छपवाई थी, जिसे देखकर ब्र. जी की यह 'सहजानन्द सोपान' पुस्तक जो कि हमारे पास थी, हमने उन्हें भेज दी थी, इसको उत्तम जानकर उनका भाव इसे छपवाने का बना, तो उन्होंने उस पुस्तक की फोटोकॉपी कराकर शुद्धि के लिए हमारे पास भेज दी थी। हमने उसमें कुछ पूर्ण विराम, अल्प विराम और व्याकरण एवं शब्दों की अशुद्धियाँ ठीक कीं, सारी पुस्तक में पैराग्राफ बनाए, मुख्य अंशों को बोल्ट किया और पूरे के पूरे जो निबन्ध सुन्दर, अति सुन्दर, मुख्य एवं अति मुख्य थे, उन्हें छाँटकर उनके इस पुस्तक की कुछ प्रतियाँ वे अपनी ट्रस्ट की ओर से और कुछ प्रतियाँ जैन महिला शास्त्र सभा, दरियागंज, देहली की ओर से छपवा रहे हैं। जिसके लिए उन्हें धन्यवाद है।

इति अवं

बाल ब्र. कु० कुन्दलता, M.A., L.L.B.

एवं कु० आभा जैन, M.Sc., B.Ed.

शीर्षक के पास ब्रैकेट में इंगलिश में नाईस (Nice),
वैरी नाईस (V. nice), इम्पोर्टैन्ट (Imp.) एवं
वैरी इम्पोर्टैन्ट (V. Imp.)लिखा है।

॥ भूमिका ॥

इस जगत में मानव सबसे श्रेष्ठ प्राणी है। इसमें मन की बढ़िया शक्ति होती है। विचार करने की और तर्क करने की अच्छी योग्यता होती है इसलिए हर एक मानव को यह विचार करने की जरूरत है कि किस तरह वह अपने जीवन को अपने जीवन के समय को उत्तम प्रकार से व्यतीत करे। आकुलित, क्षोभित व चिन्तातुर जीवन अशुभ है तथा निराकुल, शान्त व चिन्तारहित जीवन शुभ है, इसमें मतभेद नहीं है। जगत के प्रायः सभी प्राणी इन्द्रियों के विषयभोगों में ही सुख मानते हैं और जन्म से मरणपर्यन्त इसी सुख के लिए अपनी शक्ति के अनुसार उद्यम किया करते हैं तथापि इस सुख से निराकुल, शान्त एवं चिन्तारहित नहीं हो पाते हैं।

क्योंकि इन्द्रियों के विषय भोगों में इच्छा या तृष्णा की दाह बढ़ाने का प्रसिद्ध दोष है। अतः जितना-जितना इन्द्रिय-विषयों का भोग किया जाता है उतनी-उतनी विषयभोग की तृष्णा बढ़ती जाती है। तृष्णा से नवीन-नवीन विषयों के पदार्थों को चाहता है व उनके लिए उद्यम करता है। उद्यम करने पर भी जब वे प्राप्त नहीं होते हैं तब बहुत कष्ट पाता है। यदि कदाचित् प्राप्त किए हुए इच्छित विषय बिगड़ जाते हैं व उनका वियोग हो जाता है तो महान दुःख होता है। इस तरह इन्द्रियों के द्वारा सुख की मान्यता सत्य नहीं है।

सुख उसे ही कह सकते हैं जो निराकुलता देवे, शान्ति प्रदान करे व चिन्ताओं को मिटावे। यह सुख आत्मिक सहज सुख है। आत्मा का स्वभाव सुख है। इस सुख के लाभ से बड़ी शान्ति मिलती है। यह सुख ऐसा बढ़िया है कि चक्रवर्ती व इन्द्र का सुख भी इसके सामने कुछ नहीं

है। यह सुख स्वाधीन है, अपनी ही आत्मा के पास है और जब चाहे तब भोगा जा सकता है। इसके लिए परपदार्थों की आवश्यकता नहीं है। इस सुख में कोई बाधा या विघ्न भी नहीं आते हैं। यह सुख अविनाशी है। यह सुख समताभाव से पूर्ण है। यह सुख भोग आत्मा की निर्मलता का कारण है जबकि इन्द्रियों के द्वारा होने वाला सुख पराधीन है, अपना शरीर ठीक रहने पर व इच्छित पदार्थों के मिलने पर ही भोगा जा सकता है, उस सुख के भोग में बाधा व विघ्न आ जाते हैं, अपना शरीर अस्वस्थ होने पर व प्राप्त चेतन व अचेतन वस्तु के भीतर बिगाड़ आने पर या न मिलने पर भोगने में नहीं आता है। इन्द्रियसुख एक दिन नाश होने वाला है, अपना शरीर छूटने पर व जिस पदार्थ के आश्रय इन्द्रियसुख था उसके सर्वथा वियोग होने पर छूट जाता है। इन्द्रियसुख बिना तीव्र रागभाव के भोगा नहीं जाता है अतएव इस भोग में आत्मा के कर्मों का बन्ध होता है जिससे आत्मा मलिन हो जाता है। इन्द्रियों के सुख भोग में समताभाव नहीं रहता है किन्तु आकुलता व क्षोभ व चित्त में विकार सदा बना रहता है।

यदि कोई मानव इन्द्रियों के सुखों को ही सुख मानके इस ही सुख में जीवनयात्रा पूर्ण करना चाहे तो वह मरण के समय निराश, तृषातुर व आकुलित होकर ही मरेगा क्योंकि वह चाह की दाह का शमन नहीं कर सकेगा तथा इष्टवियोग के दुःख से अतिशय पीड़ित होगा। इसलिए हर एक बुद्धिमान मानव का कर्तव्य है कि वह सच्चे सुख को पहचान कर उस पर श्रद्धा लावे व सच्चे सुख की प्राप्ति के उपाय को जान लेवे।

सच्चे सुख का लाभ हो जाने पर मानव के भीतर से यह श्रद्धा बदल जायेगी कि इन्द्रियसुख सच्चा सुख है। उसको यह श्रद्धा हो जायेगी कि सच्चा सुख आत्मा का सहज स्वभावमयी सहज सुख है जबकि इन्द्रियसुख सुखाभास है, वास्तव में दुःखरूप है। इस श्रद्धा के होने का फल यह होगा कि वह इन्द्रिय सुखों के पीछे अन्धा न होगा तथा जब तक पूर्व में बाँधे हुए मोहनीय कर्म के उदय से विषयों की वांछा नहीं मिटेगी तब तक

इन्द्रियों के भोग भोगेगा परन्तु सन्तोषपूर्वक भोगेगा, हेयबुद्धि से भोगेगा, कड़वी औषधि पीने के समान भोगेगा, लाचारी से भोगेगा और उसमें भी भावना यह रखेगा कि कब वह दिन आ जावे जब विषय वांछा का रोग न पैदा हो व उसके लिए विषयभोग का इलाज न करना पड़े। यद्यपि यह उपाय विषय वांछा के रोग के शमन का सच्चा उपाय नहीं है तथापि चिरकाल की वासना व आदत से लाचार होकर इस मोहग्रसित मानव को इन्द्रियभोग का उपाय करना पड़ता है।

उदासीन भाव से अश्रद्धापूर्वक भोगा हुआ इन्द्रियभोग का सुख तृष्णा की ज्वाला को नहीं बढ़ावेगा तथा जितना-जितना अधिक आत्मिक सहज सुख का लाभ होता जायेगा उतना-उतना यह इन्द्रियभोगों से विरक्त होता जायेगा। आत्मिक सहज सुख के भोग के प्रताप से वह चारित्र मोहनीय कर्म निर्बल पड़ेगा जो विषयभोगों की इच्छा को उत्पन्न करता है। जब दीर्घकाल के अभ्यास से चारित्र मोहनीय कर्म बहुत ही निर्बल हो जायेगा तब यह इन्द्रियसुख से बिल्कुल विरक्त होकर इन्द्रियसुख का भोग नहीं करेगा और एक साधु पुरुष का बड़ा पवित्र जीवन व्यतीत करेगा।

जब तक चारित्र मोह का ऐसा क्षयोपशम न हो कि विषयभोग की इच्छा बिल्कुल पैदा न हो तब तक गृहस्थ जीवन बिताना ही उत्तम है जिस जीवन में रहते हुए बुद्धिमान मानव आत्मिक सुख का लाभ भी करता रहे और इन्द्रिय भोग की चाह को शमन करने के लिए पूर्ववासित वासना से न्यायपूर्वक उचित इन्द्रिय भोग भी करता रहे, ऐसा गृहस्थ जीवन बहुत अंशों में निराकुल जीवन हो सकेगा क्योंकि यह सच्ची श्रद्धा को रखने वाला है। इसका गाढ़ प्रेम, इसका दृढ़ विश्वास आत्मिक सहज सुख पर है। यह इन्द्रिय सुख को सुखाभास, आकुलतारूप, पराधीन, तृष्णावर्द्धक व त्यागने योग्य समझ चुका है।

केवल पूर्व बाँधे हुए मोहकर्म के उदय के बल को अपने आत्मवीर्य की कमी से न रोक सकने के कारण यह गृहस्थ विषय भोगों में प्रवर्तन

करेगा। इसका वर्तन न्याययुक्त व उचित होगा, यह अन्याय से बचेगा, अन्याय से धनादि सामग्री को एकत्रित नहीं करेगा। किसी को सताकर, असत्य भाषण कर, चोरी करके व अन्य किसी भी प्रकार से दूसरे को कष्ट देकर अपना स्वार्थ सिद्ध न करेगा। यह गृहस्थ विचारवान होगा और जीवन के समय को सफल करेगा।

हर एक मानव में विश्वप्रेम व करुणाभाव होना ही चाहिए। मानव सबसे बड़ा प्राणी है। बड़ा वही हो सकता है जो सर्व से प्रेम करे व सर्व की मदद करे और जो दुःखित हों उन पर दयाभाव करके उनके कष्ट का अवश्य निवारण करे। जो यह समझे कि जैसे मैं भूख-प्यास मिटाना चाहता हूँ, निरोगी रहना चाहता हूँ, विद्वान व जानकार होना चाहता हूँ, निर्भय व शरणभूत रहना चाहता हूँ वैसे सभी प्राणी भूख-प्यास मिटाना चाहते हैं, निरोगी रहना चाहते हैं, ज्ञानी होना उनके जीवन को सफल करने वाला है ऐसा जानते हैं, सब ही प्राणों की रक्षा व निर्भयभाव चाहते हैं - ऐसा समझकर हर एक मानव का कर्तव्य है कि अपनी शक्तियों का उपयोग आहार, औषधि, विद्या तथा अभयदान देकर विश्व की सेवा में करे।

जो मानव सहज आत्मिक सुख की श्रद्धा रखता हुआ, उसका स्वाद लेता हुआ, विश्वप्रेमी होता हुआ, करुणा के जल को अपने भीतर बहाता हुआ, शक्ति के अनुसार विश्व की सेवा में अपनी सर्व शक्तियों का उपयोग करता हुआ व गृहस्थ में रहकर न्याय व सन्तोषपूर्वक इन्द्रियों को तृप्त करता हुआ रहेगा वही मानव आदर्श प्रवृत्ति मार्ग का जीवन बितायेगा। अतएव इस बात की आवश्यकता हर एक मानव को है कि वह सच्चे सहज सुख का उपाय समझ जावे। सच्चा सुख हर एक आत्मा का निजस्वरूप है, स्वभाव है इसलिए आत्मा के सच्चे स्वभाव को जानने की आवश्यकता है।

यदि बुद्धि बल से विचार किया जावे तो यह आत्मा हर एक की

प्रत्यक्ष प्रतीति में आ सकती है। जानने का काम जो करती है वही आत्मा है। जो जानने की क्रिया नहीं कर सकती है वही अनात्मा है। एक जीवित मानव में और मृतक मानव में यही अन्तर है। जीवित मानव स्पर्श द्वारा छूकर, रसना से चखकर, नाक से सूँघकर, आँख से देखकर, कान से सुनकर और मन से विचार करके पदार्थों को जान सकता है जबकि मृतक मानव इन्द्रियों का आकार रखते हुए भी इन्द्रियों से कुछ भी नहीं जान सकता है क्योंकि मृतक शरीर के भीतर से जानने वाला आत्मा निकल गया है, वहाँ केवल जड़ पुद्गल स्कन्धों का संग्रह शरीर पड़ा रह गया है जो सूखी मिट्टी के समान अचेतन है।

चेतना गुण या ज्ञानोपयोग ही वह लक्षण है जिससे लक्ष्य आत्मा की प्रतीति हर एक मानव को हो सकती है। बालगोपाल सबको यह प्रगट है, यह अनुभव है कि मैं जानने वाला हूँ। जिसको यह अनुभव है वही आत्मा है, जिसको यह अनुभव नहीं है वह आत्मा नहीं है, अनात्मा है, जड़ है। आत्मा के बिना शरीर के अङ्ग-उपाङ्ग व इन्द्रियों के आकार न तो कुछ जान सकते हैं और न ही यह अनुभव कर सकते हैं कि हम जानते हैं। अतएव न मैं शरीर हूँ, न मैं शरीर के अङ्ग-उपाङ्ग हूँ, न मैं इन्द्रियाँ हूँ। मैं तो जानने वाला पदार्थ शरीर व शरीर के सर्व अवयवों से भिन्न हूँ।

मैं जन्मा, मैं मरा, मैं भूखा, मैं प्यासा, मैं रोगी, मैं बलवान आदि वाक्य व्यवहार में भले ही ठीक मान लिए जावें परन्तु निश्चय से ये वाक्य असत्य हैं क्योंकि मैं तो आत्मा हूँ। आत्मा का माता-पिता से न जन्म है, न मरण है, न यह भूखा होता है, न प्यासा होता है, न यह रोगी होता है, न यह शारीरिक बलधारी है। शरीर ही जन्मता है, शरीर ही मरता है, शरीर भूखा-प्यासा होता है, शरीर रोगी व बलवान होता है, शरीर की अवस्था को लोकव्यवहार में अपनी अवस्था कहने का रिवाज है परन्तु सच्ची बात यह है कि वे सब शरीर की अवस्थाएँ हैं, आत्मा की नहीं हैं।

आत्मा का मुख्य काम तो जानने का है। यह शरीर का मोही हो रहा है इसलिए शरीर की अवस्था को अपनी जानता है व कहता है परन्तु आत्मा का स्वभाव ज्ञानस्वरूप है, जानने का है। जो आत्मा नहीं है उसका स्वभाव अज्ञान स्वरूप है, कुछ नहीं जानने का है। यह विवेक एक मानव को होना ही चाहिए। इसी विवेक से अपना आत्मा अलग प्रतीति में आता है।

‘आत्मा में ज्ञान गुण कितना है’ इस प्रश्न पर विचार किया जावे तो कहना होगा कि आत्मा में पूर्ण ज्ञान गुण है। जो कुछ भी जानने योग्य है उसको जो जान सके उसे ही ज्ञान कह सकते हैं। दर्पण की स्वच्छता तब ही यथार्थ है जब वह दर्पण अपने सामने के सब ही पदार्थों को ठीक-ठीक झलका सके। सूर्य का प्रकाश तब ही पूर्ण होगा जब वह अपने मर्यादित क्षेत्र के भीतर सबका प्रकाश कर सके। यदि दर्पण में कुछ मलिनता होगी तो वह पदार्थों को ठीक-ठीक नहीं बतलावेगा। यदि सूर्य के ऊपर बादलों का पर्दा होगा तब वह अपने प्रकाश को ठीक नहीं कर सकेगा।

इसी तरह आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान में सर्व जानने योग्य पदार्थों को जानने की शक्ति है। संसारी आत्माएँ जो कुछ कम जानती हैं उसका कारण उनके ज्ञान के ऊपर ज्ञान को रोकने वाले कर्म अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के पर्दे का होना है। ज्ञान हर एक आत्मा में पूर्ण न हो तो ज्ञान का विकास न हो। ज्ञान की वृद्धि होने का, उन्नति होने का कारण यही है कि ज्ञानावरण कर्म के पर्दे के हटने से ज्ञान की शक्ति जितनी-जितनी प्रगट होती है, उतना-उतना ही ज्ञान बढ़ता है या उन्नति करता है। ज्ञान कहीं बाहर से नहीं आता है।

ज्ञानवान समझाते हैं, शास्त्र पढ़े जाते हैं, इनके द्वारा अपना ही ज्ञान बढ़ता है। दूसरे का ज्ञान अपने में आवे तो दूसरे का ज्ञान घट जावे सो ऐसा कभी नहीं होता। हजारों शिष्यों को पढ़ाने पर भी अध्यापक का ज्ञान

कभी कम नहीं होता है किन्तु अधिक स्पष्ट व उन्नति रूप ही होता है। ज्ञान कितना विकास करेगा इसकी कोई सीमा नहीं है। जितना-जितना अधिक भीतर प्रवेश किया जायेगा उतना-उतना ज्ञान झलकता जायेगा। जब ज्ञान का सर्व आवरण हट जायेगा तब पूर्ण ज्ञान का प्रकाश चमक जायेगा, इससे आत्मा को स्वभाव से सर्वज्ञ, सर्वदर्शी मानना ही चाहिए।

फिर यह आत्मा स्वभाव से परम शान्त व वीतराग है। क्रोध, मान, माया, लोभादि औपाधिक भाव इस आत्मा का स्वभाव नहीं है क्योंकि ये सर्व मलिन भाव हैं और ज्ञान को मन्द करने वाले हैं। क्रोधादि की तीव्रता में ज्ञान भली प्रकार से वस्तुओं का स्वरूप नहीं जान सकता। एक छात्र क्रोधाविष्ट हो, मानी हो, मायाचार के भाव से ग्रसित हो और लोभाक्रान्त हो तो वह अध्यापक के समझाए हुए पाठ को नहीं समझ सकेगा। जो छात्र शान्त, विनयवान, सरल व सन्तोषी होगा वह बहुत शीघ्र पाठ को समझ जायेगा। यह बात बिल्कुल प्रगट है। इससे सिद्ध है कि शान्तभाव ही आत्मा का स्वभाव है।

फिर ये क्रोधादिक भाव क्यों होते हैं ? इसका कारण आत्मा के साथ मिला हुआ एक प्रकार का मोहनीय कर्म है जो मदिरा के समान मादक शक्ति रखता है, उसके विपाक से यह शान्त भाव के स्थान में क्षोभित व अशान्त हो जाता है। जैसे पानी स्वभाव से शान्त है परन्तु अग्नि के द्वारा सम्मिलित होने पर ओंटेने लगता है, खौलने लगता है, अति गर्म पानी हाथ-पैरों को जला देता है। विचार कर देखा जाये तो पानी का स्वभाव जलाने का नहीं है। पानी के साथ जो अग्नि का संयोग हुआ है इससे वह अग्नि का ही काम है। इसी तरह क्रोध, मान, माया, लोभ की कलुषता आत्मा में मोहनीय कर्म के सम्पर्क से झलकती है परन्तु यह आत्मा की नहीं है, मोहनीय कर्म की ही है। आत्मा स्वभाव से पानी के समान परम शान्त व वीतराग है।

इसी तरह यह आत्मा परमानन्दस्वरूप है, सहजानन्दस्वरूप है। जब

कोई आत्मा निर्विकारी हो, क्रोधादि से तमतमाया हुआ न हो, शान्त हो तब वह भीतर सुख मालूम करता है। इसका कारण यही है कि जहाँ निर्मल ज्ञान है वहीं शान्ति है, वहीं सुख है। ये तीनों ही आत्मा के गुण हैं, इनको ज्ञान, चारित्र्य व सुख गुण कहते हैं। इस सुख को मलिन करनेवाला भी अज्ञान व मोह है। अज्ञान व मोह का पर्दा जब बिल्कुल हट जाता है तब यह आत्मा जैसे सर्वज्ञ होता है वैसे ही अनन्त सुखी हो जाता है। यदि आत्मा में ज्ञानगुण न होता तो अज्ञान नहीं झलकता। शान्त गुण न होता तो अशान्त भाव नहीं झलकता। इसी तरह यदि सुख गुण नहीं होता तो सांसारिक सुख व दुःखों का प्रकाश नहीं होता। कुछ प्रसन्न भाव होने पर सुख और कुछ संक्लेश भाव होने पर दुःख प्रगट होता है - यह मोहकर्म की विचित्रता है। यदि कोई मानव मोह को बिल्कुल छोड़ दे तो वह अपने को सहजानन्दी अनुभव करेगा। यह भी प्रगट है कि परोपकार करते हुए अथवा दान करते हुए, जितना-जितना स्वार्थ का त्याग किया जाता है उतना-उतना भीतर से सुख झलकता है। दानी व परोपकारी को सुख की कामना न होते हुए भी सुख अनुभव में आता है। यह सुख मोह की कमी का प्रभाव है।

यह आत्मा स्वभाव से पूर्ण सुखी है। इसमें बल भी अनन्त है। आत्मा के भीतर वीर्य न होता तो शरीर, वचन, मन व इन्द्रियों के द्वारा कुछ भी काम नहीं होता। जब आत्मा शरीर से निकल जाता है तब शरीर गिर जाता है, बेकाम हो जाता है। आत्मबल के रहते हुए ही शरीर बल काम दे सकता है। जितनी भी मन, वचन, काय की क्रियाएँ हैं वे केवल आत्मा की प्रेरणा से होती हैं। जिसका आत्मबल विशेष होता है, जो अधिक सहनशील होता है, उत्साही होता है, वह शरीर बल में कम होने पर भी, आत्मबल में तुच्छ किन्तु अधिक शरीर बलधारी को कुशती में, दौड़ में जीत लेता है। आत्म बलधारी ही विशेष साहसी होता है, पुरुषार्थी होता है। इसको रोकनेवाला अन्तराय कर्म है।

मोह के साथ अन्तराय कर्म आत्मवीर्य को ढके हुए है। जितना-जितना मोह हटता है, अन्तराय कर्म हटता है उतना-उतना आत्मवीर्य प्रगट होता है। योगाभ्यासी निर्मोही का ऐसा अद्भुत आत्मवीर्य प्रगट हो जाता है जिससे अनेक चमत्कारिक बातें की जा सकती हैं। सब ऋद्धियाँ व सिद्धियाँ आत्मवीर्य के प्रकाश से प्रगट हो जाती हैं। आत्मबली किसी भी काम को लगातार बिना खाये-पिये करता चला जाएगा, एक, दो, चार, पाँच, छह, दस, बीस उपवास कर लेगा, कष्टों के पड़ने पर घबराएगा नहीं - ये सब बातें प्रत्यक्ष प्रगट हैं। यह आत्मा स्वभाव से जैसे सर्वज्ञ है, परम शान्त है, परम सुखी है वैसे यह अनन्तवीर्यधारी है। फिर यह आत्मा अमूर्तिक है, किसी प्रकार का वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श इसमें नहीं है, इसी से यह इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता है। यह एक स्वतन्त्र स्वयं सिद्ध पदार्थ है। जड़ मूर्तिक से इसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जैसा मूल कारण होता है वैसा कार्य होता है।

जिस तरह मिट्टी से मिट्टी के, सुवर्ण से सोने के, चाँदी से चाँदी के बर्तन बन सकते हैं, गेहूँ से गेहूँ की, चने से चने की, जौ से जौ की रोटी तैयार होती है उसी तरह जड़-मूर्तिक से जड़-मूर्तिक ही तैयार होगा, जड़ से कभी चेतन नहीं बन सकता है। जड़ और चेतन दोनों ही मूर्तिक और अमूर्तिक पदार्थ हैं। जड़ और चेतन या पुद्गल और आत्मा अनादि-अनन्त अविनाशी हैं। हर एक कार्य कारण के बिना नहीं होता है। मूल कारण ही कार्यरूप हो जाता है। जब पहली अवस्था कारण है तब आगे की अवस्था कार्य है। गेहूँ कारण है, आटा कार्य है। आटा कारण है, रोटी कार्य है। रोटी कारण है, रुधिर व मलादि बनना कार्य है। रुधिर कारण है, वीर्य कार्य है। वीर्य कारण है, गर्भस्थिति कार्य है।

जड़ परमाणुओं के मिलने से नाना प्रकार के स्कन्ध बनते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु रूपी सूक्ष्म व स्थूल स्कन्धों के मूल कारण परमाणु हैं। कार्माण शरीर जिसके द्वारा अज्ञान, मोह, सांसारिक सुख-दुःख व निर्मलता

होती है वह भी एक जाति का सूक्ष्म स्कन्ध है जो परमाणुओं से बना है। जड़ परमाणु व स्कन्धों में परिणमन करने की, बदलने की और एक अवस्था से अन्य अवस्थारूप होने की शक्ति है इसलिए ही जगत में नाना प्रकार के फूल, फल, पत्ते, कंकड़, पत्थर, रत्नादि हैं और मेघ, जलवृष्टि, आग, दीपक, पवन, तूफान, रज आदि दिखलायी पड़ते हैं। एक आम का बीज पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के सम्पर्क से फलकर एक महान आम का वृक्ष हो जाता है जिसमें अनेक आमरूप फल पक जाते हैं। यह सब परिवर्तन व परिणमन जड़ परमाणुओं की ही शक्ति का है। जैसे जड़ परमाणुओं में परिणमन शक्ति है वैसे ही इस आत्मा में परिणमन शक्ति है। ज्ञानमयी क्रिया का कर्ता आत्मा है। ज्ञान का बढ़ना, शान्ति का व सुख का बढ़ना, वीर्य का प्रगट होना या ज्ञान का घटना, शान्ति सुख का घटना व वीर्य का कम होना - यह सब तब ही सम्भव है जब आत्मा में परिणमन शक्ति हो। उन्नति व अवनति तभी सम्भव है जब परिणमन शक्ति हो। साधन से आत्मा का विकास होना व आत्मा की ज्ञानानन्द शक्ति का प्रकाश होना तब ही सम्भव है जब परिणमन शक्ति हो। कूटस्थ नित्य जड़ से व कूटस्थ नित्य चेतनात्मा से कोई भी कार्य नहीं हो सकता है। कार्य करनेवाले तो दोनों ही दिखलायी पड़ते हैं। इसलिए यह आत्मा भी परिणमनशील है और जड़ भी परिणमनशील है तो भी मूल वस्तुरूप से नित्य हैं।

जैसे जड़ परमाणु नाना स्कन्धरूप कार्यों में परिणमन करते हुए भी कभी नष्ट नहीं होते हैं वैसे आत्मा भी संसार में नाना प्रकार की ज्ञानादि की क्रिया को करता हुआ भी व एक जन्म से दूसरे जन्म में जाता हुआ भी कभी नष्ट नहीं होता है। किसी में यह शक्ति नहीं है जो जगत की, किसी भी वस्तु का अभाव या सर्वथा लोप कर सके। कोई भी काम किसी के द्वारा ही होता है। हर एक काम करते हुए पिछली अवस्था बिगड़ती है, नयी अवस्था पैदा होती है तथापि मूल द्रव्य बना रहता है।

गोरस से मलाई बनी, पहली अवस्था बिगड़ी मलाई बनी, गोरस का नाश नहीं हुआ। सुवर्ण से कुण्डल, कुण्डल तोड़के कंकण, कंकण तोड़के कण्ठी, कण्ठी तोड़के भुजदण्ड, भुजदण्ड तोड़के हार बनाया पर सर्व ही अवस्था में सुवर्ण बना हुआ है। मकान बन जाता है क्योंकि ईंट, चूना, पत्थर, लकड़ी सब मिल जाते हैं। मकान गिर पड़ता है तब ईंट, चूना, पत्थर, लकड़ी सब अलग-अलग हो जाते हैं।

यह जगत परिवर्तनशील होने की अपेक्षा अनित्य है, क्षणिक है परन्तु मूल पदार्थों की अपेक्षा जिनमें परिवर्तन होता है उनकी अपेक्षा यह जगत नित्य है। यह जगत नित्य-अनित्य स्वरूप है क्योंकि जगत का हर एक पदार्थ नित्य-अनित्य स्वरूप है। आत्मा भी मूल स्वभाव से नित्य है परन्तु परिणमन शक्ति रखने की अपेक्षा अनित्य है। यदि यह कूटस्थ नित्य हो तो इसमें उन्नति व अवनति न हो, एक सा ही बना रहे। यदि यह अनित्य व क्षणिक हो तो दूसरे ही क्षण इसका नाश हो जावे। देखा जाता है कि एक बालक विद्या पढ़के युवान होता है। यद्यपि उसके ज्ञान में बहुत उन्नति हुई है तथापि ज्ञान का धारी आत्मा वही है जो बालक में था। संसार व मोक्ष की अवस्था तब ही बन सकती है जब आत्मा नित्य बना रहे तथापि परिणमन करने वाला हो। यह प्रत्यक्ष प्रगट वस्तु का स्वभाव जैसे मूर्तिक जड़ में झलकता है, वैसे ही अमूर्तिक आत्मा में झलकता है।

द्रव्य का स्वभाव सत् है अर्थात् जो सर्वदा बना रहे। सत् का स्वभाव है कि वह उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप हो अर्थात् मूल स्वभाव की अपेक्षा ध्रुव हो, नित्य हो तथापि पहली अवस्था का नाश होते हुए नयी अवस्था का जन्म हो अर्थात् वस्तु नित्य होते हुए भी परिणमनशील है वा अनित्य है। जितने अशुद्ध द्रव्य जगत में हैं जैसे अशुद्ध आत्माएँ या पुद्गल के स्थूल स्कन्ध - उनमें यह बात प्रत्यक्ष देखने में आती है। शुद्ध आत्माओं में व सूक्ष्म स्कन्धों में भी इसी तरह अनुमान कर लेना चाहिए। कूटस्थ नित्य पदार्थ बिल्कुल बेकार व अनुपयोगी होगा। शुद्ध आत्माओं में पर पदार्थ

का सम्बन्ध न होने से कोई अशुद्ध परिणमन नहीं होता है, किन्तु जैसे शुद्ध निर्मल जल में जो कल्लोलें उठती हैं वे सब निर्मल ही होती हैं वैसे शुद्धात्माओं में जो कुछ परिणमन होता है वह सब शुद्धरूप ही होता है। वस्तु का स्वभाव यही है।

आत्मा की सत्ता भिन्न-भिन्न है या सर्व आत्माएँ एक ही हैं - इस बात को विचारते हुए बुद्धि कहती है कि हर एक आत्मा की सत्ता अलग-अलग है। एक ही काल में कोई अज्ञानी-कोई ज्ञानी, कोई जीवित-कोई मृत, कोई क्रोधी-कोई शान्त, कोई दुःखी-कोई सुखी, कोई रोगी-कोई निरोगी, कोई निद्रित-कोई जागृत, कोई मूर्ख-कोई विद्वान, कोई दाता-कोई पात्र, कोई पूज्य-कोई पूजक, कोई माता-कोई स्त्री, कोई मानव-कोई पशु, कोई पापी-कोई पुण्यात्मा, कोई अधर्मी-कोई धर्मात्मा, कोई बोलनेवाले-कोई मौन और कोई ध्यानी-कोई भोगी दिखलायी पड़ते हैं। सर्व का ज्ञान, सर्व का अनुभव, सर्व का सुख, सर्व का दुःख भिन्न-भिन्न है। एक समान क्रिया करते हुए भी अनेकों के अनेक रूप भाव होते हैं। सब अपने भावों के आप ही स्वामी हैं।

एक आत्मा के शुद्ध होते हुए दूसरा शुद्ध नहीं होता है इसलिए अनुभव यही बताता है कि हर एक आत्मा की सत्ता भिन्न-भिन्न है। जैसे एक स्थान में एक लाख गेहूँ के दाने रखे हों, वे गेहूँ की जाति की अपेक्षा समान होने पर भी हर एक गेहूँ का दाना दूसरे से अलग है, इसी तरह सब आत्माएँ स्वभाव से परस्पर एक जाति की व समान होने पर भी हर एक की सत्ता निराली है। वे एक अमूर्तिक शुद्ध ब्रह्म की न तो अंश हो सकती हैं-न ही अशुद्ध हो सकती हैं।

आत्मा अनेक गुणों का समुदाय होकर भी एक अखण्ड व अभिन्न पदार्थ है अर्थात् यह अमिट व अखण्ड समुदाय की अपेक्षा एक है परन्तु अनेक गुणों की अपेक्षा अनेक है। हर एक गुण आत्मा में सर्वाङ्ग व्यापक है इसलिए यद्यपि वह ज्ञान की अपेक्षा ज्ञानस्वरूप है, शान्ति की अपेक्षा

शान्तिस्वरूप है और आनन्द की अपेक्षा आनन्दस्वरूप है, तथापि क्योंकि वह इनका पिण्ड है इससे एक स्वरूप है। जैसे एक आम का फल एक है तो भी वर्ण गुण की अपेक्षा हरा है, गन्ध की अपेक्षा सुगन्धित है, रस की अपेक्षा मीठा है, स्पर्श की अपेक्षा चिकना है।

वस्तु में एक साथ अनेक गुण होते हुए भी व उनका काम या परिणमन एक साथ होते हुए भी हम अपने मुख से एक साथ उनका वर्णन नहीं कर सकते। हमको एक के पीछे ही दूसरा कहना पड़ेगा। शब्दों में ऐसी शक्ति नहीं है कि वे उन अनेक गुणों को या अवस्थाओं को जो एक साथ हो रही हैं एक साथ कह सकें। यद्यपि ज्ञान में यह शक्ति है कि वह उन सर्व को एक साथ जान सकता है इसलिए वस्तु किसी अपेक्षा अवक्तव्य है, किसी अपेक्षा वक्तव्य है। क्रम से कहे जाने की अपेक्षा वक्तव्य है और एक साथ कहे जाने की अपेक्षा अवक्तव्य है। इस तरह वस्तु के स्वभाव को दूसरों को समझाने के लिए अपेक्षावाद का शरण ग्रहण करना पड़ता है इसी को **स्याद्वाद** कहते हैं। स्यात् का अर्थ है किसी अपेक्षा से और वाद का अर्थ है कहना। आत्मा स्यात् नित्य है, स्यात् अनित्य है, स्यात् भावरूप है, स्यात् अभावरूप है; स्यात् एक है, स्यात् अनेक है, स्यात् वक्तव्य है, स्यात् अवक्तव्य है। यह ज्ञान हमको होना चाहिए। स्वभाव की अपेक्षा नित्य है, परिणमन की अपेक्षा अनित्य है। अपनी सत्ता की अपेक्षा भावरूप है, पर की सत्ता आत्मा में नहीं है इससे आत्मा अभाव स्वरूप है। आत्मा एक अखण्ड अमिट द्रव्य है इससे एक है, अनेक गुणों का समुदाय है इससे अनेक है। आत्मा ज्ञान द्वारा अनुभवगोचर है इससे अवक्तव्य है, क्रम-क्रम से समझाया जा सकता है इससे वक्तव्य है।

यह संसारी आत्मा एक ही काल में शुद्ध भी है, अशुद्ध भी है। जैसे गन्दला पानी एक ही काल में निर्मल भी है, मलिन भी है। जब पानी को मिट्टी के संयोग की दृष्टि से देखा जाता है तब यह मलिन दिखता है, जब उसी को उसके मूल स्वभाव की दृष्टि से देखा जाता है तब वह निर्मल

दिखता है। इसी तरह आत्मा को जब कर्मों के मैल से मिश्रित देखा जाता है तब यह अशुद्ध दिखता है। जब इसे मूल स्वभाव की अपेक्षा देखा जाता है तब यह शुद्ध दिखलायी पड़ता है। यदि एक ही बात को मानें तो हमारा पुरुषार्थ निष्फल हो जायेगा। यदि अशुद्ध को सर्वथा अशुद्ध ही रहने वाला मान लें तो वह कभी शुद्ध नहीं हो सकेगा तब प्रयत्न करना व्यर्थ होगा और जो उसे सर्वथा शुद्ध ही मान लें तो भी उपाय बेकार होगा। इस प्रकार अपनी आत्मा को जानना चाहिए कि यह कर्म पुद्गल जड़ स्कन्धों के संयोग से मलिन है, अशुद्ध है, संसारी है, रागी-द्वेषी-मोही है, अज्ञानी है, नाना प्रकार की उपाधियों से ग्रसित है परन्तु मूल स्वभाव से यह शुद्ध है, ज्ञानस्वरूप है, शान्तिस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, अमूर्तिक है, नित्य अविनाशी है तथापि परिणमनशील है।

मेरी आत्मा अन्य आत्माओं से भिन्न है तथा मेरी आत्मा इस समय मेरे ही शरीर भर में व्यापक है। आत्मा में यद्यपि लोकव्यापी होने की शक्ति है तथापि जैसे दीपक का प्रकाश छोटे स्थान में थोड़ा फैलता है, बड़े स्थान में अधिक फैलता है वैसे आत्मा मक्खी के शरीर में मक्खी के आकार जितना व्याप्त है, हाथी के शरीर में हाथी के आकार जितना व्याप्त है। बालक मानव के शरीर में बालक के समान व्याप्त है, युवान में युवान के शरीर प्रमाण व्याप्त है, यह बात प्रत्यक्ष प्रगट है। दुःख-सुख का अनुभव सर्वाङ्ग शरीर में होता है। यदि एक साथ हाथ, पैर, मस्तक, भुजा आदि पर शस्त्रों का प्रहार किया जावे तो सर्वाङ्ग में उनका वेदन होगा और शरीर से दूर प्रहार करने पर नहीं होगा इसलिए आत्मा न तो एक बिन्दु प्रमाण है और न सर्वव्यापी है किन्तु शरीर प्रमाण आकारधारी है।

सहजानन्द व सच्चे सुख के लाभ के लिए उचित है कि हम वहीं इसको खोजें जहाँ यह है। सहज सुख अपनी आत्मा का स्वभाव है, इसलिए पहले यह उचित है कि भेदविज्ञान के द्वारा हम पर पुद्गल से मिले हुए होने पर भी अपनी आत्मा को सर्व प्रकार के पुद्गलों से, आठ

ज्ञानावरणादि कर्मों से, शरीरादि से, रागादि भावों से, आकाश, काल, धर्म, अधर्म द्रव्यों से और अन्य सर्व आत्माओं से भिन्न जानें। इसके एकाकी स्वभाव का, इसके द्रव्य स्वभाव का, शुद्ध स्वभाव का चिन्तन करें।

जैसे जौहरी का शिष्य असत्य रत्न को सत्य रत्न से भिन्न बार-बार विचारता है, रत्न का स्वभाव काँच खण्ड से अलग है ऐसा मनन करता है। एक किसान का पुत्र धान्य के भीतर चावल को भूसी से अलग विचारता है। तेली का पुत्र तिलों में तेल से अलग भूसी का विचार करता है। सुनार सुवर्ण-चाँदी के मिले हुए आभूषण में सुवर्ण को चाँदी से जुदा जानता है। प्रवीण वैद्य एक गुटिका में पड़ी हुई अनेक दवाइयों को अलग-अलग पहिचानता है, उसी तरह तत्त्व खोजी को अपनी आत्मा का भिन्न स्वभाव एकान्त में बैठकर नित्य मनन करना चाहिए। भेदविज्ञान के लिए सवेरे, दोपहर व सांझ को एकान्त में बैठ सामायिक में हर समय अड़तालीस मिनट लगाना चाहिए। यदि थिरता न हो तो कम भी समय तक अभ्यास करे परन्तु एक, दो या तीन समय, जैसा भी सम्भव हो वैसा आत्मा का स्वरूप ध्यान में लेकर पर से भिन्न मनन करना चाहिए। भेदविज्ञान की दृढ़ता के लिए नित्य ये पाँच काम और करने चाहिए:—

(1) शुद्धात्म या परमात्म देव की भक्ति तथा पूजा। उनके शान्त स्वरूप को उनकी ध्यानाकार मूर्तियों के द्वारा देखकर उनका स्तवन व गुणगान और स्वरूप का विचार करना चाहिए। जल-चन्दनादि आठ द्रव्यों के द्वारा ये आठ प्रकार की भावना भानी चाहिए - (1) जन्म, जरा, मरण दूर हो, (2) भवाताप शान्त हो, (3) अक्षय गुण का लाभ हो, (4) कामभाव का विनाश हो, (5) क्षुधा रोग दूर हो, (6) मोह अन्धकार टल जावे, (7) आठों कर्म जल जावें और (8) मोक्षफल प्राप्त हो। यह पूजन भावों में अपने शुद्धस्वरूप के मनन के लिए बहुत उपकारी है, क्योंकि शुद्ध पद ग्रहण करने योग्य है व संसार दशा त्यागने योग्य है - यह भाव प्रतिदिन दर्शन-पूजन करने से दृढ़ होता जाएगा।

(2) ऊपर जो कुछ कथन किया गया है उसका विवेचन जैन शास्त्रों में भली प्रकार है इसलिए जैन शास्त्रों का स्वाध्याय या पठन-पाठन करते रहना चाहिए। व्यवहारनय से आत्मा की अशुद्ध पर्यायों को जानने के लिए श्री उमास्वामी कृत श्री तत्त्वार्थसूत्र, श्री नेमिचन्द्र कृत द्रव्यसंग्रह, पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, गोम्मटसार जीवकाण्ड व कर्मकाण्ड, मूलाचार, भगवती आराधना, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार, तत्त्वार्थसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, त्रिलोकसार, हरिवंशपुराण, आदिपुराण, पद्मपुराण आदि तथा निश्चयनय से आत्मा का द्रव्यस्वरूप जानने के लिए श्री कुन्दकुन्दाचार्य कृत पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, पूज्यपाद कृत समाधिशतक व इष्टोपदेश, योगीन्दुदेव कृत परमात्मप्रकाश, शुभचन्द्र कृत ज्ञानार्णव और अमितगति कृत तत्त्वभावना इत्यादि आध्यात्मिक ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए। घण्टा-आधा घण्टा थिरता से बैठकर दोनों प्रकार के ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए। आगमसेवा मन से विकारों को हटाती है और ज्ञान की निर्मलता कराती है।

(3) श्री निर्ग्रन्थ गुरु महाराज या अन्य विद्वान विरक्त त्यागी या विशेष ज्ञानी श्रद्धावान धर्मात्मा से तत्त्वोपदेश श्रवण करना चाहिए। सुनने से बुद्धि का दोष मिटता है और पदार्थ निर्मलरूप से भासता है। शास्त्रसभा का अवसर मिलाना बहुत आवश्यक है। गुरु से, अनुभवी से प्रश्न करके वस्तुस्वरूप सुनना भेदविज्ञान का प्रबल उपाय है।

(4) दिन-रात संयम सहित में वर्तना चाहिए। समय पर हर एक काम करना चाहिए। समय पर शयन, समय पर जागृत होना, समय पर मल मोचन, समय पर भोजन, समय पर धर्मसेवन, समय पर व्यवहार कार्य, सर्व काम समय के अनुसार उसी तरह करने चाहियें जैसे सूर्य का उदय-अस्त नियमित होता है। जीव-जन्तु की हिंसा रहित शुद्ध खानपान करना चाहिए। शरीर-पौष्टिक सादा आहार करना चाहिए। कोई मादक पदार्थ व गरिष्ठ, अनिष्ट रोगकारक पदार्थ नहीं खाना चाहिए। व्यायाम

करके उत्साही रहना चाहिए, वीर्यरक्षा का या ब्रह्मचर्य का विशेष यत्न रखना चाहिए क्योंकि अनर्थ के कामों से बचना चाहिए इसलिए जुआ, मदिरा, माँस, चोरी, शिकार, वेश्या व परस्त्री—इन सात व्यसनों से बचना चाहिए। अपने भावों के अनुसार इन्द्रियसंयम व प्राणिसंयम की वृद्धि के लिए मुनि का, ऐलक क्षुल्लक का, ब्रह्मचारी का या श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में से किसी का चारित्र पालना चाहिए। संयमी स्त्री-पुरुष ही सहजानन्द को सुगमता से पा सकेगा।

(5) नित्य प्रति दान देकर आहार करना चाहिए। धर्मात्मा पात्रों को भक्तिपूर्वक व दुःखितों को दयापूर्वक दान देना चाहिए। परोपकार वृत्ति रखकर आहार, औषधि, अभय व ज्ञानदान करना चाहिए। गृहस्थी को अपना धन चारों दानों के प्रचार में लगाना चाहिए। त्यागी को ज्ञानदान का प्रचार करना चाहिए। सर्व प्राणिमात्र का हित हो - ऐसा विचार रखकर परोपकार भाव का आचरण करना चाहिए। परहित के लिए कष्ट भी सहन करना चाहिए। आत्महित की रक्षा करते हुए पर हित में प्रवर्तना योग्य है। सर्व जीवों पर मैत्री भाव, गुणवानों पर प्रमोद भाव, दुःखितों पर करुणा भाव, विरोधियों पर माध्यस्थ भाव रखना चाहिए।

इस तरह भेद विज्ञान का अभ्यास करते रहने से जब दृढ़ अभ्यास हो जायेगा तब स्वानुभव होने का अवसर आ जायेगा, स्वानुभव होने से ही सहजानन्द का लाभ होता है, इसीलिए इस पुस्तक में पहले भेदविज्ञान के कराने के लिए भिन्न-भिन्न पाठ हैं, फिर स्वानुभव के प्रेरक पाठ हैं, फिर सहजानन्द की रमणता कराने के पाठ हैं, इस तरह तीन भाग हैं। ये सर्व उन ही लेखों का संग्रह है जो जैन मित्र में वीर सं० 2460, 2461 व 2462 में प्रगट हो चुके हैं। ये सब अमृत के भरे हुए प्याले हैं। शब्दों की स्थापना दीर्घकाल तक रह सकती है। इन प्यालों में से चाहे जिस प्याले को पिया जायेगा आनन्द का स्वाद आयेगा, तो भी इन शब्दों के संगठनरूप प्यालों का मसाला कभी कम नहीं होगा।

सहजानन्द के लिए श्री जैन तीर्थङ्करों का व उनके अनुयायी जैनाचार्यों

का बहुत बड़ा उपकार है। उन्होंने वस्तु का यथार्थ स्वरूप जैसा है वैसा प्रतिपादित किया है। जिनवाणी के साहित्य के पढ़ने में सन्तोष होता है तथा प्रत्येक तत्त्वखोजी को बहुत सन्तोषपूर्वक आत्मिक तत्त्व का ज्ञान हो जाता है। जगत के हर एक प्राणी को आत्मिक ज्ञान के हेतु जिनवाणी का सूक्ष्मदृष्टि से अध्ययन करना उचित है। इसमें वस्तु का स्वभाव अनेक अपेक्षाओं से बताया है और स्याद्वादनय से समझाया है। आत्मा अशुद्ध क्यों है व शुद्ध कैसे होता है इसका विवेचन बहुत सुन्दर कर्मों के बन्ध का वर्णन करके, उन कर्मों के बन्ध के भावों को, कर्मों के फल देने को, उनको रोकने के भावों को व उनके क्षय होने के भावों को-जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष - इन सात तत्त्वों से बहुत ही उपयोगी रूप से बताया है।

जैन सिद्धान्त में अहिंसा व परोपकार का और सर्व प्राणी मात्र के हितरूप विश्व प्रेम का कथन किया है। गृहस्थ व साधु के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का आचरण बताया है जिससे एक गृहस्थ सर्व ही लौकिक काम करता हुआ, देश का प्रबन्ध करता हुआ, देश की रक्षा दुष्टों से करता हुआ, दुष्टों को शस्त्र से भी लाचार हो निवारण करता हुआ, येन-केन प्रकार से धर्म, अर्थ व काम पुरुषार्थ को भली प्रकार सिद्ध कर सकता है। भोजनपान की शुद्धि रखने का ऐसा बढिया विवेचन है जिससे कोई प्राणी रोगों में नहीं फँसकर स्वास्थ्य लाभ करता हुआ उन्नति कर सकता है।

यदि निष्पक्षता से देखा जाये तो यह कहना असंगत न होगा कि जैन तत्त्वज्ञान आत्मज्ञान की कुंजी है। अन्य दर्शनों के शब्द व वाक्यों को ठीक-ठीक वैज्ञानिक ढंग से समझने के लिए भी यह कुँजी है। हर एक तत्त्व प्रेमी को जैन सिद्धान्त पढ़ना ही चाहिए। अन्य दर्शनों के ज्ञान के साथ जैन सिद्धान्त का ज्ञान होना अपूर्व तत्त्व की ज्योति का प्रकाश कर देगा। सहजानन्द के लिए आत्मा के स्वरूप में प्रवेश करने की जरूरत है। सर्व अन्य भावों से मन को रोकने की जरूरत है। अन्य दर्शनों

का भी अभिप्राय यही है कि राग-द्वेष-मोह छोड़कर आत्मध्यान किया जावे। उनके मार्गप्रकाश में और जैन मार्गप्रकाश में जो अन्तर है उसको देखते हुए जैन तत्त्वज्ञान का विवेचन चित्त को अधिक सन्तोषदायक प्रगट होगा इसलिए हर एक दर्शन के जानने वाले को जैन सिद्धान्त का पठन-पाठन जरूरी है।

बौद्ध पाली साहित्य (संयुक्तनिकाय चुंदो 13) - में लिखा है -

तस्मादिह आनन्द अत्तदीया विहरथ अत्तसरणा।

अनण्णसरणा धम्मदीया धम्मसरणा अनण्णसरणा ॥

भावार्थ : इसलिए हे आनन्द! आत्मा रूपी द्वीप में विहार कर। आत्मा ही शरण है, दूसरा कोई शरण नहीं है। धर्म ही द्वीप है व धर्म ही शरण है, अन्य कोई शरण नहीं है।

निर्वाण को अजात, अमृत, शाश्वत, आनन्दमयी, परमशान्त मानने से शुद्धात्मा का स्वरूप निकल आता है, क्षणिकवाद नहीं रहता है। मज्झिमनिकाय अरियपणिासन सूत्र (26) में निर्वाण का स्वरूप है-

निव्वानं परियेसमानं अजातं अनुत्तरं योगखेमं निव्वानं।

अज्झगमं अजरं अव्याधिं अमतं अशोकं असंक्किट्टं ॥

अधिगमो मे अयं धम्मो गंभीरो दुदसो दुरनुबोधो संतो।

पणीतो अनक्कखचरो निपुणो पंडित वेदनीयो ॥

भावार्थ : जो निर्वाण खोजने योग्य है वह अजन्मा है, अनुपम है, योग द्वारा प्राप्य है, अजर है, अरोग है, मरण रहित है, अशोक है और क्लेश रहित है। मैंने वास्तव में इस धर्म को जान लिया। यह धर्म गम्भीर है, दुर्गम है, शान्त है, उत्तम है, तर्क के अगोचर है और पण्डितों से अनुभवने योग्य है।

बौद्ध साहित्य में इन्द्रियजन्य ज्ञान को लेकर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार व विज्ञान को ही संसार कहा है। इसके त्याग का नाम ही निर्वाण

है व निर्वाण का अनुभव है। आत्मध्यान की महिमा है परन्तु वहाँ आत्मा का भिन्न स्पष्ट स्वरूप प्रतिपादित नहीं है, इससे बौद्ध लोग आत्मा के अस्तित्व का अभाव मान लेते हैं तथा किस तरह संसारी आत्मा अशुद्ध है व कैसे पर से छूटेगा - इसका वैज्ञानिक ढंग से निरूपण जैसा स्पष्ट जैन सिद्धान्त में है वैसा वहाँ नहीं है इसलिए बौद्ध शास्त्र ज्ञाताओं को अपने ही पाली ग्रन्थों के विवेचन को स्पष्ट व साफ समझने के लिए जैन तत्त्वज्ञान का अध्ययन जरूरी है।

ब्राह्मण धर्म का मुख्य ग्रन्थ भगवद् गीता है। इसमें भी सहजानन्द का उपाय आत्मध्यान व योगाभ्यास ही मिलेगा। गीता में कहा है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

गीता अध्याय 6 श्लोक 21

भावार्थ : जहाँ यह योगी इन्द्रियों से परे, ज्ञानमय, परम सुख का अनुभव करता है फिर वह निज तत्त्व में स्थित होता हुआ उससे चलायमान नहीं होता है।

अपने से ही अपना उद्धार होगा यह भी कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

गीता अध्याय 6 श्लोक 5

भावार्थ : अपनी आत्मा का उद्धार अपने से करे, अपनी आत्मा को दुःखित न रखे। आत्मा ही आत्मा का मित्र है तथा आत्मा ही अपना शत्रु है।

योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥

गीता अध्याय 6 श्लोक 10

भावार्थ : मन का विजयी योगी वासना रहित व परिग्रह रहित होकर एकान्त में अकेला बैठा हुआ निरन्तर आत्मा का ध्यान करे।

गीता के जानने वाले को जैन तत्त्वज्ञान बहुत सहायी होगा। गीता में सांख्य और वेदान्त दर्शन के अनुकूल विशेष कथन है। दोनों के दर्शन की प्रक्रिया परस्पर मिलती नहीं है व चित्त को सन्तोषित नहीं करती है। सांख्य आत्मा को अपरिणामी कूटस्थ नित्य अकर्ता मानते हैं—‘**पुरुषस्य अपरिणामित्वात् तथा अकर्तुरपि फलोपभोगी अन्नादिवत्।**’ (योगदर्शन पातंजलि 18-4, व सांख्यदर्शन 105 अ० 1) भाव यह है कि आत्मा परिणमनशील नहीं है, न वह कर्ता है किन्तु फल का भोक्ता है। यह बात समझ में नहीं आती है। सर्वथा कूटस्थ नित्य होने में संसार व मोक्ष नहीं बन सकते। जो करेगा वही भोगेगा। करे नहीं व फल भोगे यह बात भी समझ में नहीं आती। जैन सिद्धान्त कहता है कि यह आत्मा निश्चय से व द्रव्य स्वभाव से नित्य है। न पर का कर्ता है, न भोक्ता है परन्तु व्यवहारनय से यह परिणमनशील है, रागादि का कर्ता है व सुख-दुःख का फल भोक्ता है।

अद्वैत सिद्धान्त वेदान्त में एक ब्रह्म के सिवाय भिन्न-भिन्न जीव व जड़ पदार्थ नहीं माने हैं तब शुद्ध ब्रह्म का संसारी होना व चेतन का जड़ रूप होना समझ में नहीं आता। कहा है—

‘जीवो ब्रह्मैव नापरः नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त सत्य स्वभावं प्रत्येक् चैतन्यमेव आत्मतत्त्वं।’
(वेदांतसार)

भावार्थ : जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं। नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभावी, वीतराग चैतन्यरूप ही आत्मतत्त्व है।

यदि निश्चयनय से ऐसा कहा जाता है कि यह जीव ब्रह्म के समान शुद्ध है तब जैन सिद्धान्त से बात मिल जाती। ब्रह्म के सदृश है परन्तु भिन्न-भिन्न है। जिस माया से वेदान्त संसार अवस्था मानता है वह माया भी ब्रह्म की ही शक्ति है। कहा है—शक्ति शक्तिमतोरभेदात् अर्थात् शक्ति

और शक्तिमान में भेद नहीं है। ऐसा मानने से सांसारिक दुःखों का सर्व दोष ब्रह्म की माया की शक्ति पर हो जाता है और शुद्ध बुद्ध ब्रह्म में माया कैसे - यह शंका नहीं मिटती है। भगवद्गीता में भी ब्रह्म को सबका उपादान कारण कहा है—

**यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥**

गीता अध्याय 10 श्लोक 39

भावार्थ : हे अर्जुन! जो सर्व भूतों की उत्पत्ति का कारण है वह भी मैं ही हूँ क्योंकि ऐसा चर-अचर कोई भी भूत नहीं है जो मेरे से रहित होवे इसलिए सब कुछ मेरा ही स्वरूप है।

शुद्ध ब्रह्म चेतन स्वरूप से जड़ चेतन की उत्पत्ति हो - यह बात समझ में नहीं आती। अमूर्तिक के खण्ड नहीं हो सकते, ब्रह्म से राग-द्वेष नहीं हो सकते, न चेतन से जड़ पैदा हो सकता है। सर्व पदार्थ जड़ व चेतन भिन्न हैं तो भी सत् रूप हैं, ऐसा यदि माना जावे व ब्रह्म को एक सत् भावरूप माना जावे तो बात जैन सिद्धान्त से मिल सकती है।

न्यायदर्शन यह कहता है कि संसार दुःखमय है व इससे छूटने का उपाय तत्त्वज्ञान है यद्यपि यह बात तो जैन सिद्धान्त से मिल जाती है परन्तु न्यायदर्शन जो ईश्वर की प्रेरणा से सर्व कामों का होना मानता है - यह बात समझ में नहीं आती। जैसा कहा है—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्।

(न्यायसूत्र 4-1-19)

भावार्थ : ईश्वर कारण है नहीं तो पुरुषों को कर्म का फल न हो।

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥6 ॥

भावार्थ : यह जन्तु अज्ञानी है। इसका सुख-दुःख स्वाधीनता रहित है। ईश्वर की प्रेरणा से स्वर्ग या नर्क में जाता है।

वैशेषिक दर्शन भी मोक्ष की प्राप्ति तत्त्वज्ञान से बताता है परन्तु ईश्वर को कर्ता व फलदाता वह भी मानता है। जैन सिद्धान्त कहता है कि शुद्ध निर्विकार परमात्मा में कोई सङ्कल्प-विकल्प नहीं हो सकता, वह इच्छा नहीं कर सकता, तब वह जगत की रचना व फलदान कैसे कर सकता है! यह जीव ही स्वयं कर्ता है व भोक्ता है।

पूर्व मीमांसा दर्शन क्रियाकाण्ड की मुख्यता बताता है, यज्ञ करना सिखाता है। तत्त्वज्ञान की ओर लक्ष्य नहीं है, न मोक्ष का ध्येय है। ध्येय स्वर्ग का है। यद्यपि वह जगत को बनाने वाले व रक्षा करने वाले किसी ईश्वर को नहीं मानता है, वेद को नित्य मानता है। हिंसा रहित क्रियाकाण्ड व्यवहार मात्र साधक है यह जैनमत कहता है किन्तु जब तक स्वात्मानुभव का अभ्यास न होगा तब तक सच्चा मोक्षमार्ग नहीं मिलता है।

थियोसोफी यद्यपि आत्मज्ञान व ध्यान की तरफ प्रेरित करता है परन्तु वह आत्मा को स्वतन्त्र पदार्थ न मानकर एक जड़ पदार्थ का विकास मानता है और इसी से सब कुछ होता है ऐसा मानता है - यह बात जैन सिद्धान्त से नहीं मिलती है। जड़ से चेतन व चेतन से जड़ नहीं हो सकता है।

आर्य समाज ने जीव को सदा अल्पज्ञ माना है, वह कभी बिल्कुल शुद्ध व सर्वज्ञ नहीं हो सकता और परमात्मा के समान नहीं होता। यद्यपि ध्यान का साधन वहाँ भी है परन्तु उनका आत्मा का स्वरूप जैन सिद्धान्त से नहीं मिलता है।

ईसाइयों की बाइबिल में आत्मा को शुद्ध व पूर्ण बनाने को अपना ही ध्यान करने का उपदेश है।

Sanit John says God is a spirit and they that worship him must worship him in spirit and in truth. Labour not for the meat which perisheth, but for that meat which endureth unto & everlasting life. Ye shall know the truth, and the truth shall make you free.

भावार्थ : परमात्मा एक आत्मा है। जो उसकी भक्ति करें उसको आत्मा व सत्य जानकर करें। नाशवन्त भोग के लिए तप न करो किन्तु अनन्त अविनाशी जीवन के लिए चेष्टा करो। तुम सत्य को जानोगे तब सत्य तुम्हें स्वतन्त्र कर देगा। इन वाक्यों से आत्मा की शुद्धि व पूर्ण करने का मार्ग जैन सिद्धान्त से मिलता है परन्तु वह क्यों अशुद्ध है व कैसे शुद्ध होगा - इसका विस्तार जैन सिद्धान्त से ही सन्तोषपूर्वक जानने में आयेगा। ईसाई मत का ईश्वरकर्तावाद तो जैन दर्शन से मिलता नहीं है।

मुस्लिम धर्म की कुरान में भी आत्मा को शुद्ध करने की बातें आती हैं। अंग्रेजी उल्था के वाक्य हैं-(86) 5-35 And Who ever shall keep himself pure, he purifieth himself to his own behalf.

जो कोई अपने को पवित्र रखेगा वह स्वयं आप ही पवित्र हो जायेगा, यह बात जैन सिद्धान्त से मिलती है। विस्तारपूर्वक पवित्रता का पाठ जैन सिद्धान्त में सन्तोषकारक मिलता है। ईश्वर का कर्तावाद जो इस धर्म में है वह जैनदर्शन से नहीं मिलता है।

पारसी धर्म में भी आत्मा के अनुभव पाने की व शान्ति पाने की बात है।

Gathe of Atharve Zaturashtra-Ch. 34 G. 6. O mazda, teach me the mark of the perfect ideal of life, so that with prayers and hymns for you I can proceed on the way to self realization.

भावार्थ : ऐ परमात्मा! पूर्ण आदर्श जीवन का लक्षण मुझे सिखा, जिससे मैं भजन व स्तुति करता हुआ स्वानुभव के मार्ग पर चल सकूँ।

इसका ईश्वरकर्तावाद जैनदर्शन से नहीं मिलता है।

ऊपर जितने दर्शनों का कथन किया है वे सब सुख-शान्ति पाने का ध्येय रखते हुए भी उस ध्येय की प्राप्ति का उपाय जैसा जैन सिद्धान्त में सन्तोषकारक है वैसा उनमें देखने में नहीं आता। उनमें अनेक अपेक्षाओं से वस्तु को नहीं विचारा है। जो कोई जैन दर्शन के साथ मिलान करते

हुए अन्य दर्शनों के मूल ग्रन्थों को पढ़ेगा उसे यह हमारी सम्मति मान्य हो जायेगी। अतएव जगत के प्राणियों को हमारा निमन्त्रण है कि वे एक दफे अवश्य जैन सिद्धान्त का अध्ययन करें। जिससे उनको अपने-अपने मान्य दर्शन के वाक्यों का विशेष खुलासा होगा व स्वानुभव द्वारा सहजानन्द प्राप्ति का सुगम व सरल मार्ग हाथ लग जायेगा। इस पुस्तक का पाठ हर एक जैन व अजैन तत्त्वज्ञानी को करना उचित है, बड़ी ही सुख शान्ति प्राप्त होगी।

तारीख 26-1-1937

ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद जैन

सहजानन्द सोपान

1. भेदविज्ञान
2. स्वानुभव
3. सहजानन्द

1. भेदविज्ञान

श्री वीतरागाय नमः

सहजानन्द सोपान

भेदविज्ञान

1- अन्न दृष्टान्त (Imp.)

भेदविज्ञान की महिमा अपार है। श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसार कलश में कहते हैं—

भेदविज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किल केचन ।

तस्यैवाभावतः बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥

जितने जीव संसार से पार होकर मुक्त हो गये हैं, वे भेदविज्ञान के प्रताप से ही हुए हैं व जितने जीव संसार में बद्ध पड़े हैं, वे भेदविज्ञान को न पाकर बद्ध पड़े हैं। यद्यपि भेदविज्ञान की महिमा वचन-अगोचर है तथापि भव्य जीवों के भीतर भेदविज्ञान की कला उत्पन्न करने के लिए उसका ही कुछ वर्णन किया जाता है।

एक लड़की चावल चुगने बैठी है। चावल में कंकड़, पत्थर, तृण, जंतु और छिलके आदि मिले हुए हैं। उसको इस बात का भेदविज्ञान है कि चावल का स्वरूप जुदा है व कंकड़-पत्थर का स्वरूप जुदा है। वह लड़की चावल को सर्व अचावल से भिन्न पहचानती है। यदि गेहूँ के भीतर चावल रख दिये जावें तो भी वह चावलों को भिन्न कर डालेगी। यदि उसे भिन्न करने को न भी कहा जावे और वह भिन्न नहीं भी करे तो भी जब वह चावलों को गेहूँ के साथ मिला हुआ देखती है तो उसको तुरन्त यह भाव झलक जाता है कि चावल भिन्न हैं, गेहूँ भिन्न हैं। मिली हुई वस्तुओं को भिन्न-भिन्न पहचानने की जो बुद्धि

है, उसको ही भेदविज्ञान कहते हैं। यह आत्मा अनादि काल से पुद्गल से मिली हुई कुछ की कुछ दिख रही है। इसकी ऐसी मिली हुई दशा में भी जिस बुद्धि से यह आत्मा बिल्कुल निराली दिखे और जो कुछ परसंयोग हैं व परसंयोगजनित विकार हैं, वे सब निराले दिखें, उसे ही भेदविज्ञान कहते हैं।

आत्मा असल में आत्मारूप ही है, इसी को परमात्मा, परंब्रह्म, ईश्वर, निरंजन, निर्विकार, जिनेन्द्र, सिद्ध, अनन्त ज्ञानी, अनन्त दर्शनी, अनन्त वीर्यवान, अनन्त सुखी, अमूर्तिक, परम चारित्रवान परम सम्यक्त्वी कहते हैं। भावकर्म रागादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि और नोकर्म शरीरादि ये सब इस आत्माराम से भिन्न हैं - ऐसी श्रद्धापूर्वक पहिचान हो जाना ही भेदविज्ञान है। मैं आज आत्मा से भिन्न सर्व पर के साथ स्नेह छोड़कर एक निज आत्मा को ही आत्मा रूप देखता हुआ जो सन्तोष पा रहा हूँ वह वचन अगोचर है।

2- सूर्य दृष्टान्त (Imp.)

एक ज्ञानस्वरूपी आत्मा सर्व प्रपंच जालों से निर्वृत्त होकर निश्चल मन हो निजात्मा की असली सूरत देखने के लिए उत्सुक हो रहा है। संसारी जीव में आत्मा की असली सूरत अनादिकाल से पुद्गल के रचे हुए कर्म शरीर के भीतर दबी हुई है और इसी तरह छिपी हुई है जैसे बादलों के बीच में सूर्य का प्रकाश छिप रहा हो। चतुर पुरुष मेघाच्छन्न दिवस को देखकर भी व सूर्य के विमान का दर्शन न पाकर भी यही अनुमान लगाता है कि यह जो कुछ प्रकाश दिवस का दिख रहा है, वह सूर्य का ही है तथा सूर्य का असली स्वभाव सदा ही तेजस्वी व प्रकाशमान है। यह चतुर पुरुष मेघाच्छन्न होने पर भी सूर्य को सूर्यरूप परम प्रतापशाली ही देखता है। यह उसके भेदविज्ञान की कला का प्रताप है। इसी तरह भेदविज्ञानी

महात्मा को अपना आत्मा परमात्मा के समान दिखता है। उसने श्री जिनवाणी व श्री जिनगुरु पर विश्वास लाकर, उनके उपदेश में श्रद्धा जमाकर, उनके कहने से आत्मा के स्वरूप का परमात्मा के स्वरूप के समान निश्चय कर लिया है।

जैसे किसी विश्वासपात्र व्यक्ति से किसी न देखे हुए पुरुष के शरीरादि का सर्व वर्णन सुनकर मन में उस पुरुष के शरीर का नक्शा खींच लिया जाता है, वैसे ही श्रीगुरु द्वारा बतलाये हुए क्रम से शुद्धात्मा का नक्शा अपने अन्तःकरण में खींचा जा सकता है। श्रुतज्ञान के द्वारा ही आत्मा व पर का भिन्न-भिन्न ज्ञान अर्थात् भेदविज्ञान पैदा होता है।

भेदविज्ञान के द्वारा ही स्वात्मानुभव होता है। सविकल्प अवस्था में यह भेदविज्ञान सर्व ही नर-नारक, पशु-पक्षी और वृक्षादि पर्यायों के भीतर आत्मा के स्वरूप को एकाकार शुद्ध झलकाता है। भेदविज्ञानी को हर एक प्राणी के भीतर परमात्मा का दर्शन होता है। उसके भावों में से मोह, राग, द्वेष का मैल निकल जाता है। जब सर्व आत्माओं को एक समान देखा गया, तब न कोई मित्र रहा, न कोई शत्रु रहा, न कोई पुत्र रहा, न कोई पिता रहा, न कोई माता रही, न कोई बहिन रही, न कोई पुत्री रही, न कोई स्वामी रहा, न कोई सेवक रहा, न कोई नीच रहा और न कोई पूज्य ही रहा। आप व सभी आत्माएँ समान व एक रूप दिखने लगीं।

जब यही भेदविज्ञान निर्विकल्प हो जाता है तब वह एक ऐसे स्वानुभवमयी भाव में पहुँच जाता है जहाँ न कुछ विचार है, न क्रिया है और न शरीर का बन्धन है। यही एक वचनातीत भाव मोक्षमार्ग है। जो इसको पाते हैं वे स्वात्मानंद का विलास भोगते हुए अपने जीवन को सफल बनाते हैं।

3- न्यारिये का दृष्टान्त (Imp.)

एक ज्ञानस्वरूपी आत्मा सर्व पर पदार्थों से उन्मुख होकर एकमन हो अपने भीतर अपनी निज वस्तु की उसी तरह खोज कर रहा है जिस तरह न्यारिया राख के भीतर सुवर्ण की खोज करता हो। आत्मा एक ऐसा द्रव्य है जिसमें राग-द्वेष-मोह का, अज्ञान का व प्रपंचजाल का अभाव है। मन के कार्यों का आत्मा के निजस्वभाव में पता नहीं चलता है। आत्मा एक ज्योतिमय स्व-पर ज्ञायक पदार्थ है। परम वीतराग, कृत्कृत्य व निर्विकार है। इस शुद्ध स्वरूप की भावना को अपना मानता हुआ और इससे जो कुछ पर है, उसको पर मानता हुआ यह ज्ञानी भेदविज्ञान की शक्ति को बढ़ा रहा है।

भेदविज्ञान एक ऐसा चश्मा है जिसको लगाने से यह छः द्रव्यमयी जगत अपने द्रव्यरूप में पृथक्-पृथक् झलक जाता है। जितनी आत्माएँ हैं चाहे वे साधारण वनस्पति रूपी निगोद में हों, चाहे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व प्रत्येक वनस्पति में हों, चाहे द्वीन्द्रिय, तीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, असैनी व सैनी में हों, चाहे सिद्धपद में हों, सबका स्वरूप एकसा है, सबका द्रव्य एकसा है, सबका क्षेत्र एकसा असंख्यात प्रदेशी है, सबका शुद्ध परिणमन समय-समय एक सा ही है और सबका स्वभाव एकसा, परम आनन्दमय व परम शान्तिमय है। प्रत्येक आत्मा की सत्ता भिन्न-भिन्न होने पर भी परस्पर हर तरह से समानता है।

आत्माओं को छोड़कर जितने पुद्गल द्रव्य हैं वे चाहे परमाणु रूप हों, चाहे नाना प्रकार स्कंध रूप हों; औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण - इन पाँच शरीररूप हों और सर्व नगर, द्वीप, पर्वत, नदी, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, तारे आदि रूप हों वे सब मेरे से भिन्न हैं। इनका मूल द्रव्य पुद्गल परमाणु है। ये सब

भिन्न-भिन्न नजर आते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालाणु तथा आकाश भी भिन्न-भिन्न ही दिखते हैं। भेदविज्ञान के प्रताप से मेरा शुद्ध स्वभाव परम सुखी, परमात्मारूप नजर आता है।

आज मैं सर्व प्रपंच जालों से उदास होकर निज स्वरूपानन्द का ही स्वाद लेकर तृप्त होऊँगा। मैं अपने आप में ही मगन होऊँगा। मैं अपने आपको ही देखूँगा। मैं अपने में अपने आपको ही भोगूँगा। उसी में मेरा धन है। वहीं विलास करना निराबाध है।

4- आत्मगंगा स्नान (Imp.)

एक ज्ञाता-दृष्टा आत्मा अपने शुद्ध मन द्वारा सर्व प्रपंच जालों से रहित होकर आज यह विचार करता है कि मैं कौन हूँ? यह शरीर क्या है? ये क्रोध, मान, माया, लोभ क्या हैं? यह अज्ञान क्या है? इन बातों पर विचार करते हुए भेदविज्ञान यह बताता है कि यह आत्माराम साक्षात् परमात्मा है, ज्ञाता-दृष्टा है, निर्विकार है, शुद्ध है, वीतराग है, अमूर्तिक है, परमानन्दमयी है, अपनी स्वभाव परिणति का ही कर्ता है व अपने स्वाभाविक आनन्द का भोक्ता है, परम कृतकृत्य है और विश्व के सर्व पदार्थों के गुण-पर्यायों को एक समय में ही जानने वाला है।

इस आत्मा को ईश्वर कहो, भगवान कहो, प्रभु कहो, परमेश्वर कहो, पुरुषोत्तम कहो, परंब्रह्म कहो, परमसार कहो, परमार्थ कहो, परमेष्ठी कहो, निरंजन कहो, शिव कहो, विष्णु कहो, ब्रह्मा कहो, जिनेश्वर कहो, बुद्ध कहो, सुगत कहो, योगीश्वर कहो, ध्यानेश्वर कहो और ज्ञानेश्वर कहो इत्यादि अनेक अपेक्षाओं से स्थापित अनेक नामों को लेकर स्मरण करो - यही साक्षात् सिद्ध है, लोकोत्तम है, परम मंगल है और परम शरण है। इसके साथ जो कुछ ज्ञानावरणादि कर्मों का रचा हुआ कार्माण देह है, वह पुद्गलमय है और आत्मा के

स्वभाव से सर्वथा भिन्न है। स्थूल दिखने वाला औदारिकशरीर भी पुद्गलद्रव्य रचित जड़ है। रागद्वेषादि भावकर्म भी कर्मोदय जनित विकार हैं और इस आत्मा के स्वभाव से सर्वथा दूर है। यही भेदविज्ञान अपने भीतर जिस तरह परमात्मा को भिन्न बताता है उसी तरह विश्व के सर्व संसारी प्राणियों के भीतर आत्मा को अनात्मा से भिन्न बताता है।

भेदविज्ञान के प्रताप से सर्व विश्व की आत्माएँ, चाहे हों, चाहे ब्राह्मण एक रूप ही देखने में आती हैं। वहाँ उच्च-नीच का, पिता-पुत्र का, स्वामी-सेवक का, गुरु-शिष्य का और शत्रु-मित्र का कोई भी भेदभाव नजर नहीं आता है। इस कारण परम समता भाव का शांत जल आत्मा रूपी घर के भीतर बहने लगता है। यह ज्ञानी इसी गंगा समान पवित्र जल में स्नान करता है, इसी का पान करता है, इसी में कल्लोल करता है व इसी जल में मग्न होकर जिस परमानन्द का लाभ करता है, वह वचन-अगोचर है। वे ही सन्त हैं जो इस अपूर्व रस का पानकर सदा सुखी रहा करते हैं।

5- आत्म-हीरे की खोज (Imp.)

एक भेदविज्ञान का प्रेमी भव्य जीव भेदविज्ञान का अभ्यास करके निज स्वरूप का लाभ करता हुआ बड़ा ही सुखी रहता है। अपना स्वरूप अपने ही पास है। आप ही परमात्मा, परंब्रह्म व सिद्ध भगवान हैं परन्तु औदारिक, तैजस व कार्माण शरीरों के भीतर ऐसा छिपा पड़ा है कि इसका पता भी नहीं चलता है।

जैसे किसी घर में एक हीरे का रत्न हो परन्तु उसके ऊपर मिट्टी का ढेर व कूड़ा-करकट जमा हो गया हो तो उस हीरे को पाने के लिए सर्व कूड़े-करकट को हटाना पड़ेगा, तब ही उस रत्न का पता चलेगा। इसी तरह भेदविज्ञान के द्वारा सभी अन्य पदार्थों के

द्रव्य, गुण, पर्यायों से आत्मा के द्रव्य, गुण, पर्याय को भिन्न करके जानना होगा।

भेदविज्ञानी शुद्धोपयोग का प्रेमी हो जाता है। वह शुभोपयोग के कार्यों को करता हुआ भी शुद्धोपयोग की तरफ दृष्टि लगाए हुए भेदविज्ञान के प्रताप से शुद्धोपयोग को पा लेता है। यदि वह मुनि है तो वह स्वाध्याय करता हुआ, भावपूजन करता हुआ, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान व सामायिक का पाठ करता हुआ, आहार व विहार करता हुआ भेदविज्ञान के प्रताप से शुद्धोपयोग को पाता रहता है। इसी के प्रभाव से ज्ञानी मुनि सामायिक चारित्र का लाभ करते हुए राग-द्वेष के फंदे से बचे रहते हैं। लाभ-अलाभ, पूजा व निन्दा में समताभाव को पाते रहते हैं।

गृहस्थ भी द्रव्यपूजा के साथ भावपूजा करते हुए, गुरुभक्ति करते हुए, शास्त्र स्वाध्याय करते हुए, संयम को पालते हुए सामायिक करते हुए भेदविज्ञान के प्रताप से शुद्धोपयोगी छटा को पा लेते हैं। मैं भी इस समय भेदविज्ञान की दृष्टि से अपने को सबसे भिन्न परमात्मरूप अनुभव करता हुआ परमानंद का विलास लेता हूँ और आत्मानुभव में गुप्त होकर मन, वचन, काय की क्रियाओं से छूटकर निष्क्रिय हो जाता हूँ।

6- मोह मदिरा का नाच (Imp.)

एक ज्ञाता व्यक्ति जब अपनी दशा देखता है तो इसे एकाएक उदासी छा जाती है। अरे! मैं बार-बार जन्म-मरण करने वाला, रोग, शोक, व्यथा को भोगने वाला, पशु, मानव की अनेक योनियों में चक्कर लगाने वाला, पाँचों इन्द्रियों की अनगिनत इच्छाओं की दाह में जलने वाला, रात-दिन उनकी पूर्ति के लिए न्याय व अन्याय का

विचार न करके यत्न करने वाला, धन के लिए असत्य, चोरी आदि पापों में प्रवृत्ति करने वाला, तृष्णा की दाह को शमन न कर सकने के कारण आकुलता में मग्न हो शरीर छोड़ने वाला होता हुआ क्यों इस दशा के हटाने का उपाय नहीं करता हूँ। सच है, मैंने मोह को अपना साथी बना लिया है। मोह ने ऐसी अज्ञान की मदिरा पिला दी है जिससे मैं उसी का नचाया नाच रहा हूँ। वह जिधर ले जावे उधर ले जाया जा रहा हूँ। दुःख सहता हुआ भी मोह को नहीं छोड़ता हूँ परन्तु अब तो मुझे जागना चाहिए और परम दयालु श्रीगुरु ने जो तत्त्वज्ञान बताया है, उसको स्मरण करना चाहिए।

श्रीगुरु ने बताया है कि भेदविज्ञान की दृष्टि से जगत के पदार्थों को देख, निश्चयनय का चश्मा लगा ले तब यह जगत जो छह मूल द्रव्यों का समुदाय है सो इसके द्रव्य सब अलग-अलग ही दिख पड़ेंगे। निश्चयनय से देखते हुए जितने पुद्गल हैं, वे सब परमाणुरूप दिखते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, काल अलग ही मालूम पड़ते हैं। सर्व जीव अलग-अलग शुद्ध परमात्मारूप झलकते हैं। मैं अपने को भी जब निश्चयनय से देखता हूँ तो उसे परमात्मा ही पाता हूँ। न मेरे में रागद्वेषादि और आठ कर्मों के पुंज दिखते हैं, न शरीर, वस्त्रादि, और परिवारादि अपना दिखता है। मैं एक अकेला, अपने स्वरूप में एक रूप, परम भगवान, ज्ञातादृष्टा, अमूर्तिक, अनन्तवीर्यमयी और परम वीतरागमयी हूँ। यही अनुभूति मुझको हो रही है। उचित है कि मैं इसी अनुभूति को ग्रहण किए रहूँ। वास्तव में श्रीगुरु ने बताया है कि जो पर से भिन्न निज आत्मा का अनुभव करता है वही परम सुख-शान्ति का भोगी होता हुआ मुक्त हो जाता है, संसार-सागर से पार हो जाता है। वास्तव में आप ही नौका है, आप ही नौका का खेवटिया है व आप ही नौका का यात्री है।

जो इस निर्द्वन्द्व भाव में एकतान हो एकाग्र हो जाता है, वह एक ऐसे अद्वैत भाव में पहुँच जाता है, जहाँ सिवाय आत्मानन्द के स्वाद के और कुछ विकल्प नहीं आता। अध्यात्म की गाढ़ निद्रा में वह ऐसा उन्मत्त हो जाता है कि उसे एक आत्मरस का ही वेदन होता है मानो सारे विश्व में ही शान्ति सुधा छा रही है। वास्तव में स्वात्मानुभूति का होना ही मुक्तिधाम में तिष्ठना है। मैं आज सर्व संकल्प-विकल्पों को त्यागकर व सर्व परकृत अवस्थाओं से उदासीन होकर एक निज स्वरूप की ही गुफा में बैठता हूँ। मन, वचन, काय की तरफ से जब बेखबर हो जाता हूँ तब जो आनन्द पाता हूँ, वह वचनातीत और केवल अनुभवगम्य है।

7- सत्य वेदान्त (Imp.)

एक विचारवान व्यक्ति जब सूक्ष्म दृष्टि से देखने लगता है तब उसे भेदविज्ञान का चश्मा लगाना पड़ता है। भेदविज्ञान के प्रताप से सम्मिलित पदार्थों का भेद खुल जाता है। भेदविज्ञान के अभाव में व्यवहार की अन्धदृष्टि को रखते हुए यह मानव अपने को मानव, बालक-वृद्ध-युवा, सुन्दर-असुन्दर, धनिक-निर्धन, बहुकुटुम्बी,- कुटुम्बरहित, माननीय-अमाननीय, रागी-द्वेषी-मोही, विद्वान-मूर्ख और धर्मी-अधर्मी आदि नाना रूप में माना करता है। व्यवहारदृष्टि में जगत के कुछ प्राणी शत्रु दिखते हैं। स्वार्थाधपना हृदय में समाया रहता है जिससे इन्द्रियों के विषयों का दासत्व रहता है। इस दासत्व के प्रभाव से यह प्राणी इन्द्रिय भोग के सहकारी पदार्थों से राग व विरोधी पदार्थों से द्वेष कर लेता है। एक तरफ राग की तरङ्गें बढ़ती हैं तो दूसरी ओर द्वेष के सर्प लोटते हैं। कभी भी शान्ति व समता का लाभ नहीं होता।

श्री गुरु के अमृतमयी उपदेश को पाकर यह ज्ञानी मानव व्यवहार दृष्टि के अन्धपने को भेदविज्ञान का चश्मा लगाकर मिटा देता है। इस चश्मे को लगाते ही सर्व जीव अजीवों से भिन्न नजर आते हैं। सर्व जीव समान गुणधारी अमूर्तिक दिखते हैं। सर्व ही सहज ज्ञानदर्शन स्वरूप, सर्व ही परम वीतराग, सर्व ही अनन्तबली, सर्व ही परमानन्दी, सर्व ही ज्ञानाकार, सर्व ही असंख्यात प्रदेशी और सर्व ही परमात्मा जान पड़ते हैं। इस भाव के आते ही परम समताभाव झलक जाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ चारों कषाय कहाँ चले जाते हैं सो कुछ पता नहीं चलता। एकेन्द्रियादि जीवों के भेद, गति, इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाँ, मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थान कहाँ लोप हो जाते हैं, सो कुछ पता नहीं चलता। भेद विज्ञान के प्रताप से अपना आत्मा यद्यपि सर्व आत्माओं के समान है तथापि प्रदेशत्व गुण की अपेक्षा सबसे निराला है - ऐसा अनुभव में आता है।

निराकुलता के लाभ के लिए व परमानन्द का उपभोग करने के लिए यह ज्ञानी सर्व पर आत्माओं से व अनात्माओं से उदास होकर एक अपनी आत्मा को ही ग्रहण कर लेता है अर्थात् अपने जानने वाले उपयोग को सर्व पर से हटाकर अपने ही उपयोगवान आत्मा में जोड़ देता है तब ज्ञाता ज्ञेय की, ध्याता ध्येय की, रमणकर्ता व रम्य वस्तु की एकता हो जाती है। एकाएक आत्मस्वसंवेदन उमड़ आता है। आत्मानुभव व स्वरूपाचरण चारित्र जग जाता है और आत्मानन्द सुधा का प्रवाह बहने लगता है। बस, उसे एक जाति का अलौकिक आध्यात्मिक नशा चढ़ जाता है। यह ज्ञानी निज पुष्प के रस स्वाद में मधुमक्षिकावत् लवलीन हो जाता है। तब जिस अद्भुत सन्तोष को पाता है उसका वर्णन वचन अगोचर है। यही सच्चा वेदान्त है व यही अद्वैत मत है।

8- साम्यगढ़ निवास (Imp.)

एक तत्त्वमसी एकान्त में बैठा हुआ विचार करता है कि मैं और तू का क्या अर्थ हैं। जब जगत की प्रपञ्च रचना की अपेक्षा देखा जाता है तो मैं और तू कहने वाले सब लोग शरीर की अवस्था को व अन्तरंग औपाधिक भावों की अवस्था को देखकर ही मैं - तू का व्यवहार कर रहे हैं। मैं ब्राह्मण तू क्षत्रिय, मैं क्षत्रिय तू ब्राह्मण, मैं वैश्य तू शूद्र, मैं पवित्र तू अपवित्र, मैं विद्वान तू मूर्ख, मैं धनिक तू कंगाल, मैं सुन्दर तू कुरूप, मैं पुरुष तू स्त्री, मैं बालक तू बालिका, मैं स्वामी तू सेवक, मैं सेनापति तू सिपाही, मैं पूजक तू पूज्य, मैं ध्याता तू ध्येय, मैं ज्ञाता तू ज्ञेय, मैं संसारी तू सिद्ध - इस तरह का मैं-तू का व्यवहार राग-द्वेष का, अहंकार-ममकार का और दीनता तथा उच्चता का भाव लाता है और कर्मों के बन्ध को बढ़ाता है तथा संसार का मार्ग विस्तृत करता है। मोक्षमार्ग के खोजी के लिए ऐसा व्यवहार बाधक है।

मोक्ष शास्त्र के रचयिता आचार्य कहते हैं कि आत्मा का मोह क्षोभ विहीन साम्यभाव ही चारित्र है। इसी चारित्र रूपी नौका पर चढ़ने से यह प्राणी भवसागर से पार होकर मोक्षद्वीप में जा सकता है। इस साम्यभाव की प्राप्ति के लिए मैं-तू का व्यवहार त्यागना पड़ेगा और जगत के विचित्र पदार्थों को भेदविज्ञान की दृष्टि से देखना पड़ेगा। एक-एक दृश्य के मूल में जाकर ढूँढ़ना पड़ेगा कि कौन-कौन सा द्रव्य बैठा है। निश्चयनय की दृष्टि से देखने की जरूरत है। इस दृष्टि से देखते हुए सर्व ही चेतन पदार्थ एकरूप शुद्ध, केवल, अविनाशी, ज्ञानदर्शनमय, परम बली, परम शान्त, परम सम्यक्त्वी और परमानन्दमयी दिखलायी पड़ते हैं। कोई भेद मालूम नहीं पड़ता है। सत्ता भिन्न-भिन्न होने पर भी स्वरूप की अपेक्षा सब आत्माएँ

समान हैं तथा आकाश, काल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और सर्व पुद्गल चेतना रहित व मेरे स्वभाव से बिल्कुल भिन्न हैं। मैं इनको अपनाऊँ नहीं तो ये मेरा बिगाड़ नहीं कर सकते।

इसलिए इनसे उदासीन होकर व सर्व आत्माओं को समान देखकर मैं साम्यभावरूप चारित्र को पाता हूँ और बिना किसी भय व शङ्का के अपने ही शुद्ध, असंख्यातप्रदेशमयी आत्मा रूपी गढ़ में विश्रान्ति लेता हूँ और जिस परमानन्द का स्वाद पाता हूँ, वह वचन अगोचर है।

9- आत्मगुफा प्रवेश (V. Nice)

एक भेदविज्ञानी तत्त्वज्ञान के प्रेम से आकर्षित होकर जब देखता है तो इस संसार के भयानक जंगल में अपने को उलझा हुआ पाता है। जैसे कोई जाल में फंसा हुआ पक्षी उड़ने की इच्छा रखते हुए भी व स्वतंत्रता से विचरने की कामना रहने पर भी तड़फ-तड़फ कर रह जाता है व जाल से निकलने का मार्ग नहीं पाता है, उसी तरह यह ज्ञानी अपने को सङ्कल्प-विकल्पों से व औपाधिक भावों से जाल में उलझा हुआ पाकर अतिशय आकुल-व्याकुल हो रहा था। तथापि भेदविज्ञान के प्रताप से अब इसको इस जाल से निकलने का मार्ग मिल गया है।

भेदविज्ञान इसे बताता है कि तू अपनी सत्ता को भी यथार्थ समझ ले तथा जो तू नहीं है उसे भी यथार्थ समझ ले। फिर अपने से गाढ़ प्रेम रखना व पर से दृढतापूर्वक उदासी से वर्तना यही इस महत् जाल से निकल जाने का उपाय है। भेदविज्ञान बताता है कि यह जानने-देखनेवाला आत्म-पदार्थ ही परमात्मा है। इसका स्वभाव पूर्ण ज्ञानमय, पूर्ण शान्तिमय व पूर्ण आनन्दमय है। यह अमूर्तिक है, शुद्ध है, विकार रहित है और असंख्यात प्रदेशी होकर भी परम निर्मल

है। यही साक्षात् परंब्रह्म, परमेश्वर और परम पदार्थ है। इसकी ज्ञान प्रभा उपमा रहित है। सूर्य, चन्द्रमा आदि कोई भी पदार्थ इसकी सदृशता को नहीं पा सकते हैं। यही मैं हूँ तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, जुगुप्सा, रति, अरति, हास्य, शोक, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद आदि के विकारी भाव मोहनीय कर्म जनित मल हैं, पर हैं, हेय हैं।

ज्ञानावरणादि आठ कर्ममल का सम्बन्ध भी पुद्गल है और स्थूल शरीर व उससे सम्बन्धित सर्व पदार्थ भी पर हैं। निज आत्मा की सत्ता सम्पूर्ण अन्य आत्माओं की सत्ता से भी निराली है। इस तरह के ज्ञान को पाकर यह ज्ञानी जीव अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के सिवाय सम्पूर्ण पर से उदासीन हो जाता है, बिल्कुल विरक्त हो जाता है।

निजात्मिक सत्ता में प्रेमालु होकर यह उसी की एक गुफा बनाता है और आप ही उसमें प्रवेश करके बैठ जाता है। मन, वचन, काय की किसी भी क्रिया को वहाँ प्रवेश नहीं होने देता है।

इस तरह एकान्तवास में बैठकर आप ही अपने से ध्यान की अग्नि जलाता है और उस अग्नि में आप ही अपने को डालकर तपाता है। इस तरह स्वात्मिक तप तपते हुए एक ऐसे अपूर्व आनन्द को पाता है जिसका वर्णन नहीं हो सकता। इस आनन्दरस का पान करते हुए यह अपने को सिद्ध परमात्मा के समान अनुभव करता हुआ परम सन्तोषी होता है।

10- जगत उपवन है

ज्ञाता-दृष्टा भेदविज्ञानी एक आत्मा सर्व प्रपञ्च जालों से रहित हो, जब अपनी दृष्टि को पसारता है तब उसे यह जगत एक विचित्र उपवन दिखलायी पड़ता है। जैसे उपवन में जब नाना प्रकार के पीपल, नीम, आम, नींबू, नारंगी, अमरूद, इमली, शरीफे, सेब,

अंगूर, अनार, गुलाब, चमेली, बेला, केवड़ा, खरबूजा, तरबूज, सेम, भिण्डी, परवल, खीरा आदि के अनेक वृक्ष नाना प्रकार की शोभा को लिए हुए दिखलायी पड़ते हैं तो मोही जीव उनमें आसक्त हो जाता है, उनकी शोभा देखता है, सुगन्ध लेता है, उनके फलों को खाकर स्वाद भोगता है, परन्तु तत्त्वज्ञानी जीव ऐसे मनोहर वन के मध्य एक वृक्ष के नीचे बैठ जाता है और सर्व चिन्ताओं को मिटाकर अपने को परमात्मा के ध्यान में संलग्न कर देता है, वैसे ही यह भेदविज्ञानी इस जगत में मानव, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि को व उनकी नाना प्रकार की क्रियाओं को देखकर उनके मोह में न फँसकर बिल्कुल उदासीन रहता है। भेदविज्ञान के प्रभाव से उसको यह सब पुद्गल नाटक दिखता है।

पुद्गल एक ऐसा बलवान द्रव्य है जो अपने स्वभाव से नाना प्रकार करतब करता है तथा जीवों के साथ मिलकर विचित्र क्रियाएँ बताता है। जगत में छह द्रव्य हैं जिनमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल तो बिल्कुल उदासीन हैं, क्रिया अर्थात् हलन-चलन रहित हैं। सर्व जीव अपने स्वभाव में रहते हुए निराकुल हैं, शान्त हैं, आकुलता रहित हैं, भ्रमण रहित हैं, संकल्प-विकल्प रहित हैं और क्रोधादि विकारों से शून्य हैं। एक पुद्गल में ही कुछ ऐसी विचित्र शक्ति है जिसके असर से आत्मा के प्रदेश सकम्प होते हैं व आत्मा के भावों में कषायों का झलकाव होता है जिससे वह क्रोध से संहार करने को, मान-अपमान करने को, मायाचार से ठगने को और लोभ व अन्याय से धन-संग्रह करने को तैयार हो जाता है। पुद्गल की ही समलता से जगत में हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, व परिग्रह के पाप फैले हुए हैं। इन्हीं के कारण जगत के जीव मदिरा पीनेवाले के समान उन्मत्त रहकर पुद्गल के प्रपञ्च में मोही होते हुए

चिन्ता की दाह में जलते हैं। कभी शोक कभी खेद कभी सन्ताप सहते हैं। भेदविज्ञानी ऐसा विचार कर सर्व पुद्गल मात्र से अपना नाता छोड़ देता है और सर्व जीवों से भ्रातृभाव कर आप ही अपने ज्ञानानन्दमय स्वभाव में तन्मय हो जाता है। फिर जिस आनन्द का भोग भोगता है उसका कथन वचन से हो नहीं सकता। वह एक अनुभवगोचर परम अमृत रस है, जिसका पान भव्य जीव ही करता है।

11- योग निद्रा

एक ज्ञानी आत्मा जब विचारने लगता है तो उसको पता चलता है कि जिसको वह मैं करके कहता है और जिसको ममकार करके पुकारता है, वह सब मैं नहीं हूँ न वह मेरा है। भेदविज्ञान के प्रताप से ही ऐसी निर्मल दृष्टि प्रकाशित हो जाती है जिसके द्वारा ज्ञानी को आत्मा का जो निज स्वभाव है वही मैं रूप भासता है व जो उसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्यादि गुण हैं उन्हीं में ममपना झलकता है। अनादिकाल से अज्ञानी ने कर्म के निमित्त से जो-जो पुद्गल पर्याय पायी थी उसी में वह अपनापना मानता था व जिन-जिन पदार्थों का सम्बन्ध था उन्हीं को मेरा मेरा करके मानता था। चारों गति की अनेक योनियों में अनेक प्रकार के भेष जीव ने धारण किए हैं, उन भेषों में अपनापना जानना ही मोहमयी अज्ञान है। इस अज्ञान के कारण इस जीव ने महान संकट उठाये हैं। इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोग की घोर यातनाएँ सही हैं।

आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान के कारण घोरतर कर्मबन्ध किया है। क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों के स्वाद का ही भोग किया है। कषायरहित निर्मल आत्मिक आनन्द का स्वाद नहीं प्राप्त किया है। अब तो इस ज्ञानी ने अपना स्वरूप पहचाना है। अब तो इसको

अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का पक्का निश्चय हो गया है। अब तो यह जान गया है कि मेरी सत्ता सर्व अन्य आत्माओं से तथा सर्व अनात्माओं से बिल्कुल निराली है। इसको अपने ही में परमात्मा का दर्शन हो रहा है। यह आप ही अपने को परमात्मा समझ रहा है। इसके उपयोग में शुद्धता का चित्र खिंच गया है। शुभोपयोग तथा अशुभोपयोग सर्व ही बन्ध के कारण मालूम हो रहे हैं। यह पुण्य-पाप दोनों को ही बेड़ी समझ रहा है। इसकी दृष्टि आत्मस्वातंत्र्य पर है। यह राग-द्वेष के बहिरंग कारण सर्व चेतन पदार्थों को अपने समान देखता हुआ समभावधारी हो जाता है। सर्व ही अचेतन पदार्थों से भी वीतरागी हो जाता है। यह निश्चित होकर निज तत्त्व की गुफा में प्रवेश करता है। वहीं विश्रान्ति करके स्वानुभव की चादर में गुप्त होकर योगनिद्रा में बेभान हो जाता है। उस समय जिस अपूर्व आनन्द का स्वाद पाता है वह वचन अगोचर है और मात्र अनुभवगम्य है।

12- आत्मबाग रमण

एक ज्ञानी महात्मा अपने अन्तरङ्ग लोक में जब दृष्टि पसार कर देखता है तो उसे बहुत से सङ्कल्प विकल्प नजर आते हैं। एक ज्ञान की परिणति होती है, मिटती है जब दूसरी होती है। यद्यपि ज्ञान जानने का काम करता है, परन्तु वह एक इन्द्रिय द्वारा एक काल में जानता है तब दूसरी इन्द्रिय द्वारा नहीं जान सकता है। जब मन के द्वारा जानता है तब इन्द्रियों द्वारा नहीं जान सकता है। पाँच इन्द्रियों और छठे मन के द्वारा क्रमवर्ती ज्ञान बड़ी भारी आकुलता का कारण है क्योंकि जब वह एक को जानता है तब दूसरे विषय को जानने की आकुलता पैदा हो जाती है।

ज्ञानी विचारता है कि क्या यह ज्ञान मेरी आत्मा का स्वभाव है ?

तब भेदविज्ञान के द्वारा उसे पता चलता है कि आत्मा पर ज्ञानावरण व दर्शनावरण का पर्दा पड़ा है। इनका जितना-जितना क्षयोपशम होता है उतना-उतना अल्प, अशुद्ध ज्ञान प्रगट होता है। यह ज्ञान अशुद्ध इसलिए है कि इस पर केवलज्ञानावरण का घोर पर्दा पड़ा हुआ है। यदि वह पर्दा न हो तब तो यह ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक प्रकाश है। इस प्रकाश में यह ताकत है कि उसमें सर्व ही जानने योग्य पदार्थ एक काल में झलकते हैं। यही वह पूर्ण ज्ञान है जिसमें किसी प्रकार का कोई अज्ञान नहीं रहता है। वास्तव में यही मेरा स्वभाव है। मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञान सब विभाव हैं। मेरा स्वभाव तो एक सहज शुद्ध ज्ञान है।

फिर मैं देखता हूँ कि मेरे अन्तरङ्ग में क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, ग्लानि और कामादि विकार बड़ी ही भयंकरता से अपना दर्शन दे रहे हैं। मैं जब भेदविज्ञान द्वारा विचारता हूँ तो ये भी मेरे स्वभाव नहीं हैं क्योंकि इनके कारण मेरे भीतर घोर आकुलता होती है, मेरा ज्ञान मलिन हो जाता है और मुझे बड़ा दुःख मालूम होता है। वास्तव में यह भी मोहनीय कर्म का रस है। मोहनीय कर्म के विपाक से आत्मा के सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान गुणों का विभाव परिणमन होता है। आत्मा स्वभाव से परम वीतराग व शान्तस्वरूप है। इसकी शान्ति का कोई घात नहीं कर सकता। जहाँ शान्ति है वहाँ आनन्द रहता है। भेदविज्ञान की दृष्टि से विचारते हुए यह आत्मा परमात्मा के साथ सदृशता रखता है। यह ज्ञानी अब सर्व विकारी भावों को त्याग कर निजानन्दमय आत्मा के रमणीक बाग में रमण करता हुआ जिस सन्तोष व सुख को प्राप्त कर रहा है उसका वर्णन नहीं हो सकता है।

13- आत्मा अकर्ता-अभोक्ता है

एक ज्ञानी महात्मा सर्व तरफ से चित्त को मोड़, प्रमाद भाव को छोड़ जगत की रचना का विचार कर रहा है। बुद्धि यही कहती है कि इस जगत की सर्व रचना अनादि है। अनादि वस्तु अकृत्रिम होती है। जगत द्रव्यों का एक समूह है। यद्यपि द्रव्य सब सत् होते हैं तथापि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप होते हैं। जगत के सर्व ही द्रव्य यद्यपि परिणमनशील हैं तथापि स्वभाव से ध्रुव हैं। वायु से मिलकर जल और जल से वायु होती है। लकड़ी का कोयला, कोयले की राख होती है। समुद्र के जल से भाप, भाप से मेघ, मेघ से जल होता है। अवस्था बदलती है परन्तु जड़ पुद्गलों का न जन्म है, न नाश है।

जगत में चेतनता व अचेतनता दोनों गुण अनुभवगम्य हैं। चेतनता गुण का धारी जीव और अचेतनता गुण का धारी अजीव कहलाता है। शुद्ध, निर्विकार ज्ञानानन्दमय, अशरीर परमात्मा में इच्छा, प्रयत्न, विकार व क्रिया, कुछ भी सम्भव नहीं है जो उसने किसी समय इस जगत का निर्माण किया हो। न वह इस जगत का उपादानकर्ता है न निमित्तकर्ता है।

परमात्मा के सदृश हर एक आत्मा भी है। यदि ज्ञान की दृष्टि से विचार किया जावे तो इस आत्मा का स्वभाव भी यही है। न वह किसी का उपादानकर्ता है, न निमित्तकर्ता है। संसारी आत्माएँ कर्मबन्ध सहित अशुद्ध हैं। उन कर्मों के प्रभाव से मन-वचन-काय द्वारा योग चलते हैं व राग-द्वेष-मोहपूर्ण उपयोग होता है। ये ही योग व उपयोग जगत में निमित्तकर्ता हो जाते हैं। यदि कर्मों का सम्बन्ध न हो तो यह आत्मा भी परमात्मा के समान अकर्ता ही है।

भेदविज्ञान बताता है कि मैं एक अकेला, अकर्ता, अभोक्ता, अविनाशी, अमूर्तिक, ज्ञाता, दृष्टा, निर्विकार, सत्, शुद्ध, परमानन्दमय,

यद्यपि बन्ध व मोक्ष की कल्पना से रहित तथापि नित्य मोक्षरूप और परम सिद्ध द्रव्य हूँ। इसके सिवाय कुछ भी मेरा नहीं है।

मैं अब सर्व से नाता तोड़, आप आपमें हित को जोड़, सर्व विकल्प जालों से मुक्त हो, स्वानुभूति से संलग्न होकर निज शुद्ध-बुद्ध परमात्मा को परमगुप्त शय्या पर शयन कराता हुआ जिस आनन्दामृत का पान कर रहा हूँ, वह वचन अगोचर व मन से भी परे है।

14- अन्तरङ्ग जगत विहार

एक ज्ञानी महात्मा एक परमाणु द्वारा घेरने योग्य आकाश के एक प्रदेश की तरफ दृष्टिपात करता है तो उस एक प्रदेश के भीतर पुद्गल के अनन्त सूक्ष्म स्कन्ध भरे हुए हैं, जीवों के प्रदेश भी हैं, धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय के प्रदेश हैं और काल का एक अणु है। एक जीव घनांगुल के असंख्यातवें भाग जघन्य शरीर की अवगाहना रखता है। असंख्यात प्रदेश संकुचित होकर इतने हो जाते हैं कि एक प्रदेश में संकुचित कितने ही प्रदेश आ सकते हैं। इन संकुचित आत्म प्रदेशों के साथ अनन्त तैजस व कार्माण वर्गणाएँ हैं। एक-एक वर्गणा में अनन्त अपूर्व शक्ति भरी हुई है। यद्यपि आकाश के इस एक प्रदेश में छहों द्रव्य हैं तथापि प्रयोजनभूत एक जीव द्रव्य है क्योंकि वह ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी है जबकि अन्य पाँच द्रव्य मात्र ज्ञेय हैं। शुद्ध जीव द्रव्य परमात्मा स्वरूप है।

इस जगत में जीव द्रव्य अनन्त हैं। यद्यपि सबकी सत्ता एक दूसरे से भिन्न है तथापि स्वभाव से सब समान हैं। भेदविज्ञान के प्रताप से सर्व ही जीव पर से रहित एकाकार शुद्ध दृष्टिगोचर हो रहे हैं। मुझे तो अपने स्वरूप से प्रयोजन है। मेरा स्वरूप अन्य शुद्ध आत्माओं के समान होने पर भी अपनी सत्ता द्वारा निराला ही है। जो कोई अपने

ही स्वभाव में तन्मय होता है उसी को ही अपने भीतर भरे हुए अतीन्द्रिय आनन्द का अपूर्व स्वाद आता है। वास्तव में भेदविज्ञान ही स्वात्मानुभव के लिए परमोपकारी साधन है स्वात्मानुभव ही मोक्षमार्ग है क्योंकि वहीं निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्चारित्र की एकता है। इस स्वात्मानुभव के विहारी महात्मा बाहिरी जगत में रहते हुए भी जगत से भिन्न रहते हैं और अन्तरङ्ग आत्म-जगत में सदा जागते रहते हैं।

इस जागृत अवस्था के होते हुए मिथ्यात्व, अविरति और क्रोधादि कषाय अपना आक्रमण नहीं करते हैं, तृष्णा की ज्वाला शमित हो जाती है, अविद्या की कालिमा मिट जाती है, मोहमयी मूर्च्छा अस्त हो जाती है, इन्द्रियों की चाह की दाह बुझ जाती है, मन के विचार बन्द हो जाते हैं, संसार सम्बन्धी भावों का पता नहीं चलता है, व्यवहारनय, निश्चयनय तथा सप्तभंगरूपनय का ज्ञान भले ही धारणा में रहे परन्तु उपयोग में इनकी तरङ्गावली मुद्रित हो जाती है जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष व पुण्य-पाप के भेद प्रभेद, ज्ञानावरणादि आठ कर्म, उनके उत्तर भेद व उनके आस्रव, बन्ध, उदय, उदीरणा और निर्जरा के प्रकार भले ही धारणा में रहें परन्तु शुद्धोपयोग की भूमिका में इनका पता नहीं चलता है।

स्वात्मानुभवी एक ऐसी सूक्ष्म दशा में पहुँच जाता है जिसमें सिवाय स्वात्मानन्द भोग के और कोई तरङ्ग नहीं झलकती है। यही भेदविज्ञान रूपी मित्र की कृपा का फल है। धन्य है भेदविज्ञान! तुम छद्मस्थों के सदा मित्र बने रहो।

15- दाल में नमक (Imp.)

एक ज्ञानी महात्मा चित्त को स्थिर करके जब अपने भीतर विचार करता है तब उसको यह दिखता है कि मैं जड़ व चेतन का

एक ऐसा मिश्रित पिण्ड हूँ जो अनादिकाल से एकमेक होकर चले आ रहे हैं। इनका घनिष्ठ मिश्रण ऐसा भयङ्कर है कि यह आत्मा ज्ञानी होते हुए भी मदिरा पीने वाले प्राणी की तरह उन्मत्त होकर अपने को बिल्कुल भूल रहा है और अनादिकाल से जो जो स्थावर व त्रस पर्यायें प्राप्त की हैं उनमें ही अपनापन मानता चला आया है। कर्म के उदय से प्राप्त भेषों में ही अपना असलीपना इस मूढ़ प्राणी ने मान लिया है। उन भेषों में रहते हुए जिन पदार्थों के संयोग से साता जानी उनसे राग व जिनसे असाता जानी उनसे द्वेष करता हुआ यह प्राणी और भी दृढ़ कर्म-बन्धनों से जकड़ा हुआ मिश्रित भाव में उलझता रहा है।

श्री गुरु के प्रताप से आज इसने भेदविज्ञान की दृष्टि का लाभ प्राप्त किया है। इस दृष्टि से देखते हुए इसे सर्व सच्चा भेद खुल गया है। मिश्र पदार्थों ने अपना असली स्वरूप भिन्न झलका दिया है। तब इसे यह बोध हो गया है कि मैं तो सर्वज्ञ, वीतराग, अमूर्तिक, परमानन्दमय, एक शुद्ध आत्मिक द्रव्य हूँ। मेरा सम्बन्ध न किसी पुद्गल के एक परमाणु से है, न अन्य आत्माओं से है, न आकाश, काल, धर्म व अधर्म द्रव्यों से है। जैसे दाल में नमक घुल जाता है वैसे मैं अचेतन की पर्यायों में घुल रहा हूँ। जैसे दाल से नमक अलग है वैसे मैं सर्व अचेतन कृत पर्यायों से निराला हूँ।

भेदविज्ञान वह मित्र है जो वस्तु स्वरूप को यथार्थ झलका देता है। इसी के प्रताप से इसे अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता अपने ही भीतर झलकती है। यह परतन्त्रता से उदासी पाता है और स्वतन्त्र होने के लिए स्वतन्त्रता का ही ध्यान करने में उपयुक्त हो जाता है, सोऽहम् मन्त्र की शरण लेते हुए यह सिद्ध सम अपने को ध्याता है। ध्याते-ध्याते यह कभी-कभी स्वरूप में स्थिरता पा लेता है तब मन, वचन,

काय से अतीत होकर यह शुद्ध आत्मा के उपवन के विलास में ऐसा तन्मय हो जाता है कि इसे परमानन्द का अपूर्व लाभ होता है। हमारे जैसे तटस्थ पुरुष उस व्यक्ति का वर्णन भले ही करें परन्तु वह ऐसी सौम्य स्थिति में पहुँच जाता है कि उसको मैं क्या हूँ, क्या नहीं हूँ, मैं एक हूँ या अनेक हूँ, मैं द्वैत हूँ या अद्वैत हूँ - इसकी कोई खबर नहीं रहती है। वास्तव में उसके अनुभव में एक मात्र अद्वैत आत्मा का ही स्वाद आता है। यही मोक्षमार्ग है व यही स्वतन्त्रता पाने का अमोघ मन्त्र है। यही वचनातीत भाव है।

16- आध्यात्मिक समुद्र स्नान (Nice)

एक ज्ञानी आत्मा जब भली प्रकार विचार करता है तब उसे पता चलता है कि जगत एक कोई अखण्ड द्रव्य नहीं है किन्तु अनेक भिन्न-भिन्न द्रव्यों का समुदाय रूप एक ऐसा समूह है जैसा अनेक वृक्षों का समूह रूप एक वन होता है। इस जगत में क्या है सो प्रत्यक्ष प्रगट चेतन और अचेतन है। इन्हीं के मूल भेद जैन सिद्धान्त ने छह द्रव्य बताये हैं।

भेदविज्ञान की दृष्टि से देखते हुए सर्व ही अनन्तानन्त जीव, सर्व ही अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु, सर्व ही असंख्यात कालाणु व धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय व आकाश द्रव्य ये सर्व जुदे-जुदे ही प्रतिभासते हैं। इस प्रतिभास में मेरा स्वभाव सर्व द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्म से भिन्न परमात्मावत्, शुद्ध, निर्विकार, ज्ञाता-दृष्टा, अविनाशी और परमानन्दमय झलकता है, भेदविज्ञान को न पाकर यह अज्ञानी जीव मलिन जलपान की तरह राग-द्वेष विशिष्ट अशुद्ध आत्मा का ही अनुभव करता है परन्तु भेदविज्ञान के प्रताप से जब शुद्ध निश्चयनय रूपी निर्मली को अपनी ही अशुद्ध आत्मा के भीतर डाल दिया जाता है तब अपना ही आत्मा परम शुद्ध अनुभव में आता है।

वास्तव में शुद्ध स्वरूप की भावना का साधन भेदविज्ञान है तथा शुद्ध स्वरूप की भावना का फल निर्विकल्प समाधि या स्वात्मानुभव है।

स्वात्मानुभव ही मोक्षमार्ग है। इसी में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की एकता है। यही योग है जो शिवनारी को आकर्षित करता है। यही वह औषधि है जो अज्ञान व कषाय के रोग का शमन करती है। यही वह मन्त्र है जो मोह सर्प के विष का निवारण करता है। यही वह अद्भुत वादित्र है जो चेतना को अपने स्वरूप में सदा जागृत रखता है। यही वह कमल पुष्प है जिसमें सम्यग्दृष्टि जीवरूपी भ्रमर आसक्त होकर उससे हटना नहीं चाहता है।

स्वानुभव ही वह चादर है जिसे ओढ़कर कर्म की सर्दी नहीं सताती है। यही वह समुद्र है जहाँ स्नान करने से राग-द्वेष का मल बह जाता है। मैं आज सर्व और नदियों का स्नान त्यागकर इस आध्यात्मिक समुद्र में ही निरन्तर अवगाहन करूँगा जिससे मैं सदा ही भव-सन्ताप के आताप से शून्य रहूँ और परम सुख-शान्ति का भोग करूँ।

17- आत्मसमुद्र का दर्शन (Imp.)

ज्ञातादृष्टा एक आत्मा सर्व जगत के प्रपञ्च जाल से रहित होकर जब निश्चिन्त बैठता है तब वह भेदविज्ञान की सहायता से तत्त्व का विचार करता है। यद्यपि व्यवहारनय से जैन सिद्धान्त ने जीवादि सात तत्त्व व पुण्य-पाप सहित नौ पदार्थों का विवेचन किया है और इनके श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बताया है तथापि निश्चयनय इनका प्रतिषेध करता हुआ भेदविज्ञान की तराजू से तोलकर इन सात तत्त्व व नौ पदार्थों में केवल जीव और पुद्गल - इन दो द्रव्यों को ही बताता है। भेदविज्ञान बताता है कि जीव जब ज्ञाता है तब पुद्गल अज्ञानी है। जब जीव ध्रुव है तब शरीरादि पुद्गल अध्रुव हैं। जब जीव शान्ति का

सागर है तब पुद्गल शान्ति में बाधक है। जीव जब सुख का धनी है तब पुद्गल दुःखों का मूल कारण है। जीव जब बन्ध-मोक्ष की वासना से रहित है तब पुद्गल बन्ध-मोक्ष की चर्चा में लगाता है। जीव जीव रूप है, पुद्गल पुद्गल रूप है। पुद्गल जीव का विरोधी है इससे त्यागने योग्य है परन्तु जीव ग्रहण करने योग्य है।

जहाँ भेदविज्ञान के प्रताप से अपनी ही आत्मा को ज्ञातादृष्टा, आनन्दमयी, सिद्धसम शुद्ध द्रव्य अनुभव किया जाता है वहीं सम्यग्दर्शन का साम्राज्य प्राप्त होता है। भेदविज्ञान ही सम्यक्त्व का उद्योत कराता है। सम्यक्त्व ही मोक्षमार्ग में प्रधान है। रुचि के बिना कोई कार्य नहीं होता है, रुचि बिना भोजन स्वादिष्ट नहीं भासता है, रुचि बिना वार्तालाप में रस नहीं आता है, रुचि बिना शास्त्र पाठ लाभ नहीं करता है, रुचि बिना पूजन का आनन्द नहीं होता है और रुचि बिना कोई भी कार्य यथार्थ नहीं हो सकता है। इसी तरह रुचि बिना आत्मोद्धार भी नहीं हो सकता है। आत्मोद्धार की रुचि ही सम्यग्दर्शन है।

सम्यक्त्वी जीव जगत की रचना को पर्यायों की अपेक्षा नानारूप व द्रव्य की अपेक्षा से छह द्रव्य रूप देखता है। वह सर्व ही आत्माओं को द्रव्य दृष्टि से एक रूप जानकर सबको परमात्मावत् देखकर रागद्वेष के विकारों से रहित हो जाता है। यहाँ तक कि वह पूज्य-पूजक, ध्याता-ध्येय के विचार को भी लांघ डालता है। उसे ऊँचे-नीचे का भेद नहीं रहता है। सर्व ही जीव जब उसे शुद्ध दिखलायी पड़ते हैं तब जगत की आत्माओं का एक समतारस से पूर्ण समुद्र बन जाता है। ज्ञानी जीव इसी अमृतमयी सागर में स्नान करने को परम स्वच्छता कारक मानता है। यही स्नान कर्म मैल को धोता है। जितने महात्मा गत समय में पवित्र हुए हैं वे इसी उपाय से हुए हैं।

शुद्धात्मा रूपी समुद्र का स्नान ही परम स्नान है। यह समुद्र हर

एक ज्ञानी आत्मा के भीतर सतत बहता है। जिनको भेदविज्ञान का लाभ नहीं है वे अपने भीतर बहते हुए भी इस निर्मल समुद्र का दर्शन नहीं कर पाते हैं। वे कठिन-कठिन तप साधते हुए भी कर्मबन्ध से और अधिक जकड़े जाते हैं। निजात्मिक स्नान ही शुद्धि का मार्ग है - ऐसा समझना परम हितकारी है।

मैं आज इसी बात को ध्यान में लेकर सर्व सङ्कल्प-विकल्पों से रहित हो अपने ही आत्मसमुद्र में मज्जन करता हुआ जो सम्यक्त्व, बोध व निजानन्द प्राप्त कर रहा हूँ उसका न तो विवेचन ही हो सकता है, न मनन हो सकता है। वह तो अनिर्वचनीय एक अद्भुत बात है।

18- मेरा दशलक्षण धर्म

एक ज्ञानी आत्मा सर्व चिन्ताओं से निवृत्त होकर एक कोने में बैठा हुआ अपने जीवन के सिद्धान्त पर विचार कर रहा है। उसको पता लगता है कि उसके भीतर दो प्रकार का जीवन हो रहा है। एक तरफ तो क्रोध का दौरा है तो दूसरी तरफ क्षमा का राज्य है। एक तरफ मान की कठोरता है तो दूसरी तरफ मार्दव की नम्रता है। एक तरफ माया का जाल बिछा हुआ है तो दूसरी तरफ सरलता का साफ-सुथरा पवित्र मैदान है। एक तरफ लोभ की वासनाएँ दौड़-दौड़कर चित्त को आकुल-व्याकुल कर रही हैं तो दूसरी तरफ सन्तोष व पवित्रता का अमृत भरा हुआ है।

एक तरफ असत्य भाव अपना विकट स्वरूप झलका रहे हैं तो दूसरी तरफ सत्य की पवित्र वायु चल कर सबको शान्ति पहुँचा रही है। एक तरफ असंयम भाव अपनी अविचारपूर्ण स्वच्छन्दता को फैलाकर अन्याय व अभक्ष्य में प्रेरणा कर रहा है तो दूसरी तरफ संयम भाव आकर आत्मा को मधुर व रसीली मिठास में आसक्त कर रहा है। एक तरफ इच्छाओं का विस्तार फैलकर क्षोभ का राज्य जमा

रहा है तो दूसरी तरफ आत्म-तपन रूप तपभाव निराकुल सुख व शान्ति भाव का स्रोत बहा रहा है। एक तरफ अत्यागभाव कृपणता फैलाकर कठोरता के पर्वत पर चढ़ाकर उसे नीचे गिरा रहा है तो दूसरी तरफ त्यागधर्म उदार बनाकर स्वपरोपकार के लिए सर्वस्व त्याग की भावना जागृत कर रहा है।

एक तरफ परिग्रह का मोह जगत के फंदों में उलझाकर रात-दिन पर का दास बना रहा है तो दूसरी तरफ आकिञ्चन्य धर्म सर्व परिग्रह से मोह छुड़ाकर व परम आत्मा की एकतामय रत्नत्रय भूमि में आराम दिलाकर अद्भुत निराकुल भाव जागृत कर रहा है। एक तरफ कुशील व काम का भाव मन को विह्वलकर इन्द्रियाधीन सुख की तृष्णा में आकुलित कर रहा है तो दूसरी ओर ब्रह्मचर्य का परम मनोहर पवित्र शीलभाव परम शुचिता में बैठाकर पर मङ्गलमय निर्वाण का दर्शन करा रहा है।

इस तरह अपने भीतर दो विचित्र धाराओं को बहती हुई देखकर यह ज्ञानी विचारता है कि यह विचित्रता क्यों है ? जिस तरह गंगा-यमुना का संगम प्रगट करता है कि गंगा का पानी श्वेत है और यमुना का पानी नीला है उसी तरह भीतर में क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य व ब्रह्मचर्य की धाराएँ झलकाती हैं कि ये सब आत्माराम का ही प्रादुर्भाव है, आत्मगुणावलि की ही धाराएँ हैं। जबकि क्रोध, मान, माया व लोभ, असत्य, असंयम, इच्छा, अत्याग, परिग्रह व अब्रह्म की कृष्ण धाराएँ बताती हैं कि ये सब पुद्गल कर्ममल शरीर के विकार हैं। द्वैत के साम्राज्य में ही ऐसी विचित्र अवस्था हो सकती है।

अब यह ज्ञानी भेदविज्ञान की दृष्टि फैलाता है और आत्मा व पुद्गल की भिन्न-भिन्न परस्पर विरुद्धता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता

है। मैं आत्मा हूँ न कि पुद्गल - इस भाव को जागृत करके आत्मा सम्बन्धी धाराओं को अपनी समझ व पुद्गल सम्बन्धी धाराओं को पर समझ अपनी धाराओं में अनुरक्त हो जाता है। इस भेदविज्ञान के प्रताप से वह एक ही पवित्र धारा में अवगाहन करता है और पुद्गल के विकार से छूट जाता है। मङ्गलमय आत्मिक गान को गाकर व आत्मिक वादित्त बजाकर यह एक आत्मा की तान में मग्न हो जाता है और तब जो परमानन्द पाता है उसका अनुभव करना दूसरे के लिए अतिशय दुष्कर है।

19- आत्मदेव आराधन

एक ज्ञानी आत्मा सर्व सङ्कल्प-विकल्पों को त्यागकर एकान्त में बैठकर मनन करता है तब उसको यह भान होता है कि मैं एक ऐसा व्यक्ति क्यों रहा हूँ जिसमें हर समय राग-द्वेष-मोह का साम्राज्य वर्त रहा है और जिसमें अज्ञान का भाव वर्त रहा है। क्यों मेरा जन्म-मरण होता है, क्यों रोग-शोक आदि होता है, क्यों इष्ट का वियोग व अनिष्ट का संयोग होता है और क्यों पुरुषार्थ करने पर कार्य सफल नहीं होता है - इस पर गम्भीरता से विचार करते हुए उसको यह झलकता है कि मैं मलिन जल के समान अशुद्ध हूँ। जैसे जल का स्वभाव निर्मल, शीतल तथा मिष्ट होने पर भी मिट्टी के संयोग से उसमें मलिनता, उष्णता तथा खारापना झलकता है वैसे इस मेरी आत्मा का स्वभाव ज्ञानमयी, शान्तिमयी तथा आनन्दमयी होने पर भी मेरे भीतर सूक्ष्म कर्मों के संयोग से अज्ञान, अशान्ति तथा दुःख झलक रहा है और सूक्ष्म कर्मवर्गणाओं से बना हुआ वह शरीर अदृश्य होने पर भी अपने कार्यों से दृश्य हो रहा है।

कार्य के देखने पर कारण का अनुमान किया जाता है। किसी का मुख उदास देखकर यह अनुमान कर लिया जाता है कि इसको

इष्टवियोग का कोई दुःख है। क्रोध से तमतमाते हुए मुख को देखकर यह जान लिया जाता है कि इसकी किसी से लड़ाई हुई है। यद्यपि लड़ते हुए उसने नहीं देखा है तो भी उस लड़ाई के फल से जो अवस्था झलक रही है उससे कारण का अनुमान किया गया है। यदि कहीं दिन के बारह बजे का समय होते हुए भी छाया हो तो तुरन्त अनुमान होता है कि बादलों ने सूर्य को ढक लिया है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है क्योंकि यह जानता है। जानने का स्वभाव सिवाय आत्मा के और कहीं नहीं पाया जाता है तथा उस ज्ञान की तरक्की भी होती है। ज्ञान कहीं बाहर से नहीं आता है। इससे सिद्ध है कि जितना अज्ञान का पर्दा हटता है उतना ज्ञान प्रकाशित होता है। जितना अज्ञान का पर्दा नहीं हटता है उतना ज्ञान छिपा रहता है। जो अज्ञान होता है वह सूक्ष्म ज्ञानावरणीय शरीर का ही होता है।

आत्मा में जब शान्ति झलकती है तब आत्मा का ज्ञान निर्मलता से काम करता है, किन्तु जब अशान्ति आ जाती है तब ज्ञान विकारी व आकुल हो जाता है इससे सिद्ध है कि आत्मा का स्वभाव तो शान्तिमय है। जो कुछ क्रोध, मान, माया, लोभ की आकुलता है वह किसी मल के संयोग से है, इसी को मोहनीय कर्म के सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध कहते हैं। आत्मा में दुःख की वेदना तब ही होती है जब अशान्ति होती है। जब शान्ति होती है तब स्वाभाविक सुख की वेदना होती है। इससे सिद्ध है कि आत्मा का स्वभाव आनन्दमय है। आनन्द का निरानन्दमय हो जाना ही सूक्ष्म मोहनीय आदि कर्मों का असर है। मैं आत्मा सिद्ध भगवान के समान ज्ञातादृष्टा, अमूर्तिक, परम निर्विकार, परम शान्त, परमानन्दमय एक चेतनदेव अपने ही शरीर मन्दिर में विराजित हूँ। मैं सर्व परभावों को छोड़कर एक इस ही

आत्मदेव की आराधना करके जो अद्भुत आनन्द पाता हूँ वह केवल अनुभवगम्य है।

20- अद्वैतानुभव

एक ज्ञानी आत्मा एक साधु को तपस्या करते हुए देखकर विचार करता है कि इसका भाव कौन से गुणस्थान का हो सकता है? वर्तमान पंचम काल की अपेक्षा इसका भाव प्रमत्तविरत तथा अप्रमत्तविरत छोटे व सातवें गुणस्थान का हो सकता है। प्रमत्तविरत गुणस्थान में सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है तथा सम्यक्चारित्र है परन्तु प्रमाद भाव से मिश्रित है, क्योंकि संज्वलन कषाय और नौ नोकषायों का तीव्र उदय है। अप्रमत्तविरत में रत्नत्रय के साथ इन्हीं तेरह कषायों का मन्द उदय है। यहाँ आत्मा और कर्म पुद्गल दोनों का मिश्रित भाव उपस्थित है।

आत्मा का स्वभाव रत्नत्रय है। दर्शन मोहनीय कर्म के तथा अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के न होने से जितना साधु के आत्मा का रत्नत्रय गुण विकास को प्राप्त है, उतना आत्मद्रव्य का प्रकाश है और उसके साथ जितना संज्वलन कषाय का व ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय का उदय है उतना अन्धकार या कालुष्य भाव या कर्म पुद्गल का झलकाव है। भेदविज्ञान कहता है कि कर्म पुद्गल जब आत्मा से भिन्न द्रव्य है तब इसको बुद्धिबल से भिन्न ही कर देना चाहिए, और अकेले एक आत्मद्रव्य को ही आत्मद्रव्य रूप देखना चाहिए, तब यह आत्मा अपने निज पूर्ण प्रकाश में जाज्वल्यमान स्वाभाविक भाव में कल्लोल करता हुआ ही दिखलायी पड़ेगा। वहाँ संसारी व मोक्ष अवस्था का तथा अशुद्ध व शुद्ध अवस्था का कोई विचार नहीं होगा। वहाँ तो यह

आत्मा अपने ही एक रस में प्रवाहित जैसा है वैसा ही झलकेगा। सूर्य के समान सर्वदर्शी, सर्वज्ञ, अनन्त वीर्यमय, परम वीतराग, परम सम्यक्त्वरूप, परमानन्दमय, अमूर्तिक, परमात्मस्वरूप, परमेश्वर, परम शिव, परम प्रभु, परम ऐश्वर्यमय, सहजानन्दी, परम स्वभावरमी और परम मङ्गलरूप दिखलायी पड़ेगा। मैं ऐसा ही हूँ, अन्य किसी भी कर्म संयोग से उत्पन्न दशारूप मैं नहीं हूँ - यह भेदविज्ञान जब उत्पन्न होता है तब द्वैतभाव का अभाव होता है।

दृष्टिपथ से पर को अलग कर देने से तथा आपको आप स्वभाव में सन्मुख कर देने से एकाएक अद्वैतभाव जग उठता है। इसी को स्वानुभव, स्वसंवेदन, स्वरूपाचरण व आत्मध्यान कहते हैं। यही कर्मों के दग्ध करने को परम अद्भुत अग्नि है, यही मोक्षमार्ग है, यही परमामृतप्रद औषधि है जो आत्मा को पूर्णता की तरफ ले जाती है। जो इस स्वानुभव में तन्मय होता है उसको कोई विचार की तरङ्गावली नहीं उठती है, वह तो आत्मरस पान में उसी तरह मग्न हो जाता है जिस तरह भ्रमर कमलरस पान में तन्मय हो जाता है। उसे रात-दिन की खबर ही नहीं रहती है और जीने-मरने की चिन्ता भी नहीं रहती है।

स्वानुभव योगी को जीव-अजीव की कल्पना भी नहीं होती है और अस्ति-नास्ति, एक-अनेक की भावनाएँ सब क्षय हो जाती हैं। अद्वैत भाव में उसे एक आत्मिक आनन्द के रस का पान होता है। उसकी स्वरूप आसक्ति वचन के गोचर नहीं है। वास्तव में स्वानुभव के समय में स्वानुभव कर्ता के मन, वचन, काय अपनी क्रिया से रहित हो गये हैं। इस भाव को वे ही जान सकते हैं जो स्वयं मन, वचन, काय के कार्य से रहित होकर, आप आपमें स्थिर हो जावें। धन्य है भेदविज्ञान! तेरे ही प्रताप से आत्मा का साक्षात्कार होता है।

21- निर्विकल्प समाधि

एक ज्ञानी आत्मा जगन्मात्र के जीवों से प्रेमालु होता हुआ एक उद्यान की सैर कर रहा है। उस उद्यान में आम, नारंगी, केला, अमरूद, अनार, सेब, अंगूर, फालसे, जामन, बेर, इमली आदि के वृक्ष प्रफुल्लित हो रहे हैं। कहीं गुलाब, चमेली, बेला, केवड़ा, केतकी, चम्पा आदि के सुगन्धित फूल फूल रहे हैं तो कहीं मनोहर पत्तों से शोभित नीम, पीपल, बरगद आदि के वृक्ष शोभनीक हो रहे हैं। उद्यान में बहुत छोटे, मध्यम व दीर्घकायी अनेक वृक्ष हैं। सर्व अपनी-अपनी मर्यादा में विराजित हैं। कोई किसी को हानि नहीं पहुँचा रहा है। वास्तव में इस उद्यान में पूर्ण अहिंसा का दृश्य नजर आ रहा है। न कोई वृक्ष किसी से राग कर रहा है, न कोई किसी से द्वेष। वीतरागता तथा समता भाव के राज्य में हिंसा कैसी!

इस दृष्टान्त से ज्ञानी जीव सर्व जीवमात्र की सांसारिक सत्ता का जब विचार करता है और किसी समय उनको सोई हुई अवस्था में पाता है तब उस समय भी व्यवहार के ऊपर कथित दृष्टान्त के समान उनमें परस्पर अहिंसात्मक भाव ही देखता है, न कोई किसी से राग कर रहा है न कोई किसी से द्वेष। अब यह भेदविज्ञान की दृष्टि से जगत के सर्व प्राणियों को देखता है तो मालूम होता है कि नारकी और देवों के साथ इन पौद्गलिक तीन शरीरों का सम्बन्ध है - वैक्रियक, तैजस तथा कार्माण शरीर। आत्मा उसे सर्व नारकी तथा देवों का एक समान शुद्ध, ज्ञातादृष्टा, वीतराग, आनन्दमय व अमूर्तिक, अविनाशी दिखलायी पड़ता है। मानवों व तिर्यञ्चों में औदारिक, तैजस व कार्माण शरीरों का सम्बन्ध है पर किसी मुनि के साथ आहारक शरीर का भी सम्बन्ध है। आत्मा सर्व ही पशु व मानवों का शुद्ध ज्ञानानन्दमय, परमात्मावत् निरञ्जन और निर्विकार है।

भेदविज्ञान पुद्गल और जीवों के संयोगजनित भावों को या उनकी संयोगिक अवस्थाओं को भिन्न-भिन्न जानकर आत्मा को आत्मा रूप तथा पुद्गल को पुद्गल रूप देखता है - एक प्रकाश है तो दूसरा अन्धकार है, एक अमूर्तिक है तो दूसरा मूर्तिक है, एक नित्य है तो दूसरा स्कन्धापेक्षा या संस्कारापेक्षा अनित्य है, एक सुख रूप है तो दूसरा दुःख रूप है, एक सुख का कारण है तो दूसरा दुःख का कारण है, एक मोक्ष रूप व स्वतन्त्र है तो दूसरा बन्ध रूप व परतन्त्र है और एक ग्रहण करने योग्य है तो दूसरा त्याग करने योग्य है।

जैसे विवेकी दाल से छिलके को, चावल से भूसे को, सुवर्ण से किट्ट-कालिमा को, पानी से कीचड़ को, जल से कमल को, जल से अग्नि को, समुद्र से पवन को, तेल से तिल भूसी को, अग्नि से ईंधन को, ज्ञान से ज्ञानावरण कर्म को, दर्शन से दर्शनावरण को, आत्मवीर्य से अन्तराय कर्म को, सम्यग्दर्शन से मिथ्यादर्शन को, स्वरूपाचरण चारित्र से अनन्तानुबन्धी कषाय को, वीतराग भाव से अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन कषाय को तथा आत्मानन्द से विषय सुख को भिन्न-भिन्न जानता है, वैसे वह आत्मा को सर्व अनात्माओं से, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल से तथा सर्व अन्य आत्माओं से भिन्न जानता है। भेदविज्ञान के प्रताप से आत्मा को आत्मस्वरूप जानकर तथा श्रद्धानकर वह उसी में आचरण रूप हो जाता है तब आत्मानुभव का अपूर्व भाव जागृत हो जाता है और तब वह एक निर्विकल्प समाधि में पहुँचकर जिस मनोहर व अनुपम आनन्द को पाता है वह वचन अगोचर है।

22- ज्ञानचेतना

एक आत्मज्ञानी महात्मा एकान्त में बैठकर जब जगत का दृश्य विचारता है तो उसे वह नाना रूप भासता है, अनित्य झलकता है

तथा परिवर्तनशील नजर आता है परन्तु जब वह उसे द्रव्यदृष्टि से देखता है तो उसे वह नित्य भासता है क्योंकि वह सत् रूप अनादि से अनन्त काल तक चलने वाले जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल - इन छह द्रव्यों का समुदाय है। इन छहों के भीतर उसको एक जीवद्रव्य ही सार व ग्रहण करने योग्य दिखता है क्योंकि जीव अपने को भी जानता है व पर को भी जानता है, जीव ज्ञाता भी है ज्ञेय भी है, जबकि अन्य पाँच द्रव्य ज्ञाता नहीं हैं किन्तु ज्ञेय ही हैं अर्थात् किसी के द्वारा जानने योग्य हैं।

जीव द्रव्य सार है - ऐसा जानते हुए यह भेदविज्ञानी जब अपने जीव द्रव्य पर आता है तब वहाँ चौदह गुणस्थानों में से अपने को किसी एक गुणस्थान में पाता है तथा इन चौदह मार्गणाओं में से सभी का झलकाव अपने में पाता है - गति में मनुष्य गति है, इन्द्रिय में पाँचों इन्द्रियाँ हैं, काय में त्रस काय है, योग में मन, वचन, काय तीनों योग हैं, वेद में तीनों ही का झलकाव है, कषाय में सर्व ही अपना राज्य जमा रही हैं, ज्ञान में मति व श्रुत दो हैं, संयम में असंयम भाव है, दर्शन में चक्षु व अचक्षु दो दर्शन हैं, लेश्या में छहों के होने का पात्र है, भव्य में भव्य है, सम्यक्त्व में क्षयोपशम सम्यक्त्वी है और सैनी है तथा आहारक है, परन्तु जब वह अपने को द्रव्यदृष्टि से देखता है तब वहाँ उसे न कोई गुणस्थान नजर आता है, न कोई चौदह मार्गणाएँ ही दिखती हैं। पानी में भिन्न-भिन्न प्रकार के रङ्गों के मिश्रण के कारण जैसे पानी के अनेक भेद हो जाते हैं वैसे जीव में नाना प्रकार के कर्मों के मिश्रण के कारण जीव के नाना भेद हो जाते हैं। जैसे पानी रंग के मेल बिना अपनी निर्मलता में झलकता है वैसे यह जीव भी कर्म के मेल बिना अपनी शुद्ध चिदाकार परिणति में सदा झलकता है।

इस तरह भेदविज्ञान के प्रताप से यह ज्ञानी अपने को सिद्ध

भगवान के समान परमशुद्ध, ज्ञाता-दृष्टा, आनन्दमयी व वीतराग अनुभव करता है और अपनी सत्ता को अन्य आत्माओं की सत्ता से भिन्न जानता है। अब यह चंचलता से मुँह मोड़ता है। मन द्वारा विचार करना, वचनों से बोलना व शरीर से हलन-चलन करना छोड़ता है। कर्मजनित अपनी सर्व अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग अवस्थाओं से भी उदास हो जाता है। एकाकार ज्ञानचेतना के स्वाद में मग्न हो यह ज्ञानी दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र आदि गुणों को धरता हुआ भी उनकी तरफ से राग रहित हो जाता है तथा केवल एक अभेद अनुभवगम्य निजात्मा के अखण्ड अमृतमयी रस का पान करता हुआ यह जिस सुख-शान्ति को भोगता है वह वर्णनातीत व चिन्तनातीत है।

23- आत्मिक उपवन

एक ज्ञानी आत्मा सर्व सङ्कल्प-विकल्पों को दूरकर एकान्त में जाकर भेदविज्ञान की महिमा का विचार कर रहा है। इस दृश्यमान जगत में यदि देखा जावे तो सर्व ही पदार्थ विचित्रता को दिखा रहे हैं। आत्माएँ नाना प्रकार के कर्मों के रङ्ग से रञ्जित होकर देव, पशु, नर, नारक रूप व क्रोध, मान, माया, लोभ रूप व मुनि, गृहस्थ, श्रावक, साधारण गृहस्थ व अतिशय अज्ञानी म्लेच्छ रूप दिखायी दे रही हैं। जैसे रुई के वस्त्र नाना प्रकार के रङ्गों से रङ्गे हुए नाना रङ्ग रूप दिखलायी दे रहे हैं वैसे आत्माएँ भी भिन्न रूप से झलक रही हैं। जिस सूक्ष्म जड़ पदार्थ का उससे सम्बन्ध है उसने आत्मा की स्वच्छता को इतना तिरोहित कर दिया है कि आप आत्मा रूप होते हुए भी अपनी आत्मा का दर्शन नहीं हो पा रहा है। इसी कारण अज्ञान का प्रबल जोर है। यह अज्ञान जगत के प्राणियों को उन्मत्त बना देता है। वे पुत्र-पौत्रादि के संयोग में रागी व वियोग में द्वेषी हो जाते हैं। धनादि के लाभ में हर्षित व उसकी हानि में शोकित हो जाते

हैं। इन्द्रिय-विषयों के भोग के तृषातुर होते हुए भी ये प्राणी उन विषयभोगों को रोचक करने के लिए नाना प्रकार के हिंसा, असत्य, चोरी आदि कुकर्म कर लेते हैं। वे शुद्ध आत्मिक सुख के अनुभव से शून्य हैं।

भेदविज्ञान की आँख जिसको प्राप्त हो जाती है वह आत्मा को अनात्मा से भिन्न देख लेता है। उसके ज्ञान में आत्मा परमात्मा रूप ही झलकता है। पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमय, अमूर्तिक और अविनाशी दिखता है व उसे शुद्ध आत्मा का भाव प्रगट हो जाता है। भेदविज्ञान के प्रताप से आत्मज्ञान को पाकर जब वह आत्मस्थ हो जाता है, संसार की वासनाओं को लांघकर वासना रहित मोक्ष के भाव में अनुरक्त हो जाता है, जगत के विचित्र उद्यान से पार होकर साम्यता के हरितवर्ण से प्रफुल्लित नाना शुद्ध गुणों के तरुओं से शोभित एक अनिर्वचनीय में पहुँच जाता है तब सर्व विकारों से रहित यह आत्मा अपने को परमात्मरूप अनुभव करता है। इस स्वानुभव के प्रताप से यह एक अद्वैत भाव में पहुँच जाता है, जहाँ न कोई शिष्य है न कोई गुरु है। तब यह सदा ही परमानन्द निमग्न रहा करता है और सर्व आकुलताओं से छूट जाता है।

24- सच्चा जौहरी (V.Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा चर्म चक्षु को बन्द करके जब ज्ञान की चक्षु से देखने लगता है तो उसको विदित होता है कि कोई एक ऐसा रत्न है जो पुद्गल या जड़ पदार्थ के बहु संचित ढेर में लुप्त हो रहा है। श्रीगुरु परम भेदविज्ञानी महात्मा के उपदेश से जब उसको यह निश्चय हो जाता है कि मेरा अपूर्व रत्न मेरे ही पास है परन्तु कर्म व नोकर्म पुद्गलों के ढेर के नीचे दबा पड़ा हुआ है तब उसे जो आनन्द होता है वह वचन अगोचर है।

एक दरिद्री को कोई ऐसा बता दे कि तेरे घर में निधि गढ़ी है, तू खोदेगा तो उसे अवश्य पाएगा। यदि उसे उस वक्ता के कथन पर विश्वास है तो उस दरिद्री के सुख का पार नहीं हो सकता। फिर वह घर को खोदने लगता है और खोदते-खोदते उसे वह निधि अवश्य मिल जाती है। निधि तो बिल्कुल परोक्ष ही होती है परन्तु वह शुद्धात्मारूपी रत्न जो कर्म व नोकर्म के मध्य में लुप्त पड़ा है बिल्कुल प्रच्छन्न नहीं है, उसका आत्मा तो प्रत्यक्ष झलक रहा है। ज्ञान, शान्ति, सुख, वीर्य की प्रगटता उसी का अंश है। इस कुछ प्रगट लक्षण से लक्ष्य का निश्चय करके जो कर्म के ढेर को खोदकर फैंकेगा वह अवश्य निजात्मारत्न को झलका पाएगा।

राग-द्वेष-मोह से क्योंकि कर्मरज का सञ्चय होता है इसलिए वीतराग भाव ही कर्मरज को फैंकने में समर्थ है। इस कारण यह मुमुक्षु वीतराग भाव की प्राप्ति के लिए उद्यमशील हो जाता है। जगत की सर्व पर्यायों को अनित्य मानता हुआ, इष्टवियोग वा अनिष्ट संयोगरूप समझता हुआ, यह सर्व स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई, बहन, स्वजन, परजन, मकान, वस्त्र, भोजन, धन, धान्य, राज्यादि से विरक्त हो जाता है और एक शाश्वत परमानन्दमय निर्वाण सुख को ही उपादेय मानता है। उसकी तरफ लक्ष्य रखना ही वीतरागता को बढ़ावा देना है।

वास्तव में जिसको प्राप्त करना ही उसी को उपादेय मानके पकड़कर खींचने से वह वस्तु प्राप्त हो जाती है। लकड़ी कीचड़ में फंसी है, उसकी मूठ हाथ में है, तब बलपूर्वक खींचने से सब लकड़ी हाथ में आ जायेगी। आत्मा की निशानी ज्ञान चेतना है अर्थात् ज्ञानानन्द का स्वाद है। उसी की तरफ उपयोग रखना ही आत्मा का सर्वस्व अपने हाथ में प्राप्त करना है। भेदविज्ञान की महिमा निराली है। इसी से सर्प और रस्सी का, व्यञ्जन और लवण

का, शीत जल और अग्नि की उष्णता का, जल और दूध का, जल और कीच का एवं चावल और भूसी का भेद अलग-अलग झलकता है। यही अनात्मा के मध्य में स्थित आत्मा के सर्वाङ्ग स्वरूप का दर्शन कराता है। जो भेदविज्ञान के पारखी हैं वे ही निर्वाण के सच्चे जौहरी हैं।

25- अमृतपान (Imp.)

एक ज्ञानी वीर अपने आपको परम वीर बनाने के अभिप्राय से भेदविज्ञान की शरण ग्रहण करता है। भेदविज्ञान वह निर्मल आरसी है जिसके प्रताप से सब मूलवस्तु पृथक्-पृथक् झलक जाती है और वे मिश्रित पर्यायों जो प्राणी को राग, द्वेष, मोह के उत्पन्न करने में सहायक हैं, एकदम नहीं दिखलायी पड़ती हैं। जगत का सम्पूर्ण दृश्य मिश्रित पर्यायों का ही खेल है। घर, बर्तन, वस्त्र, सामान आदि पुद्गल की पर्याय हैं।

कानों से ग्रहण करने योग्य सर्व ही सुस्वर-दुःस्वर शब्द पुद्गल की पर्याय हैं। आँखों से देखने में आने वाले सर्व वर्ण भी पुद्गल के गुण व गुण की विकार पर्याय हैं। आँखों से दिखने वाली धूप, छाया, रोशनी भी पुद्गल की पर्याय हैं। नासिका से ग्रहण के योग्य सर्व ही सुगन्ध तथा दुर्गन्ध पुद्गल के गुणों का विकार है। जिह्वा से जानने में आने योग्य सर्व ही प्रकार के रस पुद्गल के ही गुण के विकार हैं। शरीर से स्पर्श में आने योग्य हवा आदि व ठण्डा-गर्म, रूखा-चिकना, नरम-कठोर, हल्का-भारी ये सब पुद्गल की पर्याय हैं। पाँचों इन्द्रियों से जो कुछ ग्रहण में आता है वह सब पुद्गल है।

एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सर्व जीव जन्तु, जीव और पुद्गल के मिश्रित स्कन्ध हैं। इनमें जीव भिन्न हैं। जीव ज्ञान, दर्शन,

सुख, वीर्यमय शुद्ध, निर्विकार परमात्मा के समान है। साथ में रागादि भावकर्म; ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म; औदारिक, तैजस, वैक्रियक व आहारक शरीरादि नोकर्म सब पुद्गलमय हैं। मैं जो कुछ हूँ सो पुद्गल की सर्व रचनाओं से पृथक् हूँ। इस भेदविज्ञान से द्रव्यों को अलग-अलग जानकर स्वहित कार्यकर्ता का यह कर्तव्य है कि प्रयोजनभूत तत्त्व को ग्रहण करें और सर्व अप्रयोजनभूत तत्त्व का त्याग कर दें।

मुमुक्षु का प्रयोजन स्वतन्त्रता तथा स्वाधीन सुख व शान्ति का लाभ है। यह हेतु तब ही सिद्ध हो सकता है जब सर्व ही अनात्मा से नाता तोड़ा जावे और केवल एक आत्मा में ही रञ्जकता प्राप्त की जावे। केवल एक अपने आपको ही रुचि व ज्ञान में लाकर आपका ही अनुभव किया जावे। इसलिए मैं सर्व प्रपञ्च जालों से मुँह मोड़, केवल एक अपनी आत्मा से नाता जोड़, राग-द्वेष-मोह की जंजीरों को तोड़, सर्व त्यागने योग्य भाव व द्रव्यों को छोड़, एक शुद्धात्मा के ध्यान में तन्मय होता हूँ और उसी ध्यान की एकतानता में बैठकर जिस अमृत रस का पान करता हूँ, वह किसी भी शब्द से वर्णन नहीं किया जा सकता।

26- स्वरमणोद्यान (Nice)

एक ज्ञानी आत्मा जब सर्व प्रपञ्च जालों से अलग होकर एकान्त में बैठता है तब उसके अन्तरङ्ग में ऐसा झलकता है कि वह एक ऐसा अमूल्य रत्न है जो अनादि काल से आने-जाने वाले कर्मों के जल-प्रवाह के भीतर पड़ा था और राग-द्वेष मोह की कलुषित तरङ्गों के क्षोभ के कारण उसका दर्शन नहीं होता था। मिथ्यात्व के अन्धेरे में अब तक तो इसे अपनी खबर ही नहीं थी। मिथ्यात्व के अन्धकार के हटने से व सम्यक्त्व का प्रकाश होने से इसके भीतर अब

भेदविज्ञान की दृष्टि झलक गयी है जिससे इसे अपना रत्न सम रूप कर्ममल के बीच में पड़ा हुआ ऐसा बोध हो रहा है। इसको अपने रत्नपने का पूर्ण निश्चय हो गया है। अब केवल इस कर्ममल के ढेर को पृथक् करना है, जिससे अपना रत्न अपने हाथ में आ जावे। इस कर्म को चारित्र कहते हैं। चारित्र के लिए भी ज्ञानी जीव भेदविज्ञान का सहारा लेता है। राग-द्वेष की कालिमा को हटाना ही चारित्र है। वीतराग भाव ही चारित्र है। स्वस्वरूप में थिरता पाना ही चारित्र है।

भेदविज्ञान के प्रताप से यह ज्ञानी अपनी बुद्धि को तीक्ष्ण बनाता है और उस तीक्ष्ण बुद्धि से बड़ी चतुरता के साथ अपने ही रत्न की तरफ दृष्टि को ले जाता है। जब-जब दृष्टि निज रत्न पर जमती है तब ही चारित्र का प्रकाश होता है। इस धाराप्रवाही चारित्र के प्रभाव से वीतरागता के अंश बढ़ते हैं और राग-द्वेष के अंश घटते हैं जिससे कर्मों का हटना अधिक व बन्ध अल्प होता है। धीरे-धीरे कर्मों का मैल अधिक-अधिक दूर होता जाता है। एक दिन ऐसा आ जाता है जब रत्न को निकाल लिया जाता है, तब वह रत्न अपनी मनोहर आभा से सदा चमकता रहता है। इसी रत्न को निर्वाण रूप, मोक्ष रूप, सिद्ध रूप, ईश्वर स्वरूप, परंब्रह्म रूप व परमानन्दमय शान्त सुधा का सागर कहते हैं।

भेदविज्ञान जगत के सर्व प्रपञ्चों से भिन्न एक अनुभवगम्य पर्याय का संकेत कराता है। जितने भाव साधक अवस्था में साधक कहे जाते थे वे ही यहाँ बाधक हो जाते हैं। यद्यपि शब्दों के आडम्बर से उस अपूर्व पदार्थ को बताने का प्रयत्न किया जाता है तथापि शब्दों के वाच्य मात्र भाव से उसका पता नहीं चलता है। मन के जो विकल्प होते हैं उन सबसे बाहर वह है, इसी से वह विकल्पातीत है। भेदविज्ञान ने इतनी तो कृपा की है कि मुझे यह बता दिया है कि

इन्हें मैं अनात्मा समझूँ। इन अनात्माओं से परे जब साधक की प्रज्ञा जाती है तब उसे निज रत्न का दर्शन हो जाता है। कठिन से भी कठिन व सुगम से भी सुगम निज वस्तु को पाना है।

अब मैं श्रीगुरु के उपदेशे हुए मार्ग के अनुसार मन, वचन, काय की गुप्तिमयी एक अत्यन्त प्रच्छन्न गुफा के भीतर बैठता हूँ। इस गुफा को साम्यभाव कहो, समाधि कहो, सामायिक कहो, मोह-क्षोभ रहित आत्मपरिणाम कहो, रत्नत्रय की एकता कहो, स्वरूपाचरण चारित्र कहो, स्वसमय कहो, स्वात्मध्यान कहो अथवा स्वरमणोद्यान कहो। मैं अब इसी उद्यान में क्रीड़ा करता हुआ जिस आत्म-स्वसंवेदन का आनन्द पा रहा हूँ, उसका अनुभव, अनुभवकर्ता को ही आ सकता है।

27- अपूर्व सम्यग्ज्ञान (Nice)

एक ज्ञानी आत्मा एक वृक्ष की छाया के नीचे बैठा हुआ एक आम के फल का विचार कर रहा है। वह सोचता है कि इस फल में बहुत सा भाग निःसार है, थोड़ा सा ही सार है। सार ही खाने योग्य है, शेष त्यागने योग्य है। उसके इस तरह के ज्ञान व श्रद्धान होते ही उसे उस फल के खाने जैसा सन्तोष हो जाता है। इसी दृष्टान्त से जब वह अपनी आत्मा की तरफ लक्ष्य देता है तो उसको भेदविज्ञान की दृष्टि से यही झलकता है कि मैं एक शुद्ध आत्माराम हूँ, परंब्रह्म स्वरूप हूँ, सिद्ध सम शुद्ध हूँ, स्फटिक मूर्तिसम निर्विकार हूँ, आकाश के समान निर्लेप हूँ, वायु के समान असंग हूँ, सूर्य के समान तेजस्वी व प्रतापशाली हूँ, चन्द्र के समान सुधा का वर्षाने वाला हूँ, समुद्र के समान गुण रूपी रत्नों की खान हूँ। मेरे साथ जो कुछ भी पुद्गल का सम्बन्ध है वह सब मुझसे निराला है।

भेदविज्ञान की दृष्टि से वह अपने भीतर आपको ही परमात्मा रूप देखता है और बार-बार का यह मनन उसे परमात्मा रूप होने की श्रेणी पर आरूढ़ कर देता है।

भेदविज्ञान की दृष्टि बहुत ही मनोहारिणी व सत्य प्राप्त कराने वाली है। भेदविज्ञान ऐसी पैनी छैनी है जो आत्मा को अनात्मा से एकदम ऐसा भिन्न-भिन्न करके पृथक् कर देती है कि आत्मा के गुण व पर्याय आत्मा में रहते हैं तथा अनात्मा के गुण पर्याय अनात्मा में रहते हैं।

भेदविज्ञानी महात्मा पर यदि कभी लक्ष्मी कृपादृष्टि करती है और अटूट धन का संग्रह करा देती है तो भेदविज्ञानी उस धन को पर ही समझता है, पुण्य का विपाक समझता है। पुण्य क्षणिक है और पुण्य का विपाक भी क्षणिक है। कभी पाप के उदय से धन चला जाता है, सन्तान की हानि हो जाती है अथवा संकट पर संकट आ जाते हैं तो भी वह उन्हें पाप का विपाक समझकर उनसे उदासीन रहता है।

भेदविज्ञानी जगत को पर्याय दृष्टि से देखना छोड़कर मात्र द्रव्य दृष्टि से देखता है तब सिवाय शुद्ध जीव, शुद्ध पुद्गल, शुद्ध आकाश, शुद्ध काल, शुद्ध धर्म व शुद्ध अधर्म द्रव्य के और कुछ दिखाई नहीं पड़ता। जहाँ आप भी शुद्ध, पर भी शुद्ध और सब सम्बन्ध भी शुद्ध अनुभव में आवें वहाँ राग-द्वेष-मोह का तम जरा भी नहीं दिखायी पड़ता। इस अपूर्व सम्यग्ज्ञान के प्रताप से यह जीवात्मा कर्मों से भारी होने पर भी अपने को हल्का जानता है। धीरे-धीरे इस ज्ञानी के भीतर पर्यायदृष्टि बन्द होती जाती है और द्रव्यदृष्टि का विकास होता जाता है, तब इसके समताभाव आ जाता है, सामायिक भाव झलक जाता है, तब वह सर्व प्रपञ्च जालों से अलग हो अपने ही भीतर दृष्टि धरता है और बड़ी गौर से आप ही आपमें तन्मय हो जाता है। उस

समय यह जो अनिर्वचनीय सुख पाता है उसका वर्णन कोई नहीं कर सकता।

28- साम्यवन क्रीड़ा (V. Nice)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जालों से रहित हो जब एकान्त में बैठता है तब वह यह विचार करता है कि मैं क्षीरसमुद्र के समान एक शुद्ध पदार्थ हूँ। जैसे समुद्र अथाह व गम्भीर है वैसे मैं अनन्त गुणों का समुदाय परम गम्भीर हूँ। जैसे समुद्र परम शीतल है वैसे मैं परम शान्त व वीतराग हूँ। जैसे समुद्र परम मिष्ट है वैसे मैं परमानन्दमयी हूँ। मेरी सत्ता में सिवाय मेरी सत्ता के और कोई सत्ता नहीं है। वास्तव में सत् पदार्थ अपनी मर्यादा में रहने वाला ही होता है।

हर पदार्थ में एक सामान्य अगुरुलघु नाम का गुण रहता है जिससे वह पदार्थ अपने अनन्त गुणमयी समुदाय को कभी नहीं त्यागता और उसका एक भी गुण उसमें से नहीं छूटता, न उसके गुण में कोई हास होता है, न कोई गुण बाहर से आकर उसमें मिलता है। यही कारण है जो एक जीव किसी अन्य जीव में वा किसी पुद्गल परमाणु में परिवर्तित नहीं होता है। ऐसी वस्तु की मर्यादा होते हुए मैं किसको अपना कहूँ व कौन मुझको अपना कहे। यह अहङ्कार-ममकार का प्रपञ्च जाल है व भ्रम भाव ही है जो मोह, राग, द्वेष का कारण है।

जहाँ भेदविज्ञान की दृष्टि से सर्व पदार्थों का निज स्वरूप विचार किया जाता है, वहाँ मेरा आत्मा एक निराला, स्वतन्त्र, अविनाशी पदार्थ झलकता है। मेरा अब यही कर्तव्य आन पड़ा है कि मैं अब सर्व से नाता तोड़ूँ और केवल अपनी ही निज सत्ता से नाता जोड़ूँ। मुझे न तो सिद्धों से काम है, न अरिहन्तों से प्रयोजन है, न आचार्य,

उपाध्याय, साधु से कोई सरोकार है, न मुझे बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा के विकल्पों से कोई प्रयोजन है, न मैं जीवाजीवादि सात तत्त्वों का विकल्प करता हूँ। मैं तो एकाकार आत्मा में ही आत्मीयता मानकर परम निस्पृह और निर्द्वन्द्व होकर अपने ही शुद्ध आत्मोद्यान में रमण करता हूँ।

इस वन में रमण करते हुए न तो कोई हिंसामयी सिंह कष्ट देते हैं, न वनचर हाथीसम प्रमाद भाव आक्रमण करते हैं, न पञ्चेन्द्रिय विषयमयी मृगी मन को लुभाती है, न विकराल कषायरूपी भेड़िये आकर विह्वल करते हैं। न वहाँ कोई सङ्कल्प-विकल्पमयी भ्रमर ही भिन-भिन करते हैं, न वहाँ दंशमशक रूप कोई हास्यादि नोकषाय ही पीड़ा उपजाते हैं। न वहाँ विषयासक्ति रूपी शीत है न तृष्णा रूपी आताप है। समता का शान्त वातावरण चहुँ ओर निराकुलता की मन्द, सुगन्ध पवन चला रहा है। ऐसे परम सुन्दर साम्य रूपी वन में क्रीड़ा करता हुआ मैं अपने ही रूप का आप मोही होता हुआ जिस अपूर्व अनुभवानन्द का भोग कर रहा हूँ उसका मन विचार नहीं कर सकता, वचन उसे कह नहीं सकता।

29- तीक्ष्ण आरी (V. Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व सङ्कल्प-विकल्पों से रहित होकर एकान्त में विचार करता है तो उसको विदित होता है कि भेदविज्ञान के प्रताप से ही परमात्मा का दर्शन होता है।

यदि कोई परंब्रह्म परमेश्वर का दर्शन करना चाहे तो उसको सर्व उपायों को छोड़कर एक यही उपाय करना होगा कि वह अपने आपको देखे। आप ही परमात्म स्वरूप है। अपने भीतर जो कुछ अपना नहीं है उस सबको बुद्धिबल से हटा देने पर जो कुछ बचा

रहता है वही परमात्मा का स्वरूप है। राग-द्वेषादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और शरीरादि नोकर्म सब कुछ मेरा नहीं है।

शरीराकार मन्दिर में निर्मल आकाश सम चैतन्यमूर्ति का धारी परमेश्वर, परम निर्विकार व परमानन्दमय आत्मा विराजमान है। उसका अनुभव कर पाना, उसकी झलक पा जाना और उसी में तन्मयता पा जाना ही परमात्मा का दर्शन कर लेना है। योगियों का योग द्वारा अनुभवगम्य वही सिद्धात्मा है। इस अपने ही आनन्दमय रूप का ध्यान ही मोक्षमार्ग है। यही मोक्षस्वरूप भी है। कारण और कार्य की समानता होती है। भेदविज्ञान एक ऐसी तीक्ष्ण आरी है जो आत्मा को अनात्मा से एकदम भिन्न कर देती है। जो इस आरी को धारण करता है वही मोक्ष मार्ग में एक सिपाही के समान काम करता हुआ, काम क्रोधादि शत्रुओं के आक्रमण से बचा रहता है। वह निर्भय हो बिना किसी सङ्कोच के मोक्षमार्ग में बढ़ता चला जाता है। जब कभी राग-द्वेष भाव आक्रमण करते हैं तब वह वीर योद्धा भेदविज्ञान के शस्त्र से उनको भगा देता है।

यह संसार महामोह का जाल है। संसारी प्राणी पाँच इन्द्रियों के विषय रूपी शिकारी के जाल में फँसकर बहुत भारी कष्ट उठाते हैं। तृष्णा की दाह में जलते रहते हैं। उन्हें शान्तभाव को पाना अति दुर्लभ हो जाता है। तृष्णा का आताप उन्हें भव-भव में त्रसित रखता है। तृष्णा के दाह को शमन करने के लिए स्वानुभवरूपी अमृत का प्रवाह आवश्यक है। जो ज्ञानी महात्मा आत्मा के निश्चय स्वरूप पर लक्ष्य लगाकर मन, वचन, काय की क्रिया से अतीत चला जाता है उसको भेदविज्ञान के ही प्रताप से स्वानुभव रूपी अमृत मिल जाता है तब परम अपूर्व शान्ति का लाभ हो जाता है। ऐसा समझकर मैं भेदविज्ञान को अपने गले लगाता हूँ और सर्व विकल्पों से अतीत होकर एक

अपने परम रमणीक आत्मिक उद्यान में सैर करता हुआ उस आत्मिक बाग के प्रत्येक ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों का रस लेता हुआ और कभी अखण्ड आत्मा का स्वाद लेता हुआ जिस परमानन्द का लाभ कर रहा हूँ, उसका वर्णन होना अतिशय दुर्लभ है। जो जाने वही जाने। वह वचनों की शक्ति से बाहर है।

30- निराकुल स्वाद (Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व रागद्वेष भावों को टालकर एकान्त में विचार करता है तो उसे यह झलकता है कि जगत की सर्व प्रपञ्च माया में मेरा स्वरूप बिल्कुल ढक गया है। इसके ऊपर अनन्तानन्त तैजस व कार्माण वर्गणाओं के ढेर हैं। आहारादि वर्गणाएँ भी अपना अड्डा जमा रही हैं। इस कर्म प्रपञ्च की रचना के कारण ऐसा तीव्र विभावों का मैल आत्मा के ऊपर छाया हुआ है कि उसका वीतरागभाव तो कभी अनुभव में ही नहीं आता है, जब देखो तब पच्चीस कषायों का रंग ही झलकता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ अपने अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन भेद को लिए हुए सोलह प्रकार के होकर नौ नोकषायों के साथ पच्चीस प्रकार के हो जाते हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, घृणा, पुंवेद कामभाव, स्त्रीवेद कामभाव और नपुंसक वेद कामभाव—इनकी अनेक प्रकार की शक्ति के प्रकाश से अनेक तरह के भाव रूपी रङ्ग हो जाते हैं। जब देखा जावे तब रात-दिन में हर समय इन्हीं कषाय के रङ्गों का झलकाव रहता है, वीतराग भाव का तो कहीं पता नहीं चलता है। वीतराग भाव मेरा भाव है, रागादि सब परभाव हैं - ऐसा भेदविज्ञान किस तरह उत्पन्न हो यही चिन्ता करता हुआ ज्ञानी एकदम से ऐसा जान लेता है कि जैसे जल में लवण के मिश्रण से उस अशुद्ध जल का पान लवण का स्वाद देता है, निर्मल

जल का स्वाद नहीं देता है। परन्तु निर्मल जल का स्वाद लवणरूप नहीं है किन्तु मिष्ट है।

इसी तरह आत्मा का मोहनीय कर्म के साथ मिश्रण होने से आत्मा का स्वाद क्रोधादि रूप आता है, कुछ देर भी इन विभावों को दूर कर यदि थिरता पायी जावे तो शुद्ध वीतरागता के अंश का स्वाद आ जाता है। तब ही पक्का भेदविज्ञान झलक जाता है कि मैं आत्मा हूँ, मेरा स्वाद साम्यभाव है, शान्तभाव है, निराकुल आनन्द है, क्रोधादि भाव का स्वाद मेरा स्वाद नहीं है। क्रोध का स्वाद क्रोधमय है, मान का स्वाद मानमय है, माया का स्वाद मायामय है और लोभ का स्वाद लोभमय है। मैं इस भेदविज्ञान से अपने ही स्वाद का भेद पाकर परस्वादों से विरागी हो जाता हूँ और निश्चल रहकर एक अपनी ही शुद्ध वस्तु का निराकुल स्वाद लेता हूँ। यही अनुभव मोक्षमार्ग है। इसी अनुभव में मैं सदा तल्लीन रहूँ, यही मेरी भावना है।

31- प्रिय आत्मानुभूति (Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा जब एकान्त में बैठकर विचार करता है तो उसको पता चलता है कि मैं एक ऐसे भारी जञ्जाल के मध्य में प्राप्त हूँ कि मुझे मेरा स्वरूप बिल्कुल अनभिज्ञ सा हो रहा है। जब कभी जिस पर भी दृष्टिपात करता हूँ उधर ही मुझे अनात्मा का ही दर्शन होता है। आत्मा के पवित्र मुख का दर्शन होना अतिशय कठिन हो गया है। भेदविज्ञान ही एक ऐसा उपाय है कि जिससे अनेकों के भीतर गुप्त पड़ी हुई किसी चीज़ को अलग करके जान लिया जाता है।

जिस तरह एक न्यारिया सुनार की मनो रख के भीतर से सुवर्ण की कणिकाओं को भेदविज्ञान के प्रताप से ही ढूँढ निकालता है। एक जौहरी रत्न-पाषाणों के भीतर बहुमूल्य रत्न बनने योग्य पाषाण को भेदविज्ञान से ही उठा लेता है। एक धातु का व्यापारी अनेक

धातुओं के भीतर से इच्छित सुवर्ण या रजत धातु को भेदविज्ञान से ही छांट लेता है। एक शाकभाजी व फल का खरीददार सुन्दर व स्वादिष्ट फलों की छंटनी एक बड़े ढेर में से भेदविज्ञान के प्रताप से ही कर लेता है। उसी तरह तत्त्वज्ञानी आत्मा का सच्चा स्वरूप भेदविज्ञान से पा लेता है। आत्मा आत्मारूप है और क्योंकि पर संयोगजनित भावों से शून्य है इसलिए मैं आत्मा ही हूँ, इसी को चाहे परमात्मा कहा जावे।

परमात्मा और आत्मा एक समान स्वभाव वाले हैं - ऐसा ज्ञान भेदविज्ञान से पाकर इस तत्त्वज्ञानी को यह उपादेय बुद्धि होती है कि अपना ही पद सर्वथा हितकारी है, इसलिए प्रथम तो वह निजस्वरूप का प्रेमालु होता है, फिर अपनी शक्ति को पर में रमण करने से रोकता है और बार-बार निज आत्मशक्ति के मनन में उसे तल्लीन करता है। चिरकाल के अभ्यास से जब उसकी परिणति निज में ठहरने लगती है तब आत्मानुभूति का झलकाव होता है, तब यह उस परम प्यारी आत्मानुभूति का ऐसा रसिक हो जाता है कि इसे हर समय वही प्यारी लगती है। यह फिर सिवाय आत्मदर्शन के और किसी का दर्शन ही नहीं करना चाहता है। यदि दृष्टि में अन्य पदार्थ आता भी है तो यह झट से दृष्टि फेर लेता है। इस तरह निजात्मा का दर्शन करता हुआ यह जिस परमानन्दपूर्ण सन्तोष को पाता है उसका वर्णन किसी भी तरह नहीं किया जा सकता है।

32- अपूर्व रसायन (V. Imp.)

ज्ञातादृष्टा आनन्दमयी एक परमात्म प्रभु कर्मबन्ध के फल से नाता जोड़े हुए अपने स्वरूप को भूल रहा है। यद्यपि यह आप परम शान्त रस से पूर्ण शान्ति समुद्र है तथापि कषाय अनल के दाह से तापमय समुद्रवत् बन रहा है। यद्यपि आप परमानन्दमय है तथापि

मोह के भ्रम में पड़कर अपने सच्चे सुख को भूले हुए इन्द्रियजनित सुखों में ही सुखपने की श्रद्धा कर रहा है। आप अजर, अमर, अकाट्य और अछेद्य है तो भी यह अज्ञान से ऐसा ही अनुभव कर रहा है कि मैं बूढ़ा हुआ, मैं मरूँगा, मैं कट रहा हूँ, मैं छिद रहा हूँ, मैं रोगी हूँ, मैं बाल हूँ, मैं युवान हूँ।

आप स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहित परम अमूर्तिक है तो भी अज्ञान से अपने को गोरा, काला, सुन्दर, असुन्दर, बलवान, निर्बल मानकर हर्ष व शोक कर रहा है। आप परम वीतराग परम समतामयी राज्य का स्वामी है तो भी यह अपने को क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, भयभीत, स्त्री, पुरुष, नपुंसक मान रहा है। आप एकाकार, नित्य शुद्ध तथा बन्ध व मोक्ष की कल्पना से शून्य है तो भी अपने को अशुद्ध, पापी, कर्म से मलिन व बँधा मान रहा है। आप परम सिद्धत्व स्वभाव का धारी परम प्रभु परमात्मा है तो भी अपने को नारकी, पशु, पक्षी, कीट, वृक्ष, देव तथा मानव मान रहा है।

जैसे मदिरा पीकर कोई उन्मत्त हो जावे व अपने स्वरूप को व अपने घर को व अपनी स्त्री व अपनी ही पुत्री को भूल जावे वैसे ही इसने मोह की मदिरा पीकर अपने स्वरूप को भुला दिया है। यह है तो कुछ और परन्तु कुछ का कुछ मान बैठा है। इस भ्रम बुद्धि के हटाने के लिए श्री गुरु का परमोपदेश परमौषधि है। जो इस उपदेश को श्रद्धापूर्वक मान्य करता है उसके अन्तरङ्ग में भेदविज्ञान की अपूर्व शक्ति पैदा हो जाती है। वह तब जान जाता है कि मुझमें और सिद्धों में कोई अन्तर नहीं है। तब फिर वह अपने को सिद्ध सम अनुभव करता है।

स्वानुभव की शक्ति के प्रताप से वह मोक्षमार्गी होकर संसार-

मार्ग से हटता हुआ मोक्षमार्ग पर बढ़ता चला जाता है। स्वानुभव ही एक अमृतमयी रसायन है, जिसके पीने से परम सुख का लाभ होता है और आत्मा परम पौष्टिकपने को प्राप्त होता है। अतएव मैं सब जगत के जञ्जाल से उदासीन होकर आज निज आत्मा के ही रूप का दर्शन करता हूँ, उसी के ही प्रेम में आसक्त होता हूँ, उसी को अपना ध्येय बनाता हूँ और एकतानता के साथ उसी का ध्यान करता हुआ जिस अपूर्व सुख को पाता हूँ, उसका वर्णन किसी तरह नहीं हो सकता है।

33- स्वात्म-समाधि

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जालों से शून्य हो एक पर्वत के ऊपर जाकर नीचे की तरफ देखता है तो उसे बहुत से मानवों की भीड़ बहुत छोटे शरीररूप दिखती है। नीचे खड़े हुए मानव जब ऊपर निगाह डालते हैं तो वे ऊपर खड़े हुए पुरुष को एक बहुत छोटा बालक सा देखते हैं। भ्रमबुद्धि से हर एक को पदार्थ और का और दिखता है। परन्तु जब कोई विवेक की दृष्टि से विचार करता है तो वह दिखने वाले दृश्य के ऊपर भरोसा न करके सत्य-सत्य विचार लेता है कि नीचे के मानव भी मानवरूप ही हैं व ऊपर खड़ा हुआ मानव भी मानवरूप है।

इसी तरह जब व्यवहार की अभूतार्थ दृष्टि से देखा जाता है तो नारकी व पशु नीचे दिखते हैं और देव ऊँचे दिखते हैं। मानवों में दीन-दुःखी मजूर और नीच सेवा करने वाले सब नीचे दिखते हैं व व्यापार आदि करने वाले मानव ऊँचे दिखते हैं। इस प्रकार की दृष्टि राग-द्वेष बढ़ाती है। देवों से व मानवों से राग पैदा करती है। नीच मानवों से व पशुओं से द्वेषभाव जगा देती है।

भेदविज्ञान के प्रताप से जब व्यवहार दृष्टि को बन्द करके निश्चय दृष्टि से देखने का अभ्यास किया जाता है तब नीच-ऊँच, छोटे-बड़े आदि का दृश्य सब निकल जाता है और हर एक सचेतन प्राणी समान रूप ही दिखता है। उनमें कोई भी भेदभाव नहीं मालूम पड़ता है। निश्चय दृष्टि के प्रताप से सर्व राग-द्वेष काफूर हो जाते हैं। साम्यभाव के परम शान्त जल का प्रवाह ऐसा आश्चर्यकारक बहने लगता है जिससे मानव के दिल में से सर्व कलुषता मिट जाती है, क्रोधादि कषायों की कालिमा नहीं दिखती है, न इन्द्रिय विषयों की वासना नहीं सताती है और परमानन्द का चमत्कार छा जाता है।

मोक्षमार्ग वास्तव में एक साम्यभाव है या राग-द्वेष-मोहरहित आत्मा का शुद्ध परिणाम है। जो ज्ञानी इस जीवन को सुखदायी बनाना चाहते हैं वे इस मोक्षमार्ग पर अवश्य चलते हैं। भेदविज्ञान ही वह परम मित्र है जो अनादिकाल के भ्रमभाव को दूर कर देता है और सत्य स्वरूप झलका देता है। एक तत्त्वज्ञानी इसीलिए भेदविज्ञान की शरण लेता हुआ अपनी आत्मा को परमात्मा के समान ज्ञाता-दृष्टा, आनन्दमयी देखता है और इसी दृष्टि में एकाग्रता प्राप्त करता है। यही स्वात्मसमाधि है जो योगीश्वरों को प्यारी है, जो कर्मबन्धन के काटने को तीक्ष्ण आरी है, जो मोक्षमहल में पहुँचने को अमल व निश्चल सीढ़ी है। धन्य हैं वे महात्मा जो इस सीढ़ी का आरोहण करके परम सुख का लाभ प्राप्त करते हुए सन्तोषी रहते हैं।

34- समयसार (Imp.)

एक ज्ञाता-दृष्टा आत्मा अपने भीतर परमात्मा का दर्शन जिस भेदविज्ञान के प्रताप से करता है उसकी महिमा अपार है। वही एक सूक्ष्म दृष्टि है जो हर एक द्रव्य को भिन्न-भिन्न देखती है। धन्य हैं वे महात्मा जो इस अपूर्व दृष्टि को पाकर मलिन दृष्टि के विकार से छूट

जाते हैं। इस भेदविज्ञान की दृष्टि वाले को संसार का नाटक नाटकवत् प्रतीत होता है। न वहाँ किसी परिणमन में हर्ष है न किसी में विषाद है। न वहाँ सांसारिक दुःख है, न सुख है। न वहाँ पर में अहङ्कार है, न ममकार है। समतामयी सरल दृष्टि का प्रकाश उस भेदविज्ञानी को परमात्मा के समान निर्विकार व ज्ञातादृष्टा बनाए रखता है। क्रोध, मान, माया, लोभ के भयानक आक्रमण से वह दूर रहता है।

इस भेदविज्ञान की प्राप्ति का उपाय छह द्रव्यों के गुण व पर्यायों का ज्ञान है। हर एक द्रव्य अन्य द्रव्य से बिल्कुल भिन्न है। निश्चय दृष्टि हर एक को अपने ही स्वभाव में देखती है, तब जितने पुद्गल हैं सब परमाणु रूप दिखते हैं। औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण शरीरों के भेद; नाना प्रकार भूमियों के ढेर; पर्वत, वन आदि; नाना प्रकार सरोवर, नदी, समुद्र आदि; नाना प्रकार अग्नि के प्रकार; नाना प्रकार वायु के भेद; नाना प्रकार साधारण तथा प्रत्येक वनस्पति के दृश्य; नाना प्रकार त्रसादि के शरीर; सूर्य व चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह व तारों के विमान और मेघ आदि इन सब पर्यायों का और दृश्यों का पता ही नहीं लगता है।

धन्य है यह निश्चय दृष्टि जिसमें सभी पुद्गल परमाणु रूप अपने स्वभाव में दिखते हैं। राग-द्वेष के कारण सुन्दर व असुन्दर स्कन्धों का कहीं पता नहीं चलता है। इस निश्चय दृष्टि से सर्व असंख्यात कालाणु, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाश अपने स्वभाव में मग्न ही झलकते हैं। जितने जीव हैं भले ही व्यवहार में उनको स्थावर व त्रस देखा जावे, संसारी और सिद्ध माना जावे, भव्य तथा अभव्य में गिना जावे परन्तु निश्चय से वे सब शुद्ध, एकाकार, परमात्मा रूप ही दिखते हैं। यह ज्ञानी इसी दृष्टि से देखकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की एकता रूप परम

साम्यभाव रूपी स्वसमय में या समयसार में या स्वानुभव में या ज्ञानचेतना में तन्मय हो जाता है और जिस अद्भुत आनन्दामृत का पान करता है उसका कथन वचनों से बाहर है।

35- नैष्कर्म्यभाव (Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व सङ्कल्प-विकल्पों को त्यागकर जब देखने लगता है तब उसको सिवाय अपने शुद्ध स्वरूप के और कुछ नजर नहीं आता है। उसके भीतर भेदविज्ञान की दृष्टि जागृत हो जाती है। दृष्टि के प्रभाव से आत्मा और पर का भिन्न-भिन्न स्वरूप उसे जैसे का तैसा दिख जाता है। भेदविज्ञान का गुणगान करना वचन से बाहर है। सम्यग्दृष्टि मानव के भीतर यह दृष्टि सदा जागृत रहती है। इसी के प्रताप से पर्यायदृष्टि का मोह मिट जाता है और द्रव्यार्थिक दृष्टि का वैराग्यभाव जागृत हो जाता है। इस भेदविज्ञान की दृष्टि के उत्पन्न करने का उपाय तत्त्वों का सूक्ष्मदृष्टि से अभ्यास है। अभ्यास के साथ-साथ श्रद्धा व विवेक की आवश्यकता है। श्रद्धा व विवेक बार-बार मनन के द्वारा उत्पन्न होते हैं। जैसे कृषक का बालक धान्य में चावल और तुष को भिन्न-भिन्न देखते हुए दोनों के भेदविज्ञान को पा लेता है और जौहरी का शिष्य नाना प्रकार के रत्नों को देखते हुए दीर्घकाल के अभ्यास से उन सर्व के भिन्न-भिन्न गुण-दोष का ज्ञाता हो जाता है।

भेदविज्ञान की दृढ़ता ही जगत के दृश्य के कारणभूत मूल पदार्थों को भिन्न-भिन्न झलकाती रहती है। राग, द्वेष, मोह संसार के बीज हैं, इनकी उत्पत्ति मोहनीय कर्म के उदय से होती है। मोहनीय कर्म कार्माण पौद्गलिक वर्गणाओं का परिणमन है। यही ज्ञान आत्मा को आत्मारूप दिखलाता है। आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चारित्र

और सम्यक्त्व आदि गुणों की अपेक्षा पुद्गल से बिल्कुल भिन्न है। यही ज्ञान, यही श्रद्धान, यही अनुभव मोक्षमार्ग है। इसी को आत्मध्यान कहते हैं। सन्त पुरुष निरन्तर आत्म-ध्यान की धूनी रमाते हैं और आत्मा को निर्मल करते हुए चले जाते हैं। आत्मा की निर्मलता हर एक विज्ञ प्राणी का ध्येय रहना चाहिए जिससे यह किसी समय अपने शुद्ध स्वभाव में सदा के लिए थिर हो जावे और परमात्मपद का इसको लाभ हो जावे।

भेदविज्ञान के प्रताप से ही मैं सदा निजानन्द का विलास करता हूँ। मुझे इन्द्रियजनित सुख के विकार विकारी नहीं बनाते हैं। ज्ञानी को न रोग से प्रेम है न रोग के इलाज से प्रेम है। वह अपने निरोगपने की सदा भावना भाता है। यही भावना अनन्त काल के लिए निरोग कर देती है। मैं इसीलिए सर्व प्रपञ्च जालों से मुँह मोड़कर एक अपने ही अद्वितीय ज्ञान स्वरूप आत्मा के उपवन में ही रमण करता हूँ जहाँ पुण्य भाव के आक्रमण नहीं होते हैं और यह आत्मा नैष्कर्म्यभाव में सदा जागृत रहता है।

36- सिद्धों का क्रीड़ावन

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जालों से निर्वृत्त होकर जब अन्तरङ्ग में विचारता है तब उसे पता चलता है कि यह जगत जड़-चेतन का समुदाय है। भेदविज्ञान जड़ को जड़ व चेतन को चेतन देखता है। यह एक उपवन में प्रवेश करता है। वहाँ पर नीम, पीपल, बरगद, शहतूत, बेल, कैथा, अमरूद, अनार, सेब, नाशपाती, अंगूर, खजूर, कमरख, केला, संतरा, गुलाब, बेला, चमेली और जुही आदि अनेक वृक्षों की शोभा देखकर रञ्जायमान होता है। कभी सरोवर के निकट मन्द-सुगन्ध पवन का विलास करता है। कभी नाना प्रकार के रमणीक

बंगलों की पंक्तियों को देखता है जो उस बाग में बनी हुई हैं। बाग के मार्ग व बाग की क्यारियाँ आँखों को रमणीक भास रही हैं।

इस सब रचना के उपादान अर्थात् मूल कारण पर जब दृष्टिपात करता है तब विदित होता है कि इन सब सचेतन वृक्षों के भीतर जानने वाला आत्मा अलग है और शरीरादि की रचना करने वाले पुद्गल अलग हैं। जीवों का भी जब स्वरूप विचारता है तब उनके एकेन्द्रियादि नामकर्म का उदय है और राग, द्वेष, मोह की कालिमा है। यह सब भी पौद्गलिक कर्म का विकार है। इन विकारों से रहित जब देखा जाता है तब यही दिखता है कि सर्व ही जीव समान प्रदेश वाले, निर्विकार, शुद्ध व परमशान्तिमय हैं। जब अपनी आत्मा की तरफ देखता है तब उसे भी अन्य आत्माओं के समान पाता है। इसी तरह जगत के अनेकानेक संयोगों के भीतर आत्मा आत्मारूप और पुद्गल पुद्गलरूप दिखता है। भेदविज्ञान की दृष्टि में वृक्ष, पशु, मनुष्य, देव और नारकी सब ही जीव एक समान दिखते हैं। अनात्मा से दृष्टि फेरते हुए मात्र आत्मद्रव्य को अवलोकन करते हुए सर्व ही आत्माओं की सदृशता जब दिखायी पड़ती है तब सर्व ही समुदाय एक ज्ञानसागररूप बन जाता है। यह ज्ञानी इस ज्ञानसागर में रमण करता हुआ परम साम्यभाव रूपी जल से अपने मल को धोता है और बार-बार इसी में रमण करता हुआ एक अद्भुत परमानन्द का स्वाद पाता है।

स्वस्वरूप का स्वाद वेदन ही मोक्षपथ है। इसी में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की एकता का झलकाव है। यही ध्यान की अग्नि है जो कर्मों को दग्ध करती है। यही शुद्ध पारिणामिक भाव है। यही सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान है। यही आठवें से आगे तक शुक्लध्यान है। यही स्वानुभवरूप अविरत सम्यक्त्वी, श्रावक, प्रमत्त व अप्रमत्तादि गुणस्थानधारी साधु का स्वरूप है। यही

परम स्पष्ट सयोग और अयोग केवली की अवस्था है। यही सिद्ध भगवान का क्रीड़ावन है। मैं इसी आत्मा के मनोहर वन में सैर करता हुआ जिस अपूर्व सन्तोष व आनन्द को पाता हूँ उसका वर्णन नहीं हो सकता।

37- शान्तकुटी विश्राम

एक ज्ञानी आत्मा सर्व सांसारिक सङ्कल्प-विकल्पों से दूर एक अपने कल्याण के मार्ग में चलने के लिए प्रस्तुत हुआ है। वह भेदविज्ञान की शरण लेता है और उसके प्रताप से सर्व मोह का वमन कर डालता है। न कोई किसी का मित्र है, न कोई किसी का शत्रु है; न कोई किसी का उपकारी है, न कोई किसी का अपकारी है; न कोई स्वामी है, न सेवक है; न कोई आचार्य है, न कोई शिष्य है; न कोई पूज्य है, न कोई पूजक है; न कोई सज्जन है, न कोई दुर्जन है; न कोई क्रोधी है, न कोई क्षमावान है; न कोई मानी है, न कोई विनयवान है; न कोई मायावी है, न कोई सरलता से व्यवहारी है; न कोई लोभी है, न कोई सन्तोषी है; न कोई पुरुष वेदी है, न कोई स्त्री वेदी है, न कोई नपुंसक वेदी है, न कोई हास्ययुक्त है, न कोई शोकी है, न कोई रतिवान है, न कोई अरतिवान है, न कोई भयवान है, न कोई घृणारूप है।

भेदविज्ञान से देखो तो न कोई मिथ्यादृष्टि है, न कोई सासादन भावधारी है, न कोई मिश्रभाव प्रधानी है, न कोई अविरतिवान है, न कोई देशव्रती है, न कोई प्रमत्त है, न कोई अप्रमत्त है, न कोई अपूर्वकरण भावधारी है, न कोई अनिवृत्तिकरण भावों में आरूढ़ है, न कोई सूक्ष्मसाम्परायी है, न कोई उपशान्तमोही है, न कोई क्षीणमोही है, न कोई सयोगकेवली है, न कोई अयोगकेवली है; न कोई देव है,

न कोई नारकी है, न कोई तिर्यञ्च है, न कोई मनुष्य है; न कोई एकेन्द्रिय है, न कोई द्वीन्द्रिय है, न त्रीन्द्रिय है, न चतुरिन्द्रिय है, न पञ्चेन्द्रिय असैनी है, न पञ्चेन्द्रिय सैनी है; न कोई पृथ्वीकायिक है, न कोई जलकायिक है, न तेजकायिक है, न वायुकायिक है, न कोई वनस्पतिकायिक है, न कोई साधारण है, न कोई प्रत्येक है; न कोई त्रसकायिक है; न कोई मनधारी है, न वचनधारी है, न कायधारी है।

सर्व ही जगत की चेतनात्माएँ अपने-अपने स्वभाव में सदा से विराजमान हैं। उनके साथ न ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का संयोग है, न कोई विभावों का विकार है और न कोई औदारिकादि नौ नोकर्मों का सम्बन्ध है। सर्व ही एकाकार, असंख्यात प्रदेशी, अपने परम शुद्ध गुणों में व्याप्त, परमात्मा रूप, निज ज्ञानानन्द सागर में निमग्न और परम कृतकृत्य दिखलायी पड़ रहे हैं। अब मैं अन्य सर्व विचार छोड़ एक अपनी ही त्रिगुणमयी, परम शान्त रस से पूर्ण स्वानुभूति रूपी कुटी में विश्राम करता हूँ और परम योग में तन्मय हो परमानन्द में निमग्न होकर विकल्पातीत हो जाता हूँ।

38- मैं एकाकी (Imp.)

एक भेदविज्ञान का प्रेमी आत्मा अपने भेदविज्ञान रूपी शस्त्र के द्वारा पर को अलग कर आपसे आपमें अपने में से अपने लिए आपको ध्याता है। कभी भेद षट्कारक और कभी अभेद षट्कारक का विचार कर लेता है। कभी पुद्गल का विचार करता है कि ये अणु व नाना स्कन्ध जगत व्यापी हैं। पुद्गलों से ही कार्माण शरीर बनता है जो ज्ञानावरणादि आठ कर्ममय है। पुद्गलों से ही तैजस शरीर बनता है जो बिजली की शक्ति रखता है। पुद्गलों से ही मनुष्य व तिर्यञ्चों का औदारिक शरीर व देव व नारकियों का वैक्रियक

शरीर बनता है व ऋद्धिधारी मुनियों का आहारक शरीर बनता है। पुद्गलों से ही भाषा बनती है, पुद्गलों से ही आठ पांखुड़ी का कमलाकार द्रव्य मन बनता है।

पुद्गल मूर्तिक है, मैं आत्मा अमूर्तिक हूँ। पुद्गल ज्ञान रहित है, मैं ज्ञान सहित हूँ। पुद्गल पूरण-गलन स्वभावी है, मैं अखण्ड हूँ। पुद्गल जीव के साथ मिलकर विकारी भावों का कारण है, मैं स्वयं निर्विकारी हूँ और किसी में विकार पैदा करने का स्वभाव भी नहीं रखता हूँ। यद्यपि आकाश के आधार से मैं रहता हूँ तथापि आकाश जड़ अचेतन है और मैं सदा चेतन हूँ। मेरी सत्ता सर्व आत्माओं से निराली है, जबकि मेरा स्वभाव सर्व आत्माओं के बराबर है। जब मूल द्रव्य पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश भी मेरे नहीं हैं तब स्त्री, पुत्र, मित्र, मकान, मन्दिर, वस्त्र, आभूषण, रुपया और पैसा मेरा कैसे हो सकता है! मैं सबसे निराला हूँ, सब मुझसे निराले हैं। मैं एकाकी हूँ। मेरा कोई शरण नहीं है। मैं केवल हूँ। मुझे किसी की सहाय की जरूरत नहीं है। मैं स्वभाव से ही परम सुखी हूँ। मुझे सुख भोगने के लिए पाँच इन्द्रियों के विषयों के भोगने की जरूरत नहीं है।

इस तरह अपने स्वभाव को सम्हालते हुए मैं परमात्मा से किसी भी तरह कम नहीं हूँ अतएव मैं सर्व सङ्कल्प-विकल्पों का त्याग करके मन, वचन, काय की गुप्ति से अपने ही अन्तरङ्ग गुणों में प्रवेश करके कभी आत्मा व उसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र, सुख, वीर्य और सम्यक्त्व आदि गुणों की भावना भाता हूँ और कभी भावनाओं का भी त्याग करके आप में आप ही तन्मय हो जाता हूँ व तब स्वरूप समाधि को प्राप्त कर जिस अकथनीय आनन्द पाता हूँ, उसका कथन किसी भी तरह नहीं हो सकता, वह तो आप आपके ही गोचर है।

39- ज्ञानमय गंगा (Imp.)

एक ज्ञानी महात्मा अपने पास मिश्रित जगत को देखकर जब भेदविज्ञान की दृष्टि फैलाता है तब जितने द्रव्यों से यह जगत बना है वे सब द्रव्य भिन्न-भिन्न ही दिखलाई पड़ते हैं। किसी की सत्ता किसी से मिलती नहीं है। सर्व ही द्रव्य अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से पृथक्-पृथक् हैं। एक में दूसरे का नास्तित्व है, अपने में अपना ही अस्तित्व है। हर एक द्रव्य अस्ति-नास्ति स्वरूप या भावाभावरूप है। एक जीव का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव दूसरे जीव के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से भिन्न है। एक पुद्गल के परमाणु का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अन्य परमाणु के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से भिन्न है।

भेदविज्ञान के प्रताप से वह एकत्व भावना को भाता है, तब अपने को एक अकेला ज्ञानावरणादि कर्म रहित, रागादि भावकर्म रहित व शरीरादि नोकर्म रहित देखता है। वहाँ व्यवहार नय से या भेदविवक्षा से ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व आदि के भेद हैं परन्तु निश्चयनय से या अभेद विवक्षा से भेद नहीं हैं, उससे वहाँ यही विचार है कि मैं अखण्ड चित्पिण्ड, ज्ञानकरण्ड, स्वानुभवगम्य ही हूँ। इस तरह अपने एकत्व को पाकर यह ज्ञानी अपनी ज्ञानस्वरूपी गंगा नदी में बार-बार स्नान करता हुआ अपने आपमें जो आनन्दामृत का स्वाद पाता है उसका वर्णन किसी तरह नहीं हो सकता।

40- आत्मिक प्रकाश

एक ज्ञानी आत्मा वर्षा को होते हुए विचारता है तो उसको विदित होता है कि वह पानी जो यहाँ था भाप बनकर उड़ गया। उसके मेघ बन गए और मेघों से फिर यह वर्षा का जल हो गया। इस दृश्य को विचारते हुए वह जगत के पदार्थों के स्वभाव पर चला जाता

है और देखता है कि इन द्रव्यों में द्रवण शक्ति या परिणमन शक्ति है। उसी के प्रभाव से ये सब द्रव्य समय-समय पर्याय पलटा करते हैं। नए से पुराने होते रहते हैं तो भी मूल द्रव्यों का न जन्म होता है न नाश होता है।

पुद्गल और जीवों के मेल ने नाना प्रकार वृक्षों को व पत्तों को और वृक्षों को व फलों को बना डाला है। नाना प्रकार के कीड़े, मकोड़े, चींटी, चींटे, पतंगे, मच्छिका, भ्रमर आदि इन दो द्रव्यों के मिश्रण के ही दर्शाव हैं। कुत्ते, बिल्ली, बंदर, मृग, गाय, भैंस, घोड़ा, ऊँट, हाथी, बकरा, भेड़, सिंह, भेड़िया, तोता, मैना, मोर, कबूतर, तीतर, बटेर, काक, मुर्गा, हंस, मच्छ, मगर, कच्छप आदि—ये सर्व पशु समुदाय दो द्रव्यों का ही खेल है। नाना प्रकार के मानव भारतीय, जापानी, चीनी, भूटानी, तिब्बती, मंगोल, पठान, तुर्क, ग्रीक, जर्मन, फ्रांसीसी, अंग्रेज, रूसी, अमेरिकन, अफ्रीकन, आस्ट्रेलियन, जंगली, ग्रामीण और नागरिक—ये सर्व मानव समाज इन्हीं दो द्रव्यों का तमाशा है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी व कल्पवासी देव व सात नरकों के नारकी - ये सब इन्हीं से बने हैं। सारे जगत के चेतन प्राणी इन्हीं की करामात हैं। पर्वत, नदी, जंगलादि में व नगरादि में जितने अचेतन दृश्य पदार्थ हैं, उनका रचयिता पुद्गल है।

जीवों की दशा यह है कि कर्म पुद्गलों के व तैजस पुद्गलों के असर से ही वे भव-भव में जाते हैं, नाना प्रकार के शरीर पाते हैं और नाना प्रकार के क्लुषित भावों में वर्तते हैं। यदि पुद्गल का सम्बन्ध निकाल दिया जावे तो इनका आवागमन बन्द हो, इनका शरीर धारण बन्द हो, इनके नाना प्रकार के अशुद्ध भावों का सञ्चार बन्द हो, तब तो ये मात्र अपने स्वभाव में ही परमात्मवत् रमण करें।

भेदविज्ञान की दृष्टि से देखते हुए इस ज्ञानी को ऐसा भासता है

कि सर्व जीव एक समान शुद्ध हैं। अब यह अपने कल्याण के हेतु व समताभाव जगाने के हेतु सर्व अजीवों से नाता तोड़ता है और सर्व जीवों को एक समान शुद्ध देखता है। बस राग द्वेष को मिटाकर समताभाव में पहुँच जाता है। जो दृष्टि विश्व भर में व्यापक थी उसका सङ्कोच करके अपने भीतर लाता है और अपने से ही आपको देखने लग जाता है, तब ज्यों ही दृष्टि स्वसन्मुख होती है त्यों ही सर्व सङ्कल्प-विकल्प मिटते हैं, सर्व विचार बन्द होते हैं और एकाएक एक निर्विकल्प समाधिमयी आत्मानुभव की ज्योति जग जाती है, जिस प्रकाश में मग्न होकर यह जिस आत्मिक आनन्द का लाभ करता है, वह वचन अगोचर है।

41- सुख-शान्ति की छाया (V. Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व और विचारों को बन्द करके एकान्त में बैठकर भेदविज्ञान की दृष्टि से देखता है तब उसको यह दिखलायी पड़ता है कि यह जगत एक नाटकशाला है। इसमें जीव और पुद्गल परस्पर संयोग सम्बन्ध रखते हुए नाना प्रकार भेष बनाकर अपना मिश्रित कर्तव्य दिखा रहे हैं। जैसे मदिरा के संयोग के असर से बुद्धिमान भी अपने घर को भूल जाता है और कुछ का कुछ मानने लगता है, उसी तरह मोह कर्म रूपी पुद्गल के असर से जगत के प्राणी अपने निज असली स्वरूप को बिल्कुल ही भूल गये हैं और जिस भेष में, जिस पर्याय में वे खेला करते हैं उसी पर्याय को या भेष को ही अपना रूप मानके न करने योग्य कार्य को कर रहे हैं। आप हैं तो परभाव के अकर्ता व परभाव के अभोक्ता परन्तु अपने को कर्ता व भोक्ता मानके आकुल-व्याकुल हो रहे हैं। जो वस्तु छूटने वाली है उससे ऐसा गाढ़ प्रेम कर रहे हैं मानो वह कभी छूटेगी ही नहीं। जगत के प्राणी शरीर में, धन में, कुटुम्ब परिवार में और मान में ऐसे

लुब्ध हैं कि रात-दिन इन ही के लिए उद्यम कर रहे हैं। वे कभी भूलकर भी यह विचार नहीं कर रहे हैं कि हम असल में कौन हैं।

भेदविज्ञान की दृष्टि से विचारते हुए यह साफ झलक जाता है कि जगत के प्राणियों में आत्मा तो एक बिल्कुल जुदा पदार्थ है। उसके साथ औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण शरीर तथा भाषा व मन जो सब पुद्गल लगे हुए हैं, वे लगे रहकर नाना प्रकार खेल खिलाते हैं। आत्मा को जब निराला देखा जावे तो वह परमात्मावत्, ज्ञातादृष्टा, निर्विकार, आनन्दमयी, परम वीतराग, परमानन्दमय एक अविनाशी, अखण्ड पदार्थ है। भेदविज्ञानी अपने को ऐसा निश्चय करके स्वात्मानन्द पाने के लिए अन्य सर्व विकल्पों से दूर रहकर अपनी आत्मा के परम मनोहर गुण रूपी उपवन में जाता है। वहाँ गुणों की सैर करते-करते सुख-शान्ति की छाया में जब निद्रा लेता है तब वह जो आनन्द भोगता है वह वचनातीत है।

42- सच्ची सामायिक

परम वीर आत्मा सर्व सङ्कटों से हटकर निःकण्टक सारभूत निज आत्मा रूपी भूमि में चलने के लिए उत्साहित होता हुआ किसी ऐसे परम मित्र की शरण लेता है जिसके प्रताप से आत्मा का यथार्थ दर्शन होता रहे। वह परम मित्र है-**भेदविज्ञान**। भेदविज्ञान जल और तेल की तरह आत्मा को रागद्वेषादि भावों से, ज्ञानावरणादि कर्मों से व शरीरों से जुदा दर्शाता है। भेदविज्ञान जगतभर की आत्माओं को एकरूप स्वभाव में परमात्मा के समान दिखाता है।

यह भेदविज्ञान का ही प्रताप है जिससे समताभाव जग जाता है और राग, द्वेष, मोह का झण्डा उखड़ जाता है। समताभाव ही श्रावकों का सामायिक शिक्षाव्रत है। समताभाव ही श्रावकों की तीसरी प्रतिमा

का व्रतभाव है। समताभाव ही प्रमत्तविरत व अप्रमत्त विरत मुनि की सामायिक है। समताभाव ही अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानों का शुद्धोपयोग रूप सामायिक चारित्र और शुक्लध्यान है। समताभाव ही उपशान्तमोह व क्षीणमोह का वीतराग यथाख्यात चारित्र और शुक्लध्यान है। समताभाव ही सयोगकेवली और अयोगकेवली का परम आभूषण है। समताभाव ही सिद्धों का आसन है। भेदविज्ञान के उपकार से ही समताभाव का लाभ होता है।

पर्यायदृष्टि में अनन्त भेद हैं, अनन्त रूप हैं, अनन्त भाव हैं। वहाँ पर कषाय का सञ्चार है अतः कुछ रूप व कुछ भाव शुभ दिखते हैं, और कुछ रूप व कुछ भाव अशुभ दिखते हैं। द्रव्यदृष्टि में न भेद हैं, न रूप हैं, न भाव हैं। वहाँ तो अभेद अखण्ड एक ज्ञायक भाव है। ज्ञानी सर्व प्रपञ्च जालों से विरक्त होकर इस एक अखण्ड ज्ञायक भाव में तन्मय होता हुआ जिस परमानन्द का स्वाद लेता है वह वचन अगोचर केवल अनुभवगम्य है तथापि सिद्ध सुख का यही विलास है, यही दोग्यज का चन्द्रमा है जो पूर्णमासी का चन्द्र हो जायेगा।

43- द्रव्यदृष्टि उपादेय

एक ज्ञानी विद्वान एकान्त में बैठकर नयों के विचार में तल्लीन है। जब वह पर्यायार्थिकनय का विचार करता है तब उसको यह जगत नानारूप भासता है। अनेक वर्ण के व अनेक तरह के मानव भिन्न-भिन्न अनेक कार्य करते दिखलायी पड़ते हैं। कोई सिपाही है, कोई कृषक है, कोई लेखक है, कोई व्यापारी है, कोई सुनार है, कोई लुहार है, कोई बढ़ई है, कोई थवई (राज-मिस्त्री) है, कोई दर्जी है, कोई बर्तन बनाने वाला है, कोई कपड़े बुननेवाला है, कोई धनिक है, कोई गरीब है, कोई निरोगी है, कोई रोगी है, कोई बलवान है,

कोई निर्बल है, कोई बालक है, कोई युवान है, कोई वृद्ध है, कोई प्रतिष्ठावान है, कोई दाता है, कोई मँगता है, कोई स्वरूपवान है, कोई कुरूपवान है, कोई स्त्री है, कोई पुरुष है और कोई मर रहा है, कोई जन्मा है।

इसी तरह पशु समाज में कोई कुत्ता है कोई बिल्ली है, कोई घोड़ा है, कोई गधा है, कोई हाथी है, कोई ऊँट है, कोई बैल है, कोई गाय है, कोई भैंस है, कोई बकरा है, कोई बकरी है, कोई शूकर है, कोई मृग है, कोई बाघ है, कोई सिंह है, कोई काक है, कोई कबूतर है, कोई मोर है, कोई तोता है, कोई मैना है, कोई नाग है, कोई गिलहरी है, कोई चूहा है, कोई मक्खी है, कोई भ्रमर है, कोई पिपीलिका है और कोई लट है।

एकेन्द्रिय समाज में कोई कठोर पृथ्वी है, कोई नम्र है, कोई बावड़ी का पानी है, कोई कूप का व नदी का पानी है, कोई ठण्डी वायु है, कोई अग्निरूप है, कोई वनस्पतिकाय में सेब है, अंगूर है, आम है, अनार है, नाशपाती है, अमरूद है, केला है, नारंगी है, सीताफल है, खरबूजा है, ककड़ी है, खीरा है, मटर हैं और चना है आदि-आदि। जीवों के भीतर अनेक भेष व अनगिनती पर्यायें सब दिख पड़ती हैं। जिनसे प्रयोजन होता है उनसे यह राग करता है, जिनसे प्रयोजन नहीं है उनसे द्वेष करता है। पर्यायों के देखने से राग-द्वेष-मोह होता है, जिनसे कर्मबंध होता है और कर्मबंध ही संसार का बीज है।

यह ज्ञानी जब इस पर्यायदृष्टि को बन्द करके द्रव्यार्थिकनय से देखता है, शुद्ध निश्चयनय से देखता है तब भेदविज्ञान रूपी मित्र सामने खड़ा हो जाता है। उसके संकेत मात्र से सर्व ही लोक की

आत्माएँ एकाकार, शुद्ध सिद्ध सदृश, परमात्मारूप दिखती हैं। बस एकाएक उसका राग-द्वेष मिट जाता है और वह इसी समताभाव में तन्मय होता हुआ जो आनन्द पाता है वह वचन अगोचर है।

44- शुद्ध कुन्दन (Imp.)

जब यह ज्ञानी आत्मा अपने निज धर्म की सम्हाल करता है तो वहाँ क्रोध के असंख्यात लोकप्रमाण भावों के भेदों को पाता है। क्रोध की कालिमा से मलिन परिणामों का जब यह अनुभव करता है तब इसे क्रोध का ही मलिन स्वाद आता है, आत्मा का निज स्वाद नहीं आता। जैसे लवण सहित पानी पीने से लवण का स्वाद, शक्कर मिला पानी पीने से शक्कर का स्वाद, कीच मिला पानी से कीच का स्वाद आता है वैसे क्रोधादि के साथ मिश्रित ज्ञानोपयोग का स्वाद क्रोध रूप ही आता है। अब यह शुद्ध आत्मिक स्वाद पाने का प्रेमी होकर भेदविज्ञान रूपी मन्त्र के प्रभाव से सर्व क्रोध की कालिमा को बुद्धि से दूर फेंक देता है और केवल एक आत्मा का ही स्वाद लेता है। इसी तरह मान की कालिमा को, माया की अशुचिता को और लोभ के मैल को यह भीतर से दूर करता है, तब क्रोध, मान, माया, लोभ रहित एक वीतराग भाव के साथ मिश्रित आत्मा का स्वाद लेता है। यह स्वाद बड़ा ही शान्तिप्रद है। एक दफे जिसको निज शुद्धात्मा का वीतराग विज्ञानमय आनन्द का स्वाद आ जाता है वह उसी क्षण से मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि हो जाता है। वह विषय-कषाय के सुख का त्यागी व सहज आत्मिक सुख का प्रेमी हो जाता है। अब इसका सर्व जीवन आत्मिक सुख लाभ के ध्येय पर ही खड़ा हो जाता है और इसे इन्द्रिय सुख का ध्येय नहीं रहता है।

अतीन्द्रिय आनन्द मेरे ही पास है, अपने से ही अपने को मिल सकता है, यह प्रतीति उसे जागृत हो जाती है। प्रतीति के प्रताप से

सम्यग्ज्ञान के प्रकाश में रहता हुआ यह सम्यक्त्वी जीव वस्तु को वस्तुरूप से यथार्थ जानता-देखता है। वह जब कभी अपनी आत्मा की तरफ दृष्टि डालता है तो उसे परमात्मा रूप ही देखता है। उसे कभी भी अपनी आत्मा रागी, द्वेषी, मोही, लोभी, कामी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, बाल, वृद्ध, युवा, रोगी, निरोगी आदि रूप नहीं दिखती है किन्तु सदा ही स्फटिक के समान व शुद्ध कुन्दन के समान परम शुद्ध, वीतराग-विज्ञानमय ही दिखती है। इसी आत्मा का स्वाद लेते-लेते एक अद्भुत परमानन्द जागृत होता है जिसके गुण का वर्णन नहीं हो सकता।

45- सत्य का सुगम पंथ (Imp.)

आज एक ज्ञानी आत्मा सर्व चिन्ताओं से रहित हो भेदविज्ञान रूपी दृष्टि से अपने भीतर देखता है तो वहाँ कभी क्षमा-कभी क्रोध, कभी मार्दव-कभी मान, कभी सरलता-कभी माया, कभी सन्तोष-कभी लोभ, कभी सत्य-कभी असत्य, कभी संयम-कभी असंयम, कभी तप-कभी इच्छा, कभी त्याग-कभी ग्रहण, कभी निर्ममता-कभी ममता और कभी ब्रह्मचर्य व कभी अब्रह्म-इन विरोधी भावों को देखकर वह आश्चर्य में पड़ जाता है। फिर जैसे ही वह वस्तु के स्वरूप का विचार करता है वैसे ही उसे पता चलता है कि मेरे भीतर दो भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं-एक आत्मा और दूसरा पुद्गल। दो द्रव्यों के बिना ऐसे विरोधीभाव कभी नहीं मालूम हो सकते हैं। आत्मा के गुण क्षमा आदि हैं और कर्म पुद्गलों के विकार क्रोधादि हैं।

जैसे कहीं पानी में इतना कम रंग मिला हो कि उस पानी के बहते हुए कहीं तो निर्मलता दिखे और कहीं पर रंग दिखे तो बुद्धिमान को तुरन्त यह विचार हो जाता है कि निर्मलता पानी की है

परन्तु रंग पानी का नहीं है वह किसी रङ्गीन मिट्टी का है। भेदविज्ञान के प्रताप से वह यह जान लेता है कि मेरी आत्मा का स्वभाव परम निर्मल, ज्ञानमय, दर्शनमय, चारित्रमय, आनन्दमय, वीर्यमय, निर्विकार, अमूर्तिक और अविनाशी है। इस स्वभाव के सिवाय जितना कुछ भी शुभभाव है या अशुभभाव है वह पाप-पुण्य का सम्बन्ध है सो सब पुद्गल का है, आत्मा का नहीं।

इस भेदविज्ञान के प्रताप से जो श्रद्धान व ज्ञानपूर्वक आत्मा के स्वभाव में तल्लीन होता है वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी मोक्ष का मार्ग है। इसी मार्ग को स्वात्मानुभव कहते हैं, स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। यही सत्य का सुगम पंथ है। भेदविज्ञानी सर्व ज्ञानावरणादि कर्म से, रागादि भावकर्म से, शरीरादि नोकर्म से नाता तोड़, संसार के प्रपञ्च से मुँह मोड़, आध्यात्मिक भाव से नाता जोड़, स्वात्माराम में प्रवेश करता है तो वहाँ सर्व प्रकार से पूर्ण आत्मा का दर्शन करके परम तृप्त हो जाता है। वह स्वानुभव जयवन्त हो जो हमारे जीवन का सार है।

46- ज्ञानी महामच्छ

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जालों से रहित होकर भेदविज्ञान की दृष्टि से देखता हुआ जगतभर में उत्तम क्षमा व रत्नत्रय धर्म का साम्राज्य देखता है और देख-देखकर परम साम्य भाव में तन्मय हो जाता है। इस विश्वलोक में कोई स्थान या प्रदेश ऐसा नहीं है जहाँ पर जीव द्रव्य न हो। सूक्ष्म एकेन्द्रिय स्थावर तो सर्वत्र व्यापक हैं, बादर आधार में हैं तब भी बहुत स्थानों पर है। एक भी लोकाकाश का प्रदेश जीव के आकार से व्याप्त न हो ऐसा नहीं है। इन सर्व जीवों के साथ औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण इन पाँच प्रकार के शरीरों का सम्बन्ध है।

कार्माण शरीर आठ कर्मरूप है। उनमें बन्ध प्राप्त कार्माण वर्गणाओं में ऐसी कुछ शक्ति है जिससे वे जीव के भावों में कलुषता पैदा कर देती है तब जीव पापभाव या पुण्यभाव में और मन्द कषाय में तीव्र कषाय में वर्तते हैं। वे कभी हिंसा करते कभी दया पालते, कभी असत्य कहते कभी सत्य बोलते, कभी चोरी करते कभी ईमानदारी से व्यवहार करते, कभी व्यभिचार करते कभी शीलव्रत को पालते, कभी अतितृष्णा करते कभी सन्तोष धारते, कभी पर की हानि करते कभी पर का उपकार करते, कभी लौकिक आरम्भ करते कभी पूजापाठ करते, कभी कुकथा को पढ़ते कभी सुकथा को पढ़ते, कभी शृङ्गार नाटक देखते कभी धर्ममन्दिर तीर्थस्थानों को देखते, कभी विषय सेवनार्थ गमन करते कभी साधु व तीर्थ दर्शनार्थ गमन करते—इस तरह विचित्र अशुभ व शुभ कार्यों को मन, वचन, काय से करते दिखलायी पड़ते हैं। सच पूछो तो यह मोहनीय कर्म का प्रभाव है। उसके मद में उन्मत्त हुए ये सब संसारी जीव शुभ व अशुभ चेष्टाएँ कर रहे हैं।

भेदविज्ञान की दृष्टि से जब ज्ञानी जीव इन सब जीवों को मोह रहित, कर्म रहित और शरीर रहित देखता है तो वे सर्व ही जीव शुद्ध, निर्विकार, आनन्दमय, ज्ञातादृष्टा दिखलायी पड़ते हैं। सर्व ही आत्माओं में उत्तम क्षमा वास कर रही है, उत्तम मार्दव कल्लोल कर रहा है, उत्तम आर्जव का वास है, उत्तम सत्य का झलकाव है, उत्तम शौच की पवित्रता है, उत्तम संयम की छटा है, उत्तम तप की तृप्ति है, उत्तम त्याग की उदारता है, उत्तम आकिञ्चन्य धर्म की वीतरागता है और उत्तम ब्रह्मचर्य की शीतलता है।

सर्व ही आत्माओं में सम्यग्दर्शन का तेज है, सम्यग्ज्ञान का प्रकाश है और सम्यक्चारित्र की अमृतधारा है। सर्व ही चन्द्रमावत्

परम शान्त और आत्मानन्द सुधा को वर्षा रहे हैं। जगतव्यापी आत्माओं में एक सा गुण, एक सा स्वभाव और एक सा धर्म देखकर, यह ज्ञानी जीव राग-द्वेष की कालिमा के प्रकाश के कारण को न पाकर, जैसे आधार बिना अग्नि बुझ जाती है वैसे ही सर्व राग-द्वेष के ताप को शान्तकर, परम वीतरागतापूर्ण, परम धैर्यभाव से गम्भीर और परम साम्यभाव के साथ तिष्ठे हुए आत्मानुभव के समुद्र में स्नान करता है तथा महामच्छ के समान उसी का जल पीता है एवं उसी में अपना जीवन मानके परम तृप्ति को पाकर परम सुखी रहता है।

47- आठ कर्म नाटक

एक भेदविज्ञानी महापुरुष इस जगत में जीवाजीवादि पदार्थों के समूह को द्रव्य व पर्याय की दृष्टि से यथावत् देखकर परम सन्तोष भाव में लीन है। वह जानता है कि संसार एक नाटक है। मैं उसका मात्र दृष्टा हूँ। आठ कर्मों का संयोग नाना प्रकार के भेष बनाता है। ज्ञानावरण कर्म के उदय से बहुत सा ज्ञान ढका रहता है। जितना-जितना उसका क्षयोपशम होता है उतना-उतना ही ज्ञान प्रगट रहता है। उस प्रगट ज्ञान के अनन्त भेद हैं। एक लब्ध्यपर्याप्तक निगोद जीव को सबसे कम ज्ञान है। फिर उससे अधिक-अधिक होता रहता है। जब ज्ञानावरण का सर्व उदय मिट जाता है, तब केवलज्ञानी को पूर्ण ज्ञान हो जाता है। दर्शनावरण कर्म के उदय से बहुत सा दर्शन गुण ढका रहता है। जितना-जितना उसका क्षयोपशम होता है उतना-उतना दर्शन गुण प्रगट होता है। यह दर्शन गुण एकेन्द्रिय में बहुत अल्प है, सो ही बढ़ते-बढ़ते दर्शनावरण कर्म के सर्वथा क्षय से केवलज्ञानी के अनन्त दर्शन या पूर्ण दर्शन प्रगट हो जाता है।

मोहनीय कर्म के उदय से नाना प्रकार के एकान्त, विपरीत, संशय, अज्ञान तथा विनय मिथ्यात्व भाव के धारी प्राणी मिलते हैं।

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलन क्रोधादि सोलह कषाय और हास्यादि नौ नोकषाय के तीव्र, मन्द और मन्दतर आदि उदय के कारण नाना प्रकार राग-द्वेष भावों के काम-विकार के तथा नाना प्रकार के अशुभ भावों के व अन्य भावों के धारी जीव जगत में दिख रहे हैं। कोई परोपकार करता है तो कोई हानि पहुँचाता है, कोई रक्षा करता है तो कोई संहार करता है, कोई सत्य वचन बोलता है तो कोई असत्य बोलता है, कोई नीति से लेता-देता है तो कोई चोरी करता है और कोई सन्तोष से धन कमाता है तो कोई अति तृष्णा रखता है। जगत में मोहनीय कर्म के विपाक से अनन्तानन्त जीवों के भावों में बड़ी ही विचित्रता देखने में आ रही है।

अन्तराय कर्म के उदय से आत्मबल प्रगट नहीं है। जितना-जितना उसका क्षयोपशम है उतना-उतना आत्मबल एकेन्द्रिय साधारण निगोद में प्रगट है। वही अधिक-अधिक प्रकाशित होता हुआ केवली के सर्वांश प्रगट है। **आयु कर्म के उदय से** शरीर में जीव कैद रहता है। **नाम कर्म के उदय से** पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति के व द्वीन्द्रियादि त्रसों के, पशु तिर्यञ्चों के, देव नारकादिकों के और मानवों के नाना प्रकार के, सुहावने-असुहावने, छोटे-बड़े, भारी-लघु शरीर बनते हैं। बाहरी दिखने वाले सम्पूर्ण शरीर के आकार नामकर्म के ही उदय से बने हुए हैं।

गोत्रकर्म के उदय से जिस योनि में जीव जाता है, वहाँ जन्म पाकर कोई उच्च और कोई नीच माना जाता है। जगत में उच्च-नीच का भेद स्वाभाविक है। जगत में मान्यता और अमान्यता सर्वत्र ही व्यवहार में पायी जाती है। इसमें गोत्रकर्म का ही हाथ है। **साता व असाता वेदनीय कर्म के उदय से** नाना प्रकार के साताकारी व असाताकारी पदार्थों का सम्बन्ध मिलता है। क्षेत्र, मकान, ऋतु, सङ्गति,

वस्त्र, भोजन, स्त्री, पुत्र और चाकर आदि जो मनोज्ञ व अमनोज्ञ पदार्थ जगत में मिलते हैं उनमें वेदनीय कर्म का ही असर है।

इस तरह आठ कर्मों ने संसार का नाटक बना रखा है। वे आठ कर्म हर एक संसारी जीव के साथ में रहते आ रहे हैं। उन्हीं के कारण से जगत के जीव चार गतियों में नाना भीतरी व बाहरी भेष बनाए हुए भ्रमते हैं। यदि इन आठ कर्मों को जीवों से अलग देखा जावे तो ये सब भेष नहीं दिखते हैं, तब सर्व ही जीव एकाकार और शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय समान ही दिखलायी पड़ते हैं। यही दृश्य परम समताभाव का कारण है। मैं इसी समताभाव में रमणकर परमानन्द का स्वाद लेता हूँ।

48- सम्यक्त्वी चक्रवर्ती (V. Imp.)

भेदविज्ञान वह कला है जिसके बल से पुद्गल के नाना भाँति के आक्रमणों के रहते हुए व पुद्गल के ही चक्कर में भ्रमते हुए भी भवसागर में कभी डूबना नहीं हो सकता। जिसको भेदविज्ञान का लाभ हो गया उसको भवसागर को अपनी भुजाओं के बल से पार करने का साधन हाथ लग गया। भेदविज्ञान वह चक्षु है जो पदार्थ को यथार्थ देखने वाली है। उसमें मोह मदिरा का कुछ भी विकार नहीं है। वह निर्विकार शुद्ध दृष्टि है जिसके प्रताप से दुःखों के बादल भी आते हैं व चले जाते हैं तथा सुखों के मनोहर नाटक भी होते हैं और बिगड़ जाते हैं। ज्ञातादृष्टा भेदविज्ञानी महात्मा के भीतर ये सब विकारी भाव कुछ भी ममता-मोह पैदा नहीं करते हैं। भेदविज्ञान वह शस्त्र है जो कर्मों के वंश को और मोहनीय कर्म को निरन्तर अपनी चोटों से शिथिल व निर्बल करता रहता है। इसी शस्त्र से एक दिन मोह का सर्वथा क्षय भी हो जाता है।

वास्तव में सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती है। भेदविज्ञान उसका सुदर्शन

चक्र है। इस छह द्रव्यमयी षट्खण्ड लोक पर इसी चक्र के प्रभाव से सम्यग्दृष्टि पूरा अधिकार जमा लेता है और कोई भी विपरीत शत्रु उसका सामना नहीं कर सकता। इस चक्री का नाम सुनते ही पूरा लोक वश होकर उसके पगों पर सिर झुका देता है। लोकशिखर पर विराजित शिव कन्या इस चक्री की वीरता पर मोहित हो जाती है और शीघ्र ही इसे अपने निकट बुलाकर वर लेती है तथा सदा के लिए इसे परम सुखी बना देती है।

भेदविज्ञान की कला अनुपम ज्योति रखती है। इसके प्रकाश में सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु भी तद्रूप ही झलकते हैं। जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम हो, स्तम्भ में पुरुष का भ्रम हो, सीप में चाँदी का भ्रम हो व घास में जल का भ्रम हो - ऐसा भ्रामक भाव भेदविज्ञान की ज्योति के सामने रहता ही नहीं है। इस अपूर्व ज्ञानज्योति के प्रकाश में आत्मा आत्मारूप यथार्थ रूप से अपने द्रव्य स्वभाव से झलकता है। भेदविज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव संसार को पीछे करके व मोक्ष को आगे करके चलता है। उसका मुख स्वतन्त्रता की ओर व पीठ संसार वन की तरफ रहती है। वह संसार के काँटों से बहुत कुछ भिद चुका है, बहुत कुछ व्यथित हो चुका है। संसारवन में बहुत बार अनन्त बार भटक चुका है। असह्य दुःखों से आकुलित हो उनसे बचने का मार्ग ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वह बहुत काल तक उद्विग्न रहा पर उसे सच्चा पथ प्रदर्शक न मिला। एक दिन श्री गुरु विद्याधर ने दूर से देखकर उसे भेदविज्ञान का मार्ग बता दिया। यह उसी मार्ग से चलता हुआ मोक्षरूपी निज महल में जा रहा है। यह स्वात्मानुभव का ही भोजन करता है, स्वात्मानुभव का ही पानी पीता है, स्वात्मानुभव का ही वाहन रखता है, स्वात्मानुभव के ही वस्त्र पहनता है, स्वात्मानुभव में ही विश्राम करता है, स्वात्मानुभव के ही बल से बढ़ता चला जाता

है और निरन्तर आनन्द मङ्गल से परम सन्तोषी रहता हुआ स्वकर्तव्य में दत्तचित्त हो रहा है।

49- सुखसागर (V.Imp.)

भेदविज्ञान की महिमा निराली है। जिसने इसको अपनाया है उसने ही भवसमुद्र से पार होने की नौका प्राप्त कर ली है। जब यह ज्ञानी अपनी सत्ता की परीक्षा करता है तब इसको स्वस्वरूप की खबर पड़ जाती है कि वह एक ऐसा अद्भुत आनन्दमय पदार्थ है जिसमें निरानन्दकारक किन्हीं विकारों का सम्बन्ध नहीं है। वह बिल्कुल शुद्ध पदार्थ है, मात्र अनुभवगोचर है, मन, वचन, काय की वहाँ गम्यता नहीं है। वह पदार्थ जो कुछ है वही मैं हूँ। मैं संसार की किसी भी पर्याय का धारी नहीं हूँ। जितना सांसारिक खेल है वह सर्व कर्मजनित है, पुद्गलकृत है। पुद्गल भिन्न द्रव्य है, जीव भिन्न द्रव्य है।

अपने को आप रूप जानना और पर को परस्वरूप ही जानना भेदविज्ञान है। पानी के ऊपर चिकनाई जैसे तैरती है वैसे ही सर्व अन्य द्रव्यों के मध्य में आत्मद्रव्य भिन्न ही झलक रहा है। भेदविज्ञान के प्रताप से स्वात्म लाभ होता है। स्वात्मानुभव से ही आत्मा मोक्षमार्ग पर गमन करने वाला कहलाता है। स्वात्मानुभव ही एक ऐसी सड़क है जो सीधी बिना रुकावट के मोक्षमहल तक चली गयी है। जो आँख मींचकर भी इस सड़क पर चलेगा वह अवश्य अपने इच्छित स्थान को पहुँच जायेगा। इस सड़क पर चलते हुए कभी कोई रुकावट व आकुलता नहीं होती है और निराकुलता के साथ जाते हुए स्वात्मानन्द का भोग भी होता है।

स्वात्मानुभव योगियों का परम प्रिय मन्त्र है। इसके पढ़ते ही राग, द्वेष, मोह न मालूम कहाँ भाग जाते हैं। स्वात्मानुभव के प्रताप से नवीन कर्मों का संवर होता है और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती

है। स्वात्मानुभव एक ऐसा क्रीड़ावन है जहाँ आत्मा रमण करता हुआ कभी किसी विघ्न को प्राप्त नहीं करता है। उस रमण में संसार का सर्व मायाजाल विस्मरण हो जाता है और यह ज्ञानी एक ऐसे अद्वैत भाव में रम जाता है जहाँ कोई विचार की तरङ्गें नहीं उठती हैं। इसी को सुखसागर भी कह सकते हैं। इसका स्नान परम पवित्रता का कारण है। इसका सार सुधामयी जल भव तृषा को मिटाने वाला है और उसको ऐसा अनुपम आनन्द देने वाला है जिसका वर्णन वचनों से नहीं हो सकता और मन जिसका कुछ विचार नहीं कर सकता। स्वात्मानुभव भेदविज्ञान के प्रताप से ही प्राप्त होता है। **ऐसे विज्ञान की सदा जय हो।**

50- आत्मभानु आराधन (V.Imp.)

एक भेदविज्ञानी महात्मा अपने घर में अन्धकार देखकर अचम्भे में आ जाता है। सूर्य के होते हुए अन्धेरा होना क्या आश्चर्य की बात नहीं है! परन्तु जब अन्धेरा होता है तो वह सूर्य के ऊपर आये हुए मेघों का दोष है, सूर्य का अपराध नहीं है। इसी तरह भीतर मोहनीय कर्म, ज्ञानावरण कर्म, दर्शनावरण कर्म और अन्तराय कर्म का उदय ही अन्धकार के फैलाने का जिम्मेदार है। आत्मप्रभु में बिल्कुल अन्धकार नहीं है। आत्मप्रभु तो सूर्य के समान परम वीतरागी व ज्ञान से प्रकाशमान है। इस कर्म के आवरण के हटाने का उपाय भेदविज्ञान द्वारा आत्मारूपी सूर्य का आराधन है। यही सूर्यपूजा है। यह सूर्यपूजा आत्मसूर्य का प्रकाश करने वाली है और कर्म मेघ पटलों को हटाने वाली है।

शुद्ध निश्चयनय वह दृष्टि है जो शुद्धात्मा को सिद्ध भगवान के समान दिखाती है। इस दृष्टि से देखते हुए आत्मा में न आठ कर्म हैं, न शरीरादि नोकर्म है, न रागादि भावकर्म हैं, न मन का विकल्प है,

न इन्द्रियजन्य ज्ञान है, न वचन का विलास है, न काय की क्रिया है, न कोई संसार की अशुभ क्रिया है, न शुभ क्रिया है, न कोई दुष्ट है, न कोई सुष्ठु है। न कोई शुभाचार है, न कोई अशुभाचार है, न वहाँ श्रावक के अणुव्रत है, न साधु के महाव्रत हैं, न वहाँ गुणस्थान की श्रेणियाँ हैं, न वहाँ पूज्य है न कोई पूजक है, न वहाँ स्वामी है न कोई सेवक है। मैं मात्र अनुभवगोचर एक अखण्ड द्रव्य हूँ। मेरा कोई सम्बन्ध जगत की किसी भी शुभ-अशुभ क्रिया से नहीं है। मैं व्यवहार धर्म से अतीत हूँ। न मुझे कर्मों का आस्रव है, न कर्मों का बन्ध है, न कोई संवर व निर्जरा तत्त्व का विकल्प है, न मोक्ष का उद्देश्य है, न वहाँ मोक्षमार्ग का कोई सङ्कल्प है।

मेरा आत्मसूर्य एक निराला ही पदार्थ है। जो कोई सर्व अन्य से पराङ्गमुख होकर इसी एक आत्मसूर्य को स्वानुभव रूप अर्घ चढ़ाता है, इसी की सच्चे भाव से श्रद्धापूर्वक पूजा करता है, वही कर्ममेघों को हटाता जाता है। ज्यों-ज्यों इसकी भक्ति की जाती है, त्यों-त्यों मेघाडम्बर हटता है। भक्ति की पराकाष्ठा वहीं है जहाँ कभी वह अद्वैतानुभव से पीछे न पलटे। अखण्ड अद्वैतानुभव सर्व मेघाडम्बर को भगा देता है और आत्मानुभव का यथार्थ रूप में प्रकाश कर देता है।

आत्मानुभव को पाना ही भेदविज्ञान का फल है। ज्ञाता प्रवीण पुरुष भेदविज्ञान के अद्भुत मन्त्र के प्रभाव से जगत में रहता हुआ भी जगत से उदास है। वह निरन्तर निजात्मा रूपी सूर्य का भक्त होता हुआ सर्व अन्य विकल्पों से बुद्धि हटाकर अपने ही शुद्ध स्वरूप में तन्मय होता है, उसी का स्वाद लेता है और परमानन्द को पाता है। परम तृप्ति को पाकर वह जिस अवस्था को पहुँचता है वह वचन अगोचर है, मन अगोचर है मात्र केवलज्ञानी के ही स्वानुभव गोचर है।

॥ भेदविज्ञान समाप्त ॥

2. स्वानुभव

स्वानुभव

1- एकान्त मिथ्यात्व निषेध (Nice)

मोक्ष का द्वार स्वानुभव है क्योंकि मोक्ष भी स्वानुभव है। जैसा साधन होता है वैसा साध्य होता है। स्वानुभव का मूल भेदविज्ञान है, जैसे दूध के बिलोने से मक्खन निकलता है वैसे भेदविज्ञान के अभ्यास से स्वानुभव उत्पन्न होता है। स्वात्मानुभव स्वावलम्बन है। परावलम्बन का घातक है। स्वानुभव सुखसागर है जो अतीन्द्रिय परमामृत रूपी जल से भरा है। इसमें जो मिठास है वह चक्रवर्ती इन्द्रादि के विषय सुख में नहीं है। स्वानुभव ही वह परम तृप्तिकारी भोजन है जो अनादि की क्षुधा को मिटा देता है। स्वानुभव ही वह उष्ण वस्त्र है जिसको ओढ़ लेने से राग-द्वेष की शीतता असर नहीं करती है। स्वानुभव वह दुर्ग है जिसमें बैठने से कर्मों को प्रवेश होने का मार्ग नहीं मिलता है। स्वानुभव वह ध्यानाग्नि है जो कर्म समूह को दग्ध कर देती है।

स्वानुभव ही वह कला है जिससे गृहस्थ जीवन में रहते हुए, क्षत्रिय हो युद्धादि करते हुए, वैश्य हो व्यापारादि करते हुए व नाना प्रकार का उद्योग-धन्धा करते हुए भी त्रिभवन में भ्रमण नहीं होता है। जग के प्रपञ्च करते हुए भी अलिप्त रहने की कला स्वानुभव से ही प्राप्त होती है। स्वानुभव ही वह दृढ़ जहाज है जो इस अथाह भवसमुद्र को पार करके शिवद्वीप में पहुँचा देता है। मिथ्यात्व की काई को बुरा कहा जाता है क्योंकि यह वह अन्धकार है जिसमें वस्तु जैसी है वैसी दिखलायी नहीं पड़ती है।

एकान्त मिथ्यात्व के अन्धरे में यह अज्ञानी प्राणी वस्तु को नित्य ही या अनित्य ही, एक ही या अनेक ही, सत् रूप ही या असत् रूप

ही माना करता है। वस्तु नित्य भी है अनित्य भी है, एक भी अनेक भी है, सत् रूप भी है असत् रूप भी है-ऐसा नहीं मानता है। आत्मा शुद्ध ही है या अशुद्ध ही है-ऐसा मानता है परन्तु आत्मा किसी अपेक्षा शुद्ध है, किसी अपेक्षा अशुद्ध है-ऐसा नहीं मानता है। जब आत्मा को आत्मा के निजद्रव्य में देखा जाता है तो न वहाँ मिथ्यात्व है न नय का विकल्प है, न वहाँ एकान्त है न अनेकान्त है, न वहाँ भाव है न अभाव है। न वहाँ मन है, न वचन है, न काय है। न कर्म है, न रागादि भाव है, न शरीर है। न कुछ चिन्तन है, न कुछ मनन है, न कुछ भेदविज्ञान है अर्थात् अपने ज्ञानानन्दमय स्वभाव का ही झलकाव है। ज्ञानोपयोग का इसी शुद्ध आत्मिक द्रव्य की सत्ता में या सुखसत्ता चैतन्यबोधमयी प्राणधारी आत्मा में मग्न हो जाना, गुप्त हो जाना, समाधिमय हो जाना ही स्वानुभव है।

2- विपरीत मिथ्यात्व निषेध

एक ज्ञानी वीर भेदविज्ञान के प्रताप से स्वानुभव का उद्योग करता हुआ पहले पर से भिन्नता की भावना करता है। अनादिकाल से जिस विष के चढ़ने से यह अपने शुद्धात्मानुभव से छूटा हुआ भवभ्रमण करता रहा वह मिथ्यात्व का विष है। वस्तु अनेक धर्मात्मक होते हुए भी एक धर्म रूप ही है ऐसा एकान्त मिथ्यात्व जिस तरह असत्य है उसी तरह विपरीत मिथ्यात्व भी असत्य है। हिंसा से धर्म नहीं हो सकता तो भी हिंसा में धर्म मानकर यज्ञों में पशु होमना व देवी-देवताओं के सामने भैंसों व बकरों का बलिदान करके चढ़ाना विपरीत मिथ्यात्व है। निर्दयभाव ही पापबंधक है। उसे पुण्यबन्धक मानना ही मिथ्यात्व है। अहिंसा धर्म है, हिंसा अधर्म, इससे विरुद्ध मानना विपरीत मिथ्यात्व है। मोक्ष का साधन शुद्ध वीतराग परिणाम है जो शुभ व अशुभ भावनाओं से रहित है-इस तत्त्व को न जानकर

जप, तप, बाहिरी संयम और बाहिरी भेष को, द्रव्यलिङ्ग को मोक्ष का मार्ग मानना विपरीत मिथ्यात्व है। व्यवहार धर्म से ही हित होगा अथवा व्यवहार को अनावश्यक समझकर निश्चय धर्म के निश्चयाभासरूप वर्तन से ही हित होगा-यह विपरीत मिथ्यात्व है। व्यवहार धर्म मन, वचन, काय की समता के लिए सहायक है और स्वानुभव के लिए साधक है। जब तक स्वानुभव न हो स्वानुभव के निकट पहुँचने के लिए व्यवहार धर्म साधक है-ऐसा यथार्थ न समझकर विपरीत श्रद्धान करना विपरीत मिथ्यात्व है।

मैं आज इस विपरीत मिथ्यात्व के विष को उगलता हूँ। भेदविज्ञान के बल से आत्मा को शुद्ध, निर्विकार, अमूर्तिक, ज्ञाता-दृष्टा और सिद्ध भगवान के समान ग्रहण करता हूँ और सर्व ही कर्म, नोकर्म व भावकर्म को अपने से पृथक् मानता हूँ। इस तरह द्वैत की भावना करते हुए अब मैं अद्वैत पर आ जाता हूँ। पहले तो यह बार-बार भावना करता हूँ कि मैं सत् द्रव्य हूँ। यद्यपि अभेद हूँ तथापि सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध आदि के भेद से भेदरूप हूँ। इस भेद व अभेद कल्पना को भी त्यागकर मैं आप अपने ही शुद्ध स्वरूप में उसी तरह घुल जाता हूँ जैसे नमक की डली पानी में घुल जाती है। यही घुल जाना ही वचन अगोचर स्वानुभव है। वहाँ न अद्वैत का विचार है, न द्वैत का विचार है। मन, वचन, काय की चेष्टा से परे निज में निज की स्थिरता को स्वानुभव कहते हैं। यही आनन्द सागर है जहाँ निरन्तर अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ होता है।

3- अज्ञान मिथ्यात्व निषेध (Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व सङ्कल्प-विकल्पों के त्यागने की भावना करके भेदविज्ञान की दृष्टि से देखकर भिन्न-भिन्न पदार्थों को भिन्न-

भिन्न देखता है। किन्हीं अन्ध जीवों के भीतर अज्ञान मिथ्यात्व का ऐसा दृढ़ प्रभाव हो जाता है जिससे वे किसी तत्त्व के मर्म को समझने की चेष्टा नहीं करते हैं। अज्ञान से देखादेखी धर्म की क्रियाओं की तरफ अमल करने लग जाते हैं। वे बिल्कुल मूढ़ता से वर्तते हैं, उनको आत्मा व अनात्मा का कुछ भी भेदज्ञान नहीं होता है। कभी वे सत्य क्रिया को सत्य व कभी असत्य मानने लग जाते हैं। कभी वे मान लेते हैं कि यह जगत ईश्वर की माया है, उसकी बिना इच्छा के कुछ भी काम नहीं होता है, वही सबसे अच्छा-बुरा कराता है। कभी ऐसा मानते हैं कि जैसा अपना कर्म है वैसा उसका फल होता है। लोगों की भिन्न-भिन्न किंवदन्तियाँ ही उनकी भाषा होती है।

अज्ञान मिथ्यात्व के दोष से ग्रसित प्राणी घोर तप करते हैं। उपवास व कायक्लेश करते हैं। उपसर्ग भी सहते हैं। भीतर में आर्त्तपरिणाम होते हैं, उनको भी वे सहते हैं इसी लोभ से कि तप करने से स्वर्गादि शुभ धाम का लाभ होगा उनको इस बात की पहचान नहीं होती है कि शुद्ध भावों से मोक्ष होती है व शुद्ध भाव ही प्राप्त करना चाहिए।

यदि वे गृही होते हैं तो गृहस्थ का षट्कर्म साधते हैं, वे नित्य देवदर्शन या पूजन करते हैं, शास्त्र पढ़ते हैं, णमोकार मन्त्र का जप करते हैं, नियम आखड़ी पालते हैं, रात्रि को भोजन नहीं करते हैं, अष्टमी चौदश को कभी एकाशन करते हैं, कभी उपवास करते हैं, हरी नहीं खाते हैं, दान भी देते हैं परन्तु इन सब क्रियाओं को मूढ़तावश देखादेखी करते हैं। शुभ साधनों से वीतराग भावों की सिद्धि करनी है इस तत्त्व को वे नहीं समझते हैं। अज्ञान भाव से बहुत दीर्घ काल तक बड़े भारी परिश्रम से किया हुआ तप भी कर्मों के मैल को नहीं काट सकता है। आत्मज्ञानपूर्वक थोड़ा भी किया हुआ तप कर्मों की बहुलता से निर्जरा कर देता है। अज्ञान के कारण

प्राणी शुभ भावों को ही मोक्षमार्ग मान लेते हैं। जिन भावों से पुण्य बन्ध होता है उन्हीं से निर्जरा समझ लेते हैं। अज्ञानपूर्वक किया हुआ व्रत, जप, तप और शास्त्राराधन कंकड़-पत्थर के मूल्य के समान है।

इस ज्ञानी ने अज्ञान मिथ्यात्व का वमन कर दिया है। इसको इस बात का यथार्थ ज्ञान है कि अशुभ भावों से पाप बन्धता है, शुभ भावों से पुण्य बन्धता है एवं शुद्ध भावों से कर्मों का क्षय होता है तथा धर्म का साधन एकमात्र भावों की शुद्धि ही के लिए करना योग्य है और कोई कषाय जनित कामना न रखनी चाहिए। इस कारण ज्ञानी जीव स्वतन्त्रता का अभिलाषी होकर बन्ध के नाश का परम पुरुषार्थ करता है। वह जानता है कि शुद्धभाव ही वह ध्यानाग्नि है जो कर्मों के ईन्धन को जलाती है। जहाँ स्वानुभव है वहीं शुद्ध भाव का प्रकाश है।

भेदविज्ञान के द्वारा जब अपनी ही आत्मा को सर्व आत्मद्रव्यों से, सर्व पुद्गलादि अनात्म द्रव्यों से, सर्व कर्मजनित विभावों से, सर्व प्रकार के शरीरों से एवं सर्व प्रकार के भेदभावरूप विकल्पों से भिन्न जाना जाता है और उपयोग को सर्व पर से हटाकर केवल अपनी आत्मा के शुद्ध द्रव्य में उपयुक्त किया जाता है, परम लीन किया जाता है तब एकाएक स्वानुभव का उदय होता है। भेदविज्ञान रूपी उदयाचल से स्वानुभव का सूर्य उदित होकर संसार भ्रान्ति के तम को मिटा देता है, आनन्द कमल को प्रफुल्लित कर देता है व परमामृत के समुद्र में स्नान करने को उत्साहित कर देता है। स्वानुभव ही सामायिक है। यही यथार्थ भवोदधि तारक नौका है, जो इस पर चढ़ता है वह परमानन्दमय होकर परम तृप्ति पाता है।

4- संशय मिथ्यात्व निषेध

ज्ञान-दर्शन गुणधारी एक अन्तरात्मा भेदविज्ञान के प्रताप से जब जगत की वस्तुओं को देखने लगता है तब उसे पता चलता है कि यह

जगत छह द्रव्यों की मिश्ररूप विचित्र अवस्था को रखने वाला है। नर, नारक, पशु और देव चार गतियों में नाना कुलधारी जीव नाना प्रकार का दृश्य बता रहे हैं। चर्म-चक्षुओं से देखते हुए सर्व तरफ पुद्गल ही पुद्गल दिखलायी पड़ता है सो भी पुद्गल के स्थूल स्कन्ध ही नजर आते हैं। सूक्ष्म स्कन्ध तथा परमाणुओं का तो दर्शन ही नहीं होता। जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल तो कहीं दिखते ही नहीं।

चर्म चक्षुधारी बहिरात्मा को यदि कोई आत्मा, परमात्मा, पुण्य तथा पाप के अस्तित्व का उपदेश देता है तो उसके मन में संशय मिथ्यात्व का उदय हो जाता है। जीव है कि नहीं, पुण्य-पाप है कि नहीं-इस द्विकोटि झूले में झूलने के कारण वह बेचारा कुछ भी निर्णय नहीं कर पाता है। मिथ्यात्व का पलड़ा अधिक भारी होने से वह धर्म की तरफ से बेखबर रहता हुआ जीवन बिताता है। अमूल्य नर जन्म को वृथा ही खो देता है।

अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि को पूरा निश्चय है कि जीव की सत्ता बिना पुद्गल का ज्ञान नहीं हो सकता। पुद्गल न तो आपको जानता है और न पर को जानता है। चेतना गुण जड़ स्कन्धों में कहीं भी दिखलायी नहीं पड़ रहा है तथा चेतनागुण है अवश्य क्योंकि हर एक को इस बात का अनुभव है कि मैं जानता हूँ। ज्ञान लक्षण से ही जीव पुद्गल से भिन्न झलक रहा है। चर्म चक्षु को बन्द कर जब ज्ञान नेत्र से देखा जाता है तब जीव तथा पुद्गल की सत्ता के साथ-साथ धर्मादि चार द्रव्यों की सत्ता भी सिद्ध हो जाती है। जीव पुद्गल इस जगत में चलने का, ठहरने का, अवकाश पाने का तथा अवस्थान्तर होने का काम करते हैं। इन कामों के मूल कर्ता तो ये ही हैं परन्तु हर एक कार्य के लिए उपादान (मूल) तथा निमित्त कारण दोनों की आवश्यकता पड़ती है सो इनके निमित्त कारण क्रम से धर्म, अधर्म,

आकाश तथा काल हैं। इस तरह बुद्धि द्वारा विचार करने पर छहों द्रव्यों का स्वरूप अन्तरात्मा ज्ञानी को झलकता है।

जीवों की विचित्रता जो पुद्गल के संयोग से नाना प्रकार दिख रही है उसकी तरफ जब यह ज्ञाता भेदविज्ञान की सूक्ष्म दृष्टि से देखता है तो इसे पुद्गल से भिन्न जीव स्पष्ट दिख जाता है। इसे दिखता है कि इस मेरे ही जीव की सत्ता में न ज्ञानावरणादि आठों कर्मों की सत्ता है, न रागद्वेषादि भावकर्मों की सत्ता है, न शरीरादि नोकर्मों की सत्ता है और न अनन्तानन्त और जीवों की सत्ता है। यह जीव सिद्ध भगवान के समान परम शुद्ध, ज्ञान-दर्शनमय, अमूर्तिक परमानन्द का भण्डार है। इस तरह निश्चय करके यह ज्ञानी सर्व पर से मुँह मोड़, एक अपने ही शुद्ध स्वभाव की तरफ सन्मुख हो, एकाग्र हो जिस अवस्था को प्राप्त होता है उसी को स्वानुभव कहते हैं।

स्वानुभव के प्रकाश होने पर इसे अपना ईश्वरपना अपने ही भीतर नजर आता है तब परम शान्ति का साम्राज्य छा जाता है, परम सुख का विलास झलक जाता है। तब इसे ऐसी स्वरूपमग्नता प्राप्त हो जाती है कि उसमें रहते हुए इसे यह विकल्प नहीं होता है कि वह कौन है। जिसका मेरे साथ मेल है। वह एक अद्वैत ब्रह्मभाव में पहुँच जाता है, जहाँ परम गम्भीरता है, परम शील है, परम वैराग्य है। यही स्वानुभव ध्यान की ज्वाला है जो आत्मा रूपी सुवर्ण को अवश्य शुद्ध कर देती है।

5- विनय मिथ्यात्व निषेध

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जाल से रहित हो भेदविज्ञान के स्वरूप का विचार कर रहा है, तब इसके सामने आत्मा की मूर्ति अलग और अनात्मा की मूर्ति अलग खड़ी हो जाती है। जैसे चतुर सर्राफ

के सामने सोने, चाँदी का मिश्रित आभूषण आने पर उसकी बुद्धि सोने को चाँदी से अलग देख लेती है। यथार्थ आत्मा का श्रद्धालु ही सम्यग्दृष्टि है। जगत के प्राणी नाना प्रकार के मिथ्यात्व भाव में ग्रसित होकर सम्यक् आत्मतत्त्व को नहीं पहिचानते हैं। कोई-कोई विनय मिथ्यात्व के भाव से प्रेरित होकर भोले स्वभाव को धारण करते हैं। वे सर्व ही धर्मों को, सर्व ही देवों को, सर्व ही साधुओं को और सर्व ही शास्त्रों को एक सा लाभकारी मानकर सर्व ही की समान भक्ति करके अपने सादे भोलेपन से ठगे जाते हैं। उनके इस समान विनय की तृष्णा के अधिकार में सत्य तत्त्व का प्रकाश नहीं दिखता है।

जैसे कोई सुवर्ण का अभिलाषी होकर भी असली सुवर्ण, कल्पित सुवर्ण, पीतल व दूसरी पीत धातुओं को एक सा मानकर आदर करने लग जावे तो उसको कभी भी असली सुवर्ण का ज्ञान न होगा, वह बहुधा ठगाया जायेगा। विनय मिथ्यात्व के कारण उसके भाव में सत्य धर्म, सत्य देव, सत्य गुरु व सत्य शास्त्र से कभी भी हार्दिक प्रीति न होगी। ऐसे विनय मिथ्यात्व के दोष से दूषित प्राणी को वेदान्त समान आत्मा ब्रह्मांश है, यह भी तत्त्व उसी तरह जँच जाता है जैसे सांख्य के समान आत्मा व पुरुष पृथक्-पृथक् हैं, यह तत्त्व मान्य हो जाता है। वह आत्मा को परिणामी भी मान लेता है व अपरिणामी भी मान लेता है। वह उसे अशुद्ध भी मान लेता है व शुद्ध भी मान लेता है। उसको न संशय है, न विचार है, केवल मूढ़ भक्ति है।

परमात्मा कृतकृत्य अकर्ता है - इस तत्त्व को वह जैसे मानता है वैसे परमात्मा जगत्कर्ता है-यह बात भी उसे प्यारी लग जाती है। परमात्मा को वह निर्गुण भी मान लेता है व सगुण भी मान लेता है। भिन्न-भिन्न अपेक्षा से भिन्न-भिन्न विवेचन है - ऐसा न समझते हुए भोलेपन से सर्व ही विरुद्ध मान्यताओं को समान मानकर विनय करना

मिथ्यात्व है। इस विनय मिथ्यात्व को दूर करके तत्त्वगवेषी ने यथार्थ तत्त्व को जाना है। यह ज्ञानी अनेक धर्मात्मक, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप, अनेक सामान्य व विशेष गुणों की धारी अपनी आत्मा को निश्चयनय से सिद्ध के समान शुद्ध एकाकार राग-द्वेष-मोहरहित, कर्मरहित और मन-वचन-काय के विकल्प रहित मानता है। अपनी आत्मा की सत्ता में कथञ्चित् भाव व कथञ्चित् अभाव देखता है। जब स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का सद्भाव है तब ही परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का अभाव है।

इस तरह अपने को परम शुद्ध, एक, ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमय, अविनाशी और अमूर्तिक देखता हुआ यह ज्ञानी अपनी परिणति को पर से हटाता है और मात्र एक स्वरूप में जोड़ देता है। जोड़ते समय तो अनेक विशेषणों द्वारा आत्मा का मनन होता है पर फिर ये सब विशेषण विलय हो जाते हैं और यह एक अनिर्वचनीय स्वपद में ऐसी विश्रान्ति पा जाता है कि जिसका कथन नहीं हो सकता। यही स्वानुभव है।

6- तीन प्रकार की आत्मदशा

एक ज्ञानी आत्मा जगत के आकुलतामय प्रपञ्च जाल से निकलकर निराकुल परमानन्दमय पद में विराजमान होने की भावना करता है। वह जानता है कि वह पद कहीं मुझसे भिन्न नहीं है, आप ही है। वह पद औदारिक, तैजस व कार्माण इन तीन शरीरों के तथा इन शरीरों के फल से होने वाले विकारों के भीतर गुप्त हो रहा है। भेदविज्ञान के प्रताप से ही अपना भिन्न स्वभाव ज्ञानदृष्टि में आ सकता है।

शास्त्रों के द्वारा व गुरु उपदेश द्वारा व न्याय शास्त्र की युक्तियों के द्वारा अपना स्वभाव पर से भिन्न जान लेने पर भी दृष्टि निज

स्वरूप में स्थिर नहीं होती है। इसका कारण यह है कि अनन्तानुबन्धी क्रोधादि कषाय और दर्शन मोहनीय कर्म के विकारों के कारण निज स्वरूप का स्वसंवेदन व स्वानुभव नहीं होता है। एकान्त, विपरीत, अज्ञान, संशय तथा विनय इन पाँच प्रकार के व्यवहार मिथ्यात्व को त्यागकर यह ज्ञानी सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत जीवादि सात तत्त्वों पर श्रद्धान लाने का उद्यम करता है। जीव और अजीव - इन दो तत्त्वों में सकल विश्व गर्भित है। यह विश्व जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों का समुदाय है।

जीव की ही शक्ति का जब विचार किया जाता है तब यह अनन्तानन्त पर्यायों के भीतर परिणमन कर सकता है। उन पर्यायों में बहिरात्मपना, अन्तरात्मपना तथा परमात्मपना मुख्य है। आत्मा को आत्मारूप न मानकर अन्य किसी रूप मानकर सन्तोष रखने की अवस्था में बहिरात्मपना मुख्य है। आत्मा को आत्मारूप ही मानना और अन्य रूप किञ्चित् भी न मानना अन्तरात्मपना है। अपने को परमात्मरूप परिणति में रमाना परमात्मपना है। इनमें से बहिरात्मपना त्यागने योग्य है, अन्तरात्मपना ग्रहण करने योग्य है। और फिर अन्तरात्मपना भी त्याग योग्य है, एक परमात्मपना ग्रहण करने योग्य है। इन सब विकल्पों के भीतर एक शिष्य को रहना पड़े तो पड़े। ज्ञानी भेदविज्ञान के द्वारा निज वस्तु को ग्रहण कर जब उसी में उपयोग की स्थिरता कर देता है तब एकाएक स्वानुभव का उदय हो जाता है तब आप आपमें विश्रान्ति पाकर वह जो आनन्द अनुभव करता है, वह मात्र अनुभवगम्य ही है। जो आस्वादे वही जाने।

7- मार्गणाओं से भेद

एक ज्ञानी आत्मा भेदविज्ञान के द्वारा स्वानुभव का आनन्द लेता है। वास्तव में अतीन्द्रिय आनन्द आत्मा का स्वभाव है। जब ज्ञानमयी

उपयोग पर से उन्मुख हो आत्मस्थ हो जाता है तब उसे स्वाभाविक आनन्द का स्वाद अवश्यमेव आता है। निज सुख-शान्ति का विलास प्राप्त करना ही मानव का उच्चतम ध्येय होना चाहिए। अपनी आत्मा रूपी क्रीड़ा-वन में परम भक्ति के साथ भ्रमण करना चाहिए। अनादिकाल की अविद्या से ग्रसित मानव स्व-पर तत्त्व का यथार्थ बोध न पाकर अपने स्वरूप के संवेदन से रहित हो रहा है। सम्यग्दर्शन के प्रकाश होने पर ही स्वात्मानुभव हो सकता है।

जीव तत्त्व का विचार करते हुए जब निश्चय दृष्टि से या सत्य स्वरूप की अपेक्षा से विचार किया जाता है तो सर्व जीव मात्र का स्वभाव एक सा प्रगट होता है। सर्व ही जीव अपनी सत्ता को भिन्न-भिन्न रखते हुए भी स्वरूप से समान हैं, गुणों में समान हैं। इन ही जीवों को जब व्यवहार दृष्टि से या भेदभाव की दृष्टि से देखा जाता है तो मुक्त जीव शुद्ध व संसारी जीव अशुद्ध दिखलायी पड़ते हैं। इस अशुद्धता का कारण कर्मों का बंध है। कर्मबन्ध की विचित्रता का कारण संसारी जीवों की विचित्रता है। उसी तरह से जैसे जल निर्मल होने पर भी भिन्न-भिन्न वर्ण की वस्तुओं के मेल से नाना प्रकार का दिखलायी पड़ता है। यदि जीवों की नाना प्रकार की अवस्थाओं की सैर करें तो चौदह मार्गणाओं को देख जाना चाहिए।

गति मार्गणा में कोई नारकी है, कोई तिर्यञ्च है, कोई मानव है, कोई देव है। इन्द्रिय मार्गणा में कोई एकेन्द्रिय है, कोई द्वीन्द्रिय है, कोई त्रीन्द्रिय है, कोई चतुरिन्द्रिय है, कोई पञ्चेन्द्रिय है। काय मार्गणा में कोई पृथ्वीकायिक है, कोई जलकायिक है, कोई अग्निकायिक है, कोई वायुकायिक है, कोई वनस्पतिकायिक है, कोई त्रसकायिक है। योग मार्गणा में कोई काय योगधारी है, कोई काय और वचन योगधारी है, कोई मन, वचन, काय तीनों योगधारी है। यद्यपि एक

समय में हर एक जीव में एक ही योग उपयोगपूर्वक काम करता है पर पूर्व प्रयोग से अन्य योग भी काम करता रहता है। कोई स्त्रीवेदी है, कोई नपुंसकवेदी है, कोई पुरुषवेदी है। भाव से कोई तीनों वेदी है, यद्यपि एक काल में एक ही वेद भाव रहता है। क्रोधादि चारों कषायों के भीतर सर्व संसारी जीव मग्न हैं, यद्यपि एक समय में क्रोध, मान, माया, लोभ में से एक ही का आक्रमण रहता है—यह कषाय मार्गणा है।

ज्ञान मार्गणा में कोई मति, श्रुत उभय ज्ञानी है। कोई कुमति, कुश्रुत ज्ञानी है, कोई इन दोनों के साथ कुअवधि ज्ञान है, कोई मति, श्रुत के साथ सुअवधि ज्ञानी है, कोई मति, श्रुत, मनःपर्यय व कोई मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्यय ज्ञानी है, कोई केवलज्ञानी है। चार ज्ञान तक एक साथ रहते हुए भी एक काल में एक ज्ञान ही काम करता है। संयम मार्गणा में कोई असंयमी है, कोई देशसंयमी है, कोई पूर्णसंयमी है। पूर्ण संयमी होकर कोई सामायिक व छेदोपस्थापना दो संयम सहित है। कोई सामायिक, छेदोपस्थापना व परिहारविशुद्धि तीन संयम सहित है। कोई सूक्ष्म सांपरायवान है, कोई यथाख्यात-चारित्रवान है, यद्यपि एक काल में एक ही संयम होता है।

इस तरह विचारते हुए ज्ञानी नाना विकल्पों की तरङ्गों में ग्रसित होता हुआ स्वानुभव से बहुत दूर-दूर रहता है। अब यह इन सर्व विचारों को त्यागता है और एक निश्चयनय की दृष्टि से सबको समान देखता है, फिर अपनी ही आत्मा की स्वच्छ भूमि में विश्राम पाकर सन्तुष्ट हो जाता है, तब निश्चयनय भी छूट जाता है और यह अपने ही उपवन में एकाग्रता से रमण करता हुआ अपने परम मित्र स्वानुभव के दर्शन पाकर परम कृतार्थ होकर परमानन्द का भोग करता है।

8- मार्गणाओं के भेद

ज्ञाता-दृष्टा आनन्दमयी आत्मा सर्व बाधाओं से रहित होकर एकान्त में निश्चल बैठ भेदविज्ञान के द्वारा तत्त्वों का विचार कर रहा है। वह जानता है कि सम्यग्दर्शन रूपी रत्न की चमक में ही स्वानुभव का प्रकाश होता है और स्वानुभव के प्रकाश से ही आत्मिक सुख व शान्ति का अनुभव होता है। यह सम्यग्दर्शन यद्यपि आत्मा का गुण है तथापि व्यवहार सम्यग्दर्शन के प्रयोग से ही इसका निरोधक कर्ममल हटता है।

व्यवहार सम्यग्दर्शन के विषयभूत तत्त्वों का ज्ञान करने पर चौदह मार्गणाओं का विचार करते हुए दर्शन मार्गणा में कोई चक्षुदर्शनवान है कोई अचक्षुदर्शनवान है, कोई अवधिदर्शन सहित तीन दर्शनधारी हैं और कोई केवलदर्शनधारी है, यद्यपि एक समय में एक ही दर्शन होता है। लेश्या मार्गणा में भावों का विचार है। अशुभतम, अशुभतर व अशुभ भावों को क्रम से कृष्ण, नील व कापोत लेश्या कहते हैं। शुभ, शुभतर, शुभतम भावों को क्रम से पीत, पद्म तथा शुक्ल लेश्या कहते हैं। संसारी जीव कोई तीन अशुभ लेश्याधारी हैं, कोई पीतलेश्या सहित चार लेश्याधारी हैं, कोई पीत, पद्म सहित पाँच लेश्याधारी हैं, कोई पीत, पद्म, शुक्ल सहित छह लेश्याधारी हैं, कोई पीत, पद्म, शुक्ल तीन लेश्याधारी हैं, कोई एक-एक लेश्याधारी हैं। एक समय में एक ही लेश्या होती है। लेश्या ही के कारण कर्मों का सम्बन्ध होता है।

संसार में कोई जीव भव्य हैं, कोई अभव्य हैं। कोई मिथ्यात्वभाव सहित हैं, कोई सासादनभाव सहित हैं, कोई सम्यग्मिथ्यात्वभाव सहित हैं, कोई उपशम सम्यग्दृष्टि हैं, कोई क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि हैं, कोई क्षायिक सम्यग्दृष्टि हैं। कोई संसारी जीव मन सहित संज्ञी हैं,

कोई मन रहित असंज्ञी हैं। कोई स्थूल शरीर बनने के योग्य वर्गणाओं को ग्रहण करने के कारण से आहारक हैं, कोई उन्हें न ग्रहण करने के कारण से अनाहारक हैं। इस तरह चौदह प्रकार की अवस्थाओं में तलाश करते हुए संसारी जीवों की भिन्न-भिन्न दशाएँ प्रगट होती हैं। आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध ही इन मार्गणाओं की उत्पत्ति का मूल है। ये सब रचना परद्रव्यों के संयोग के आश्रय होने के कारण से है।

यदि आत्मा को अकेला विचार किया जावे तो यह आत्मा सर्व तरह से भिन्न है। न इसके आठ कर्म का संयोग है, न रागद्वेषादि विभावों का सम्बन्ध है। मैं आत्मा हूँ, अपने ही शुद्ध गुणों का स्वामी हूँ, मैं ज्ञाता हूँ, दृष्टा हूँ, अविनाशी हूँ, अमूर्तिक हूँ, वीतरागी हूँ, परमानन्दमयी हूँ-ऐसा ज्ञान, ऐसा श्रद्धान व ऐसा ही भीतर में प्रकाश जब झलक जाता है तब सम्यक्त्व भाव प्रगट हो जाता है। सम्यक्त्व के होते हुए जब सम्यग्दृष्टि अपने उपयोग को मन के विचारों से, वचन की चञ्चलताओं से व काय की हलन-चलन से रोकता है और ऐसा स्थिर हो जाता है कि आप आपमें समा जाता है, उस समय 'मैं क्या हूँ, क्या नहीं हूँ'-यह भी विकल्प नहीं रहता, 'हूँ या नहीं' इस झगड़े का भी काम नहीं रहता; परम शान्तभाव, परम अद्वैतभाव जागृत हो जाता है। तब ही यह ज्ञानी स्वानुभव दशा को प्राप्त हो जाता है। उस समय यह जिस वचन अगोचर आनन्द का स्वाद पाता है वह आनन्द परम अतीन्द्रिय है और आप ही से आपको प्राप्त होता है।

9- चौदह गुणस्थान

एक ज्ञाता-दृष्टा अनुभव-प्रेमी आत्मा निश्चय सम्यक्त्व के लिए व्यवहार सम्यक्त्व का मनन करता है। जीव तत्त्व को व्यवहार दृष्टि से चौदह मार्गणारूप व चौदह गुणस्थानरूप जानकर वह सन्तोषी

होता है। मोहनीय कर्म और मन, वचन, काय योगों के निमित्त से मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मलोभ, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली - ऐसे चौदह गुणस्थान होते हैं।

दर्शन, मोह और अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से जब प्रथम गुणस्थान होता है, तब यह जीव शरीर को व कर्मजनित अवस्था को ही आत्मा मानता है, इन्द्रियजनित सुख को ही सुख समझता है और संसार में मोही बना रहता है। जब कोई इन पाँचों प्रकृतियों के उपशम से प्रथम गुणस्थान से चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में जाता है तब वहाँ अन्तर्मुहूर्त ठहरकर यदि उसी काल में छह आवली या कम से कम एक समय शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय आ जाता है, तब चौथे से दूसरे सासादन गुणस्थान में आ जाता है, फिर वहाँ से नियम से पहले में गिर पड़ता है अर्थात् मिथ्यात्व का भी उदय आ जाता है। यदि मिश्र मोहनीय का उदय आ जाता है तब चौथे से तीसरे मिश्र गुणस्थान में आ जाता है। फिर अन्तर्मुहूर्त पीछे या तो पहले में गिर पड़ता है या फिर चौथे में चला जाता है। यदि उपशम सम्यक्त्वी सम्यक्त्व मोहनीय का उदय आ जाता है तब चौथे गुणस्थान में रहते हुए ही वह क्षयोपशम या वेदक सम्यक्त्वी हो जाता है। फिर जब अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम हो जाता है तब देशविरत नाम पाँचवें गुणस्थान में आ जाता है। वहाँ आकर श्रावक के व्रतों को नियमानुसार पालता है। जितना-जितना प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय निर्बल होता जाता है अर्थात् उसका क्षयोपशम बढ़ता जाता है उतना-उतना अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग चारित्र बढ़ता जाता है। दर्शन प्रतिमा से लेकर व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास,

सचित्तत्याग, रात्रिभुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग व उद्दिष्टत्याग-इन ग्यारहों प्रतिमाओं में ऊपर-ऊपर चढ़ता चला जाता है।

जब प्रत्याख्यानवरण कषाय का बिल्कुल क्षयोपशम हो जाता है तब पाँचवें गुणस्थान से एकदम सातवें में चढ़ जाता है। जब कोई महात्मा सर्व वस्त्राभूषण त्यागकर केशों का लोंच करता है और सामायिक चारित्र की प्रतिज्ञा ग्रहणकर ध्यान में बैठ जाता है तब सातवाँ अप्रमत्तविरत गुणस्थान होता है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त है। फिर प्रमाद आ जाने से छठे प्रमत्त गुणस्थान में आ जाता है। प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान बारम्बार हुआ करते हैं। प्रमत्त में संज्वलन कषाय और नौ नोकषाय का तीव्र उदय होता है जबकि अप्रमत्त में उन्हीं का मन्द उदय होता है।

यहाँ से आगे उपशमश्रेणी तथा क्षपकश्रेणी दो दर्जे ऊपर चढ़ने के लिए हैं। जो साधु चारित्रमोह की इक्कीस प्रकृतियों का उपशम करता है वह उपशमश्रेणी चढ़ता है तथा जो इन प्रकृतियों का क्षय करता है वह क्षपकश्रेणी चढ़ता है। उपशमश्रेणी के आठवें, नौवें, दसवें व ग्यारहवें गुणस्थानों के द्वारा वह मोहनीय कर्म का उपशम कर देता है। अन्तर्मुहूर्त पीछे अवश्य पतन होता है। मोक्षगामी जीव को अवश्य क्षपकश्रेणी पर आना पड़ता है। क्षपकश्रेणी के आठवें, नौवें, व दसवें गुणस्थान के द्वारा मोह का सर्वथा क्षय हो जाता है। तब साधु दसवें से बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में आ जाता है। वहाँ अन्तर्मुहूर्त ठहरकर शुक्लध्यान के प्रभाव से ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय का क्षय करके तेरहवें गुणस्थान में आकर जिन अरहन्त हो जाता है और वहाँ फिर आयु पर्यन्त ठहरकर कुछ काल पहले ही

चौदहवें गुणस्थान में आ जाता है। तब नाम, गोत्र, वेदनीय व आयु का नाशकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है। ये चौदह गुणस्थान कर्म और आत्मा के संयोग से हैं। जब ज्ञानी कर्म संयोग रहित शुद्ध आत्मा में उपयोग लगाता है और उस उपयोग को पाँच इन्द्रिय तथा मन के विकल्पों से हटा लेता है तब भेदज्ञानपूर्वक एकाएक स्वानुभव का उदय हो जाता है। यही सच्चा आनन्दामृत का स्रोत है।

10- पुद्गल द्रव्य विचार

एक ज्ञानी आत्मा सर्व सङ्कल्प-विकल्पों को त्यागकर जब एकान्त में बैठता है तो उसको भेदविज्ञान रूपी मित्र का स्मरण हो जाता है। भेदविज्ञान के माहात्म्य से ही स्वानुभव का प्रकाश होता है। स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है, स्वानुभव ही अभेद रत्नत्रय है, स्वानुभव ही ध्यान की वह शक्ति है जो कर्मों के ईंधन को जलाती है और स्वानुभव ही परमानन्द का सागर है। स्वानुभव ही साधन है, स्वानुभव ही साध्य है। जहाँ सम्यग्दर्शन स्वरूप आत्मिक गुण का प्रकाश होता है वहीं पर स्वानुभव का उद्योत हो जाता है।

इस सम्यक्त्व रत्न को रोकने वाले मिथ्यात्व कर्म तथा अनन्तानुबन्धी कषाय हैं। इनका उदय जब मिटता है तब उपशम सम्यक्त्व पैदा होता है। जीवादि सात तत्त्वों के श्रद्धान से भेदविज्ञान पैदा होता है। भेदविज्ञान से ही सम्यक्त्व का प्रकाश हो जाता है। यह जीव अपनी सत्ता सर्व संयोगजनित भावों से निराली रखता है। यह जीव निश्चय से चौदह गुणस्थान तथा मार्गणास्थानों के विकल्प से निराला है। यदि सूक्ष्मदृष्टि से देखा जावे तो यह जीव अपने सर्व गुण और स्वभावों को पिये हुए अखण्ड, अभेद व अमिट द्रव्य है जो त्रिकाल अबाधित है, अनन्य है, निश्चल है व पर संयोग रहित है। यह न कर्मादि से बन्धा है न उनसे स्पर्शित है। यह परमानन्दमयी है।

इसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद भी व्यवहारनय से हैं। निश्चय से यह भेद रहित अभेद है।

इस जीव पदार्थ से भिन्न अजीव पदार्थ है, जिसके पाँच भेद हैं— पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जो पूरे और गले, मिले और बिछुड़े उसे पुद्गल कहते हैं। यह लक्षण परमाणु में पाया जाता है। परमाणु अपने से दो अंश अधिक स्निग्ध तथा रूक्ष गुण के कारण से परस्पर मिलकर स्कन्ध बन जाते हैं। यद्यपि एक जघन्य अंश सहित परमाणु अबन्ध होता है तथापि कालान्तर में जब द्रव्य, क्षेत्र, काल के निमित्त से उसमें अंश वृद्धि हो जाती है तब वह भी बन्ध योग्य हो जाता है। इस दो अंश अधिक के पुद्गलों में नियम से परिवर्तन हुआ करता है। कभी स्निग्धता के अंश अधिक होते हैं तब रूक्ष परमाणु भी स्निग्ध हो जाता है और कभी रूक्षता के अंश अधिक होते हैं तब स्निग्ध परमाणु रूक्ष हो जाता है।

परमाणु इतना छोटा होता है कि उसका दूसरा अंश नहीं हो सकता है। परमाणु में ये पाँच गुण सदा पाये जाते हैं – कोई एक रस, कोई एक गन्ध, कोई एक वर्ण तथा दो स्पर्श स्निग्ध या रूक्ष में से एक, ठण्डा या गर्म में से एक। स्कन्ध में दो गुण अधिक हो जाते हैं – हल्का या भारी में से एक और नरम तथा कठोर में से एक। इन पुद्गलों के छह प्रकार के भेद जगत में पाये जाते हैं। 1- स्थूल स्थूल- जैसे कठोर पदार्थ लकड़ी, मिट्टी, पत्थर जिनके दो खण्ड किये जाने पर स्वयं न मिल सकें। 2- स्थूल-जैसे बहने वाले पदार्थ पानी, दूध आदि जो अलग होने पर स्वयं मिल जाते हैं। 3- स्थूल सूक्ष्म-जो चक्षु से देखने में आवें परन्तु ग्रहण न हो सकें जैसे धूप, छाया, उद्योत। 4- सूक्ष्म स्थूल-जो चक्षु से देखने में न आवें परन्तु अन्य चार इन्द्रियों में ग्रहण हों जैसे हवा, शब्द, गन्ध, रस। 5- सूक्ष्म-

जो किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण में न आवें जैसे कार्माण, तैजस, भाषा, मन व आहारक वर्गणा। 6- सूक्ष्म सूक्ष्म-एक पुद्गल का अविभागी परमाणु।

इस तरह के विकल्पों को करते हुए उपयोग पर के विचार में फँस जाता है। ज्ञानी उपयोग को पर से हटाकर निज शुद्ध स्वरूप में जोड़ता है। जोड़ने के साथ ही स्वानुभव उत्पन्न हो जाता है तब वह जो परम सन्तोषपूर्ण आनन्द प्राप्त करता है, उसका कथन नहीं हो सकता। वह केवल अनुभवगम्य है। वही योगियों का ध्येय है व उसे ही सिद्ध परमात्मा निरन्तर भोगते रहते हैं।

11- चार अजीव विचार

एक अज्ञानी आत्मा एकान्त में बैठकर स्वानुभव के लिए विचार कर रहा है। भेदविज्ञान स्वानुभव का मूल है। जिसको अपनी आत्मा का स्वरूप सर्व पर आत्माओं से, पुद्गल के परमाणु व स्कन्धों से, धर्म, अधर्म, आकाश व काल से तथा सर्व रागादि संयोगी भावों से भिन्न झलक जाता है, वही अपने स्वरूप को पाकर उसमें रमण करने लग जाता है। यही रमण ही स्वानुभव है। भेदविज्ञान का सच्चा प्रकाश सम्यग्दर्शन गुण के प्रकाश पर निर्भर है। इस गुण पर जिन कषायों का व दर्शनमोह का पर्दा पड़ा है उनके उदय को हटाने के लिए व्यवहार सम्यग्दर्शन का सेवन आवश्यक है। व्यवहार सम्यक्त्व के विषय जीवादिक सात तत्त्व हैं।

अजीव पर विचार करते हुए पुद्गल का स्वरूप कथित हो चुका है। शेष चार द्रव्यों की क्यों आवश्यकता है - इस बात पर विचार किया जावे तो प्रगट होगा कि छह द्रव्यों में से दो द्रव्य ही क्रियावान हैं, हलन-चलनशील हैं तथा विभावरूप या विकार भाव की शक्ति

रखते हैं। संसाररूपी नाटक में ये ही दोनों नाचने वाले हैं। जीव और पुद्गल का ही जगत में नाटक है। ये ही मुख्य चार क्रियाओं को करते हैं—चलते हैं, ठहरते हैं, स्थान पाते हैं तथा परिणमन करते हैं।

हर एक कार्य में उपादान या निमित्त दोनों कारणों की आवश्यकता है। वस्तु में जो उसकी पर्यायों में परिणमन शक्ति है वही उपादान कारण है। उस परिणमन में जिन सहायकों की जरूरत पड़ती है वे ही निमित्त कारण हैं। सुवर्ण से आभूषण बनता है, मिट्टी से घड़ा बनता है, गेहूँ से रोटी बनती है, परमाणुओं से स्कन्ध बनते हैं। इन दृष्टान्तों में उपादान कारण क्रम से सुवर्ण, मिट्टी, गेहूँ तथा परमाणु हैं तथा निमित्त कारण अनेक शस्त्र व सुनार, कुम्हार, पाचक तथा द्रव्य क्षेत्र कालादि हैं।

ऊपर लिखित जीव व पुद्गलों के चार मुख्य कामों के लिए उपादान कारण तो वे स्वयं ही हैं पर निमित्त कारण कोई अन्य द्रव्य चाहिए। अतएव जो जीव तथा पुद्गलों के गमन में सहकारी निमित्त है वह धर्म द्रव्य है जैसे मछली के गमन में जल निमित्त है। इनके ठहरने में जो निमित्त है वह अधर्म द्रव्य है जैसे मुसाफिर को छाया। स्थान पाने में निमित्त आकाश द्रव्य है। परिणमने या पलटने में निमित्त काल द्रव्य है। आकाश अमूर्तिक अनन्त है। इसी के मध्य में लोक है। लोकव्यापी अमूर्तिक धर्म द्रव्य है, लोकव्यापी अमूर्तिक अधर्म द्रव्य है। कालाणु द्रव्य एक प्रदेशधारी है। लोकाकाश की माप यदि प्रदेश की माप से की जावे तो इसके असंख्यात प्रदेश आते हैं। यह कालाणुद्रव्य भी असंख्यात हैं, अलग-अलग हैं, कभी मिलते नहीं हैं, अमूर्तिक हैं। इन्हीं से समय पर्याय तब प्रगट होती है, जब पुद्गल का परमाणु मन्द गति से एक कालाणु को उल्लंघन कर निकटवर्ती कालाणु पर जाता है। जगत में ऐसा हलन-चलन परमाणुओं में होता

रहता है। समय पर्याय को ही व्यवहार काल कहते हैं। अविभागी पुद्गल परमाणु जितने आकाश को रोके वही प्रदेश है। जीव-अजीव स्वरूप छह द्रव्यों का समुदाय ही यह जगत है।

इस मन के चिन्तवन के अन्धकार में अपना स्वरूप नजर नहीं आता है अतएव भेदविज्ञानी अपने उपयोग को मन के विचारों से भी हटाता है और उसे अपनी आत्मा के भीतर जोड़ देता है व सर्व चिन्ताओं से निवृत्त हो जाता है। बस एकाएक स्वानुभव का प्रकाश हो जाता है। इस भाव के उदय होते ही परमानन्द का झलकाव हो जाता है। संसार में रहते हुए ही सिद्ध भगवान की सी दशा का लाभ हो जाता है और वचनातीत सन्तोष प्राप्त होता है।

12- योगशक्ति आस्रव है

एक ज्ञानी आत्मा स्वानुभव के लिए भेदविज्ञान के दर्पण को लेकर जगत का अवलोकन करता है तब उसको सर्व ही द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में दिखलायी पड़ते हैं। वह अन्य सर्व परद्रव्यों से उपयोग को हटाकर जब आपसे ही आपमें रमण करता है तब एकाएक स्वानुभव जागृत हो जाता है व जहाँ विकल्प, विचार व हलन-चलन सर्व ही बन्द हो जाते हैं और एक निश्चल समुद्र के समान आत्मा की परिणति हो जाती है। जैसे मधुकर मधु पुष्प में रमणकर तन्मय हो जाता है वैसे ही तत्त्वज्ञानी निज तत्त्व में रम जाता है। इस स्वानुभव में स्वरूपभाव अद्वैतरूप से झलकता है। इसका कारण सम्यग्दर्शन रूपी परम मित्र है। सम्यक्त्व के प्रभाव से ही अपना दर्शन होता है, अपना प्रेम होता है और आत्मकला की जागृति होती है। सम्यक्त्व के निरोधक अनन्तानुबन्धी कषाय तथा दर्शनमोह हैं।

इनका उदय या विपाक मिटाने का उपाय व्यवहार सम्यक्त्व के

द्वारा तत्त्वों का मनन है। यह सम्यक्त्व सात तत्त्वों की श्रद्धा पर आलम्बन रखता है। जीव व अजीव का विचार हो चुका है। अब यह आस्रव तत्त्व का विचार करता है। आत्मा के स्वरूप का विचार किया जावे तब इसमें आस्रव का कारण कोई भी भाव नहीं है। न इसमें पाँच प्रकार का मिथ्यात्व है, न हिंसादि अविरत भाव है, न प्रमाद है, न कषाय है और न मन-वचन-काय के परिणमन द्वारा आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन होता है। मन-वचन-काय की क्रिया द्वारा जो आत्मप्रदेश परिस्पन्दन होता है वही द्रव्ययोग है। द्रव्ययोग के होते ही भावयोग जो कर्मवर्गणाओं के आकर्षण की एक शक्ति है वह काम करती है। वह शक्ति द्रव्य पुद्गलों के उदय बिना या पुद्गल की उत्तेजना बिना अपना काम करने के लिए प्रस्तुत नहीं होती है।

जैसे वीर योद्धा वीरता व रक्षकत्व की शक्ति रखते हुए बिना कारण किसी की रक्षा में या किसी के घात में प्रवृत्त नहीं होता है वैसे ही बिना कर्मों के उदय की प्रेरणा के योगशक्ति काम नहीं करती है। संसार दशा में अनन्त काल से यह संसारी प्राणी पुद्गल के संयोग में ही है अतएव इसकी योगशक्ति शरीर नामकर्म के उदय से काम करती रहती है। एकेन्द्रियों के केवल काय के वर्तन द्वारा, द्वीन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक के काय और वचन के वर्तन द्वारा तथा पञ्चेन्द्रिय सैनी के काय, वचन या मन के द्वारा एक समय में तीनों में से एक के वर्तन द्वारा योगशक्ति काम करती है। पुद्गल संयोग रहित आत्मा में यह शक्ति काम नहीं करती है क्योंकि न वहाँ द्रव्ययोग है, न मन-वचन-काय का आलम्बन है। विग्रहगति में कार्माण योग द्वारा यह शक्ति काम करती है। अतएव सर्व ही जन जागृत, निद्रित व विग्रहगति या स्थूल शरीर रहित अवस्था में योग की प्रणालिका द्वारा कर्मवर्गणाओं का आस्रव करते हैं। एकमात्र अयोगकेवली नहीं करते हैं, न सिद्ध परमेष्ठी करते हैं।

इस तरह आस्रव का विचार करते हुए विचारों के जाल में उलझा हुआ प्राणी अपने तत्त्व से बाहर रहता हुआ स्वानुभव से दूर-दूर हो जाता है। अब यह अपनी विचार-सरणि को बन्द करता है और मन की सङ्गति को त्यागता है, आप आत्मा अकेला हो जाता है, असङ्ग में रम जाता है, अपने ही स्वभाव में आप ही समा जाता है, स्वानुभव में पहुँच जाता है तब जिस निजानन्दमयी अमृत का स्वाद पाता है, उसका स्वाद वचन अगोचर मात्र अनुभवगम्य है।

13- एक सौ आठ जीवाधिकरण

एक ज्ञानी आत्मा सर्व चिन्ताओं से निश्चिन्त होकर भेदविज्ञान के प्रताप से आत्मा को आत्मा व अनात्मा को अनात्मा जानता है। क्योंकि आनन्द का सागर आत्मा ही है, शान्ति का समुद्र आत्मा ही है अतएव तत्त्वज्ञानी अनात्मा से उपेक्षा बुद्धि करके आत्मिक निर्मल समुद्र में मग्न होकर स्वानुभव का लाभ प्राप्त कर लेता है। इस भेदविज्ञान का यथार्थ उपाय सम्यग्दर्शन का लाभ है। यह सम्यक्त्व आत्मा का ही गुण है। इसको आवरण करने वाला मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषाय का विकार है। इस विकार के मेटने का उपाय सप्त तत्त्वों का ज्ञान व मनन है।

जीव व अजीव तत्त्वों का विचार करने के पीछे यह ज्ञानी आस्रव तत्त्व पर दृष्टिपात करता है। आस्रव के होने में योग और कषाय मुख्य होते हैं। योगों से कार्माणवर्गणा आती है। कषाय सम्बन्धी भाव अनेक प्रकार के होते हैं, इससे आस्रव भी अनेक प्रकार का होता है। तीव्र क्रोधादि कषाय से अधिक व मन्द क्रोधाग्नि से कम आस्रव होता है। जानबूझकर कोई कार्य करने पर यदि उस कार्य से विराग है परन्तु किसी प्रयोजनवश करना पड़ता है तो कम

आस्रव होता है। यदि उस कार्य से तीव्र राग है और जान करके भी ढीठता से करता है तो अधिक आस्रव होता है। भोलेपन से बिना जाने कार्य करने पर कम जब कि ढीठता से न जानकर कार्य करने से अधिक आस्रव होता है। जैसा जीव सम्बन्धी काम का व अजीव सम्बन्धी संयोग का आधार होता है वैसा कम या अधिक कर्मास्रव होता है। जीवों के भावों के मूल भेद एक सौ आठ प्रकार हैं। उत्तर भेद चार सौ बत्तीस हैं। और भी उत्तर भेद संख्यात तथा असंख्यात हो सकते हैं।

यह जीव किसी काम को स्वयं करने का मन से विचार करता है, उस विचार को वचन से कहता है व काय के संकेत से बताता है। किसी काम को पर से कराने का मन से विचार करता है, उसे वचन से कहता है, काय से सङ्केत करके बताता है। किसी ने किसी काम का विचार किया है यह उसकी अनुमोदना या प्रशंसा मन से, वचन से, या काय के सङ्केत से करता है। इस तरह मन, वचन, काय से कृत, कारित, अनुमोदना द्वारा नौ भेद हुए। यह नौ भेद संरम्भ या सङ्कल्प या विचार करने की अपेक्षा से हुए। इसी तरह नौ भेद समारम्भ तथा आरम्भ के होंगे। किसी काम को करने के लिए सामग्री जुटाना, प्रबन्ध जोड़ना समारम्भ है। किसी काम को करने लगना आरम्भ है—इस तरह सत्ताईस भेद होते हैं। कोई मन, वचन, काय का वर्तन क्रोधवश, कोई मानवश, कोई मायावश, कोई लोभवश होता है। इस तरह एक सौ आठ भेद जीव की प्रवृत्ति द्वारा होते हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान व संज्वलन के भेद से कषाय के चार भेद हैं, अतएव सर्व भेद चार सौ बत्तीस होते हैं।

इनमें से किसी न किसी भाव में सना हुआ यह जीव कर्मों का आस्रव करता है। शरीर व परवस्तु का संयोग भी निमित्त होता है।

इस तरह यह आत्मा उसी तरह कर्मरूपी मैल को एकत्र करता है जिस तरह काले पानी में चलता हुआ जहाज छिद्रित होकर काले पानी का सञ्चय करता है। काले पानी से निर्मल जहाज मलिन व चलने में अशक्य हो जाता है उसी तरह यह आत्मा कर्म-मैल को एकत्र कर मलिन हो जाता है तथा मोक्षद्वीप की तरफ चलने को अशक्य हो जाता है।

इस तरह विचार की तरङ्गों में दोलायमान होता हुआ यह मन आत्मानुभव से दूर-दूर चला जाता है। अब यह अपने कार्यकुशल प्रवीण उपयोग को मन के विचारों से रोकता है व इन्द्रियों के द्वारा भी उसको वर्तन नहीं कराता है। ज्ञानी इस उपयोग को एकाग्र करके अपनी आत्मा में ही रमा देता है, आत्मस्थ हो जाता है, आत्मिक उपवन में क्रीड़ा करने लगता है एवं अनुपम स्वानुभव को पाकर मन, वचन, काय के वर्तन से बाहर चला जाता है और परमानन्दित हो जाता है।

14- ग्यारह अजीवाधिकरण

एक ज्ञानी आत्मा आत्मानन्द के पाने का उपाय स्वानुभव को ही समझता है। स्वानुभव का कारण भेदविज्ञान है। वास्तव में देखा जावे तो हर एक आत्मा अपने स्वभाव से स्वानुभव में ही विद्यमान है परन्तु कर्मों की अनादि सङ्गति के कारण यह जीव मोह के नशे में चूर होकर परानुभव में ही दिन-रात वर्तन कर रहा है। दर्शन मोह की प्रबलता से इसको आत्मा का असली स्वभाव भी स्मरण में नहीं रहा है। यह अज्ञानी रागादि विकारों को अपनी आत्मा के वीतराग विज्ञानमय स्वभाव से भिन्न नहीं जानता है और न प्रतीति में लाता है। इसी से कभी भी पर से उन्मुख हो निज आत्मा का अनुभव नहीं कर

पाता। वास्तव में स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है व प्राणी के कल्याण का उपाय है।

भेदविज्ञान की प्राप्ति तब ही यथार्थपने होती है जब सम्यग्दर्शन गुण का प्रकाश हो। उसके प्रकाश के लिए अनन्तानुबन्धी कषायों की व मिथ्यात्व कर्म के हटाने की आवश्यकता है। इस कार्य का उपाय सात तत्त्वों का मनन है। आस्रव तत्त्व पर विचार करते हुए जीवाधिकरण के भेद जाने जा चुके हैं। अजीव के आधार से भी कर्म का आस्रव होता है इसलिए अजीवाधिकरण के ग्यारह भेदों को भी जानने की आवश्यकता है।

रचना को निर्वर्तना कहते हैं। इसके दो भेद हैं—मूलगुण निर्वर्तना और उत्तरगुण निर्वर्तना। शरीरादि की रचना मूलगुण निर्वर्तना है व शरीर के द्वारा पुस्तक, चित्राम, मकान, वस्त्र, बर्तन आदि की उत्तरगुण निर्वर्तना है। बहुत से काम पदार्थों की बनावट के किये जाते हैं, उनमें ये दोनों निर्वर्तनाएँ उपयोग में आती हैं। इनके आधार से जैसा अभिप्राय होता है वैसा कर्मों का आस्रव होता है। यदि कोई शस्त्र को बनाता है तो उसका भाव हिंसा रूप भी हो सकता है और रक्षा रूप भी हो सकता है। शुभोपयोग से की गयी रचना पुण्य बन्धक है जबकि अशुभ उपयोग से की गयी रचना पापबन्धक है।

निक्षेप चार प्रकार का है। अप्रत्यवेक्षित निक्षेपाधिकरण—बिना देखे हुए प्रमादभाव से किसी वस्तु को रख देना। दुष्टप्रभृष्ट निक्षेपाधिकरण—दुष्टता से क्रोध में आकर किसी की प्रेरणा से किसी वस्तु को पटक देना। सहसा निक्षेपाधिकरण—जल्दी से किसी वस्तु को जहाँ-तहाँ पटक देना। अनाभोग निक्षेपाधिकरण—जिस वस्तु को जहाँ रखना चाहिए वहाँ न रखकर कहीं भी रख देना। इन चार प्रकार के निक्षेपों में प्रमादभाव है जिनमें कषाय का उद्वेग झलकता है। ये क्रियाएँ इसीलिए आस्रव में विशेष आधार हो जाती हैं।

रागभाव के वश होकर खाने की वस्तु में पीने की वस्तु मिलाना भक्तपान संयोग है। शीत वस्तु उष्ण बर्तन में व उष्ण वस्तु शीत बर्तन में रख देने की क्रिया प्रयोजनवश की जाती है, इसीलिए ये भी आस्रव में निमित्त हो जाती हैं।

द्रव्य मन, द्रव्य वचन व द्रव्य काय का वर्तना भी निमित्त पड़ता है। इस तरह ग्यारह निमित्तों के अधीन होकर यह प्राणी अजीव के आधार से कर्मों का आस्रव करता है।

इस तरह भेद व्यवहार का विचार करते हुए उपयोग थिर नहीं होता, अतएव ज्ञानी जीव अपने उपयोग को सर्व परभावों से रोकता है और एकाग्रता के साथ अपनी आत्मा के गुणों के भीतर रज्जायमान करता है। आत्मिक गुणों का चिन्तन करते हुए यह ज्ञानी एकाएक जब आत्मा के भीतर तन्मय हो जाता है तब इसको स्वानुभव का लाभ हो जाता है। स्वानुभव के प्रताप से यह परमानन्द का लाभ करता है और परम सन्तोष को पाकर सच्चा मोक्षमार्गी बन जाता है।

15- ज्ञानावरण-दर्शनावरणास्रव के विशेष भाव

एक ज्ञानी आत्मा स्वानुभव के लाभ के लिए भेदविज्ञान का विचार करता है। भेदविज्ञान के ही प्रताप से स्वानुभव का लाभ होता है। भेदविज्ञान में ही वह शक्ति है जो हर एक द्रव्य को भिन्न-भिन्न अपने स्वरूप में झलकाती है। मिश्रित द्रव्यों की पहिचान इसी के द्वारा होती है। आत्मा कर्म पुद्गलों के साथ दूध-पानी की तरह मिली हुई है। इसका पृथकीकरण जब सूक्ष्म विवेक से होता है तब अपनी आत्मा सर्व अन्य द्रव्यों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से भिन्न झलकती है, तब यह सिद्धसम शुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा, अमूर्तिक, अविनाशी, परमानन्दमयी व परम शान्त प्रतीति में आती है। इसी प्रतीति भाव

में उपयोग की स्थिरता के होते ही यद्यपि स्वानुभव हो जाता है। तथापि यह अपूर्व लाभ मिथ्यादृष्टि को नहीं होता है, सम्यग्दृष्टि को ही होता है।

सम्यग्दर्शन आत्मा का एक गुण है। उसका प्रकाश उस समय तक नहीं होता है जब तक अनन्तानुबन्धी कषाय तथा मिथ्यात्व का उदय हो। अतएव इन विकारों के हटाने के लिए व्यवहार सम्यग्दर्शन का मनन कार्यकारी है। सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इन तत्त्वों के विचार में आस्रव का मनन हो रहा है। जीव और अजीव के वर्तन के आधार से आयु कर्म के सिवाय ज्ञानावरणादि सात कर्मों का आस्रव हर समय हर एक जीव के नौवें गुणस्थान तक होता है। दसवें सूक्ष्मलोभ गुणस्थान में मोहनीय कर्म का आस्रव बन्द होकर छह कर्मों का ही होता है। फिर ग्यारहवें, बारहवें व तेरहवें गुणस्थानों में यद्यपि केवल सातावेदनीय का ही आस्रव होता है, तथापि जिस कर्म के कारण भावों में विशेष झुकाव होता है, उस कर्म का बन्ध होते हुए उसमें अनुभाग शक्ति अधिक पड़ती है।

ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म के आस्रव के विशेष भावों का विचार इस प्रकार है-यथार्थ ज्ञान की बात सुनकर भी मन में प्रसन्न न होकर ईर्ष्या भाव रखना **प्रदोष भाव** है। आप शास्त्रों को जानता है, शरीर में भी शक्ति रखता है कि दूसरों को भली प्रकार समझा दे तो भी किसी से पूछे जाने पर अपने ज्ञान को छिपा ले और यह भाव करे कि यदि बताऊँगा तो मुझे समझाना पड़ेगा और मेरा समय व शक्ति वृथा खर्च होगी अथवा जिस गुरु से ज्ञान प्राप्त किया है, उसका नाम छिपाना-कषायवश किए हुए ये सर्व भाव **निहव** में आ जाते हैं। कोई ईर्ष्याभाव करके दूसरों को नहीं सिखलाते हैं और ये भाव रखते

हैं कि यदि यह सीख जायेगा तो मेरी प्रतिष्ठा कम हो जायेगी, इसे **मात्सर्यभाव** कहते हैं।

ज्ञान के प्रचार में और विद्या के साधन में किसी प्रकार का अन्तराय डालना, विद्या की संस्था को चलने न देना, शास्त्र को पढ़ने न देना व मना करना **अन्तरायभाव** है। ज्ञानियों को ज्ञान के प्रकाश से रोकना व उनकी अविनय करना **आसादना** है। सत्य शास्त्रीय ज्ञान का भी कुयुक्तियों से खण्डन करना **उपघात** है। इस तरह के भावों के कारण ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म में विशेष अनुभाग पड़ता है। इस तरह के विकल्पों के भीतर पापकर्म का आस्रव होता है। ज्ञानी इन विकल्पों को त्यागता है और निश्चिन्त होकर अपनी आत्मा की गुफा में ठहरता है तथा उपयोग को स्थिर करता है। झट से स्वानुभव का उदय हो जाता है। तब वह जो परमानन्द भोगता है उसका कथन नहीं हो सकता।

16- सातावेदनीय का विशेषास्रव

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जालों से बचकर एकान्त में बैठकर भेदविज्ञान की शरण लेकर स्वानुभव में रमने का स्तुत्य प्रयत्न करता है। आत्मा आत्मा रूप ही है, आप आप ही है, आपमें आप ही है, पर में आप नहीं है, आप में पर नहीं है - इस तरह का दीर्घकाल तक जब मनन किया जाता है तब ही भेदविज्ञान की शक्ति पुष्ट होती है और जब सम्यग्दर्शन का उदय होता है तब स्वानुभव की यथार्थ योग्यता प्राप्त हो जाती है। सम्यक्त्व की प्राप्ति में जीवादि सात तत्त्वों का मनन उपयोगी है।

आस्रव तत्त्व में ज्ञानी विचारता है कि सातावेदनीय कर्म का अनुभाग किन-किन भावों से अधिक पड़ता है, तब उसको झलकता

है कि आत्मा का स्वभाव कर्तापने से रहित है, वह स्वभाव से न शुभ भावों का कर्ता है न अशुभ भावों का कर्ता है। यह तो पूर्वबद्ध कषायों के उदय का विकार है जिससे शुभ या अशुभ परिणति हो जाती है। इस तत्त्व से विचार करते हुए प्रगट होता है कि जब यह शुद्धोपयोग की महिमा से बाहर होता है और नीचे लिखे कार्यों के लिए अपना उद्देश्य रखता है व अभिप्राय पूर्वक उनमें मन, वचन, काय का वर्तन करता है तो उसके उन भावों के निमित्त से सातावेदनीय में विशेष अनुभाग पड़ता है।

भूतानुकम्पा : सर्व प्राणी मात्र के ऊपर करुणा का भाव रखना। ऐसा भाव रखना कि जगत के प्राणियों का कष्ट निवारण हो। इस भाव से कम्पित होकर वह दूसरों के ऊपर होती हुई पीड़ा को अपने पर होती हुई पीड़ा मानता है और अपनी शक्ति भर स्वयं या दूसरों के द्वारा प्राणियों के कष्ट निवारण में पुरुषार्थ करता है।

व्रती अनुकम्पा : जो अहिंसादि व्रतों के एकदेश या सर्वदेश पालक हैं, उन पर विशेष दयाभाव रखता है। उनकी धार्मिक प्रवृत्ति उसको विशेष प्रेरित करती है कि उनका कष्ट निवारण किया जावे।

दान : इसीलिए वह धर्म के पात्रों को भक्तिपूर्वक व जगत के सर्व प्राणियों को दयापूर्वक आहार, औषधि, अभय व विद्यादान करता है।

सराग संयम : मुनिव्रत पालते हुए जितने अंश में धर्मानुराग होता है, वह सराग संयम है।

संयमासंयम : श्रावक धर्म पालते हुए जो धर्मानुराग होता है उससे यह भव्यजीव परोपकार में सदा दत्तचित्त रहता है।

आत्मज्ञान रहित और मन्दकषाय सहित वैराग्यपूर्वक तप करते

हुए व कष्टों के पड़ने पर उन्हें समता से सहते हुए अर्थात् बालतप व अकामनिर्जरा करते हुए भी वह साता का बन्ध करता है। ध्यान करते हुए, उत्तम क्षमा पालते हुए और सन्तोष रखते हुए जितने अंश में शुभ भाव होते हैं उनसे सातावेदनीय का बन्ध होता है।

इस आस्रव तत्त्व की कल्पना के करते हुए भी आस्रव और बन्ध ही होता है-ऐसा समझकर ज्ञानी जीव व्यवहार मार्ग से पराङ्मुख होता है और निश्चय धर्म की तरफ सन्मुख होकर अपनी आत्मा के रमणीक आनन्दसागर में जाता है। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से बाहर होकर वह अपने उपयोग को जब उसी में डुबाता है, उसी में स्नान करता है, उसी का अनुपम जल पीता है और उसी में तृप्ति पाता है, तब वह जिस दशा का अनुभव करता है उसे ही स्वानुभव कहते हैं और यह दशा परमात्म दशा से किसी भी तरह कम सुखप्रद नहीं है।

17- असातावेदनीय का विशेषास्रव (Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व सङ्कल्प-विकल्प त्यागकर एकान्त में बैठकर भेदविज्ञान के प्रताप से अपने आपको यथार्थ द्रव्यरूप, ज्ञाता-दृष्टा, अविनाशी, परम पुरुष, वीतराग और निर्विकार अनुभव करता है तब उसको शुद्ध निराकुल आनन्द का स्वाद आता है। तब उसके अनुभव में आत्मा की विभाव दशाएँ नहीं आती हैं क्योंकि उसका लक्ष्य सिद्धसम शुद्ध आत्मा पर ही रहता है। परन्तु यह स्वानुभव उसी ही महात्मा को होता है जिसके अन्तरङ्ग में सम्यग्दर्शन रूपी सूर्य का प्रकाश हो गया है तथा मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का अन्धकार मिट गया है। इस अन्धकार को मेटने का उपाय भी भेदविज्ञान है। जहाँ आत्मा को अनात्मा से उस ही तरह भिन्न भावनारूप से विचारा जाता है जिस तरह भूसी से चावल, भूसी से

तैल, छिलके से दाल, पानी से दूध, काष्ठ से अग्नि और पानी से चिकनाई भिन्न-भिन्न विचारी जाती है, वहाँ भेदविज्ञान की भावना कही जाती है।

क्या-क्या अनात्मा है व क्या-क्या आत्मा है इस तत्त्वज्ञान के लिए सात तत्त्वों का विचार कार्यकारी है। आस्रव तत्त्व के विचार में वह विचारता है कि असाता वेदनीय कर्म का बन्ध होते हुए किन-किन भावों से अनुभाग अधिक पड़ता है। जहाँ स्वयं दुःखित भाव किए जावें और दूसरे को भी दुःखित कर दिया जावे या स्वयं भी दुःखी हो और दूसरे को भी दुःखी किया जावे, जहाँ स्वयं शोक में भरा जावे और दूसरे को भी शोकित किया जावे या स्वयं भी शोकाकुल हुआ जावे और दूसरे को भी शोकगर्भित कर दिया जावे, जहाँ किसी प्रकार हानि या अपमान होने पर स्वयं ताप किया जावे और दूसरे को भी तसायमान किया जावे या स्वयं भी पश्चात्ताप हो और दूसरे को भी पश्चात्ताप में डाला जावे, जहाँ किसी कारण से स्वयं रुदन किया जावे और दूसरे को भी रुलाया जावे या स्वयं भी रुदन करे व दूसरे को भी अश्रुपात के वश करे जहाँ स्वयं अपघात स्वयं का घात व पीड़ित किया जावे और दूसरे को भी घात या पीड़ा दी जावे, जहाँ स्वयं ही दूसरे को करुणा उत्पन्न कराने के भाव से परिदेवन या रुदन किया जावे या दूसरे को परिदेवन कराया जावे या स्वयं भी परिदेवन करे व दूसरे को भी करावे। जहाँ किसी प्रकार भी अपने कलुषित, मलिन, आकुलित, क्षोभित व पीड़ित भाव किये जावें या दूसरे के भाव कलुषित, पीड़ित, मलिन, आकुलित व क्षोभित किये जावें या आप व पर दोनों ही कलुषित भावों में सने हों वहाँ पर असाता वेदनीय कर्म का विशेष अनुभाग बन्ध पड़ता है। इस तरह विचार करने से यद्यपि असाता वेदनीय कर्म के बन्धकारक भावों से ग्लानि हो जाती

है और अबन्ध अवस्था से प्रेम पैदा होता है तथापि यह विचार एक प्रकार के डावाँडोल उपयोग ही का परिणामन है जो बन्ध ही का कारण है।

जब कोई ज्ञानी इन सर्व विचारों का तथा सर्व ही मन, वचन, काय की क्रियाओं का बुद्धिपूर्वक निरोध करके अपने आत्म द्रव्य में उसे भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से भिन्न जानकर व श्रद्धानकर उस ही ज्ञान श्रद्धान में उपयुक्त हो जाता है, लीन हो जाता है, तन्मय हो जाता है, एकाग्र हो जाता है, एकतान हो जाता है, मग्न हो जाता है व उसी ही निज आत्मा के उपवन में रमण करने लग जाता है तथा अन्य सर्व से उदासीन हो जाता है तब निज का साक्षात्कार होते हुए जो परमानन्द का स्वाद आता है वह वचन व मन के विचार से अगोचर केवल अनुभवगम्य ही है, वही स्वानुभव है और वही आपसे आपका उपभोग है।

18- दर्शनमोहनीय कर्म का विशेषास्त्रव

एक ज्ञानी आत्मा आत्मिक सुख-समुद्र में भरे हुए अमृतरस का पान करने के लिए अपनी परिणति को सर्व ही अपनी आत्मा के मूल द्रव्य स्वभाव से भिन्न आत्मा व अनात्म द्रव्यों से, उनके गुणों से तथा उनकी पर्यायों से उन्मुख करता है और सूक्ष्म भेदविज्ञान के प्रताप से सर्व पर से मुक्त होकर स्वात्म-संवेदन में आरूढ़ हो जाता है, स्वानुभव पाकर परम तृप्तता पाता है। स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है व स्वानुभव ही मोक्ष है। इस स्वानुभव का लाभ वास्तव में सम्यग्दृष्टि ही को होता है। मिथ्यादृष्टि की पहुँच आत्मतत्त्व की सूक्ष्मता पर नहीं होती है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन आत्मा ही का गुण स्वभाव है तथापि अनादिकालीन कर्म प्रवाह के संस्कार से तथा अनन्तानुबन्धी कषाय

और मिथ्यात्व कर्म के उदय से वह स्वभाव विभावरूप में परिणमन कर रहा है। इस विभावता को मिटाने का उपाय भेदविज्ञान का मनन है, आत्मा व अनात्मा का भिन्न-भिन्न विचार है जिसके लिए जीवादि सात तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धान की आवश्यकता है। एक सम्यक्त्व प्रेमी आस्रव तत्त्व का विचार करते हुए जिन भावों से मोहनीय कर्म का विशेष अनुभाग पड़ता है उन भावों के चिन्तन में रहकर यह सोचता है कि सत्य को असत्य कहना अवर्णवाद है, झूठी निन्दा है-ऐसा करना उचित नहीं है।

वह केवली अरिहन्त, जिनवाणी, मुनिसंघ, श्रावकसंघ, जिनधर्म व चार प्रकार के देवों की निन्दा नहीं करता है। वह जानता है कि केवली सर्वज्ञ वीतराग परम हितोपदेशी होते हैं। वे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय-इन चार घातिया कर्मों से रहित होते हैं। अतएव नौ केवल लब्धियों के-क्षायिक भावों के अधिपति होते हैं। उनमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक परम यथाख्यात चारित्र, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग और अनन्त वीर्य ये नौ भाव विद्यमान होते हैं। वे स्वरूपमग्न रहते हैं। उनके भावों में कोई आकुलता, कोई चिन्ता, कोई राग-द्वेष की कालिमा और कोई भूख-प्यास की बाधा पैदा नहीं होती है। उनमें अनन्त बल होता है, आत्म-निर्बलता की वेदना उनको नहीं होती। उनके शरीर को पोषणकारी नोकर्मवर्गणाँ उनके शरीर में उसी तरह मिलती रहती हैं जैसे पृथ्वीकायिक व वनस्पतिकायिक प्राणियों के शरीर को पुष्टिकारक वर्गणाँ आकर्षित होकर लेपाहार के रूप में उन्हें मिलती रहती हैं। उनका कर्मोदय की अबुद्धिपूर्वक प्रेरणा से ही उपदेश या विहार होता है। उनकी परम शान्ति कोसों तक के जीवों को शान्ति प्रदान करती है। उनके सन्मुख वैर विरोधी

जीव भी वैर छोड़ देते हैं। उनकी शान्त मुद्रा देखकर परिणाम वीतराग हो जाते हैं, उन्हीं की वाणी व उसके अनुसार ऋषिप्रणीत आगम ही श्रुत है, आदरणीय है।

उस श्रुत के अनुसार चलने वाले सर्वदेश मुनि महाराज हैं, एक देश आर्यिका, श्रावक व श्राविकाएँ हैं। उनका उपदेश किया हुआ धर्म स्व-पर हितकारक है, आत्मा को सुख-शान्ति देने वाला व शुद्ध करने वाला है। पुण्योदय से देवगति में प्राप्त जीव कभी माँस और मद्य नहीं खाते-पीते। उनके मन सम्बन्धी ही आहार है। वे बहुत रूपवान होते हैं। व्यवहार में सर्व ही जिनमन्दिर में जाकर जिन भक्ति करते हैं। इस तरह की श्रद्धा रखता हुआ ज्ञानी कभी इनकी निन्दा नहीं करता है। इनकी निन्दा करना सत्य का तिरस्कार करके दर्शन मोहनीय कर्म का विशेष बन्ध करना है। इस तरह के विचार से पुण्य बन्ध होता जान एक ज्ञानी मन, वचन, काय तीनों को स्थिर करता है और तीनों को पौद्गलिक पर जानकर, तीनों को छोड़कर, अपने उपयोग को उद्योग करके आप में ही रमाता है। बस एकाएक स्वानुभव को झलकाकर परम सुख-शान्ति का अनुपम भोग प्राप्त कर लेता है।

19- चारित्रमोहनीय कर्म का विशेषास्त्रव (Imp.)

एक ज्ञानी तत्त्वप्रेमी स्वानुभव की गुफा में प्रवेश करने के लिए जब नगर व ग्राम की बस्ती रूपी सर्व पर आत्म व अनात्मभावों से अपने को दूर करता है और परम एकाग्र होकर अपने ही भीतर तीन गुप्तिमय कपाटों से सुरक्षित स्वानुभव गुफा में तिष्ठ जाता है तब जो आनन्द पाता है वह सिद्धों के सुख से किसी तरह कम नहीं है। परन्तु इस गुफा में जाने का उत्साह सम्यग्दृष्टि महात्मा को ही होता है। सम्यक्त्व की ज्योति के प्रकाश के बिना स्वानुभव की गुफा का दर्शन ही नहीं होता, प्रवेश करना तो दूर ही रहा। वास्तव में जीवादि

सात तत्त्वों के मनन से सम्यक्त्व गुण प्रकाश में आ जाता है और करणलब्धि के परिणामों के बल से बाधक कारण मिट जाते हैं।

आस्रव तत्त्व का विचार करते हुए ज्ञानी चारित्र मोहनीय के अधिक अनुभाग के कारणों पर दृष्टिपात करता है तो विदित होता है कि कषायों के उदय से जो तीव्र भाव होते हैं वे ही कषायों के बन्धन में विशेष कारण हैं।

क्रोधादि चार कषाय - किन्हीं की ऐसी आदत पड़ जाती है कि जरा-जरा सी बात में स्वयं भी क्रोधादि कषाययुक्त हो जाते हैं व दूसरों के भीतर भी कषाय उत्पन्न कर देते हैं। वे तपस्वीजनों के चारित्र को कषाय से दोष लगाते हैं या स्वयं तपस्वी होकर चारित्र को दोषयुक्त पालते हुए 'मैं तपस्वी' इस अहङ्कार के अश्व पर आरूढ़ रहते हैं। कोई कषाययुक्त संक्लेश भावों से किसी कारण नाराज होकर गृहत्यागी हो जाते हैं, क्रोध के वशीभूत होकर पर का बुरा विचारते हैं और मारन-ताड़न के यन्त्र-मन्त्र करते हैं। वे मान के वशीभूत होकर अपनी प्रतिष्ठा व पर का अपमान चाहते हैं व ऐसा उद्यम करते हैं। माया के वश में पड़कर अनेक प्रकार के उपायों से पर के मन को वशीभूत करके अपना स्वार्थ साधन करते हैं और लोभ से आकुलित होकर पाँचों इन्द्रियों के विषयों की तृप्ति के लिए अन्याय द्वारा पर को त्रास देकर भी स्वार्थ का साधन करते हैं। ये भाव चार कषायों के बन्ध के कारण हैं।

हास्यादि नौ नोकषाय - साधर्मी भाई-बहिन व अति दीन दुःखी मानवों की हँसी उड़ाते हैं, बहुत बकवाद करके अट्टहास करते हुए समय का नाश करते हैं। नाना प्रकार के खेल तमाशों में आप लगते हैं और दूसरों को लगाकर रति करते हैं। व्रत व शील पालन से अरति करते व कराते हैं। दूसरों का मन किसी भी तरह से

खट्टा कर देते हैं, उनकी आराम की चीजों में अन्तराय डाल देते हैं व उन्हें पुण्य कामों से छुड़ाकर पाप कार्यों में प्रेरित करते हैं। स्वयं शोक से युक्त होकर उदास रहते हैं, पर को भी शोकित करते हैं अथवा दूसरों को शोकित होते देखकर आनन्द मानते हैं। निरन्तर भय से भीत रहते हैं व दूसरों को भयवान बना देते हैं। धर्माचार व शुभाचार से घृणा करके मायाचार से प्रीति रखते हैं व दूसरों के छिद्र ढूँढ़ते हैं। कामभाव की अति तीव्रता रखने का भाव स्त्री वेद का कारण है। क्रोध, मान की मन्दता, स्वस्त्री में सन्तोष व कामभाव की अल्प रुचि पुरुषवेद का कारण है। तीव्र कामभाव, गुप्त इन्द्रिय का छेदन, परस्त्री आलिङ्गन व आसक्ति आदि बहुत भारी कामवासना से नपुंसक वेद का अनुभाग पड़ता है।

इस तरह चारित्र मोहनीय के कारण भावों का विचार कर जो उनसे बचते हैं वे मोह शत्रु की सेना के आक्रमण से अपनी रक्षा करते हैं। उपरोक्त सब विचार बन्ध ही के कारण है। ज्ञानी महात्मा इस सङ्कल्प-विकल्प रूप सर्व प्रकार की मन की चञ्चलता को स्वरूपासक्ति में बाधक समझकर मन से अतीत हो जाता है, निश्चय व व्यवहार दोनों नयों का विचार छोड़ देता है और अपने उपयोग को केवल अपने ही शुद्ध आत्मद्रव्य में प्रवेश कराता है। स्वभूमि में प्रवेश करके निश्चित विश्राम करना ही स्वानुभव है। जो इस अमृतसागर को पा जाते हैं वे इसी रस को पीते हुए मग्न रहते हैं।

20- आयुर्कर्म का विशेषास्त्रव (Imp.)

एक ज्ञानी महात्मा जल और दुग्ध के समान आत्मा और अनात्मा का मेल होते हुए भी, हंस के समान जल और दूधवत, आत्मा तथा अनात्मा का पृथक्करण बुद्धिबल से विचार कर अनात्मा से सर्वथा उदासीन हो जाता है। वह, भ्रमर जैसे कमल में आसक्त हो जाता है

वैसे अपनी ही आत्मा में आसक्त होकर विश्राम कर लेता है और जिस तरह भ्रमर सुगन्ध के मोह में ऐसा तन्मय हो जाता है कि सन्ध्या समय कमल बन्द होगा और मेरा मरण हो जायेगा, इस शङ्का को भी अपने भीतर नहीं लाता है, उसी तरह ज्ञानी सर्व मन, वचन, काय की चेष्टाओं का परित्याग करके आत्मरस में मग्न हो जाता है। यही स्वानुभव है, यही मोक्षमार्ग है, इसी का सेवन सर्व ही मोक्षपथ के पथिक करते रहते हैं। इसके सिवाय और कोई मोक्षमार्ग नहीं है, और कोई आनन्द मार्ग नहीं है, और कोई आत्म-कर्तव्य नहीं है, परन्तु इस आत्मरस का पान उसी महात्मा को होता है जिसके अन्तरङ्ग में सम्यग्दर्शन की ज्योति का प्रकाश जाज्वल्यमान हो जाता है और जिसको यह लोक छह द्रव्यमय होते हुए भी अपने स्वभाव में नजर आता है।

सम्यग्दर्शन के शत्रुओं पर विजय पाने के लिए आवश्यक है कि सात तत्त्वों का मनन किया जावे। आस्रव तत्त्व का विचार करते हुए आयु कर्म के बन्ध में किस तरह अधिक अनुभाग पड़ता है, कौन-कौन से भावों से कौन-कौन सी आयु बँधती है-इस बात का विचार करना मननकर्ता का कर्तव्य है। जिससे प्राणियों को पीड़ा पहुँचे उसे आरम्भ कहते हैं। यह मेरा है-ऐसी मूर्छा को परिग्रह कहते हैं। जहाँ न्याय पथ का उल्लङ्घन करके बहुत आरम्भ किया जावे, बहुत ऐसा ममत्व किया जावे जिसमें धर्माचरण की रज्ज्वमात्र परवाह न की जावे, मिथ्यात्व का पालन भी कर ले व हिंसादि पाँचों पापों को घोर तीव्रता के साथ करने लग जावे। पर के नाश का, पर के धन हरण का, मृषा बोलकर ठगने का, तीव्र विषयों की गृद्धि का, कृष्णलेश्या जनित रौद्रध्यान का भाव निरन्तर रखा जावे। पाप कार्यों के लिए धन का व्यय करे और धर्म कार्य में कृपणता बतावे, मान के वश हो

दुःखितों व अनाथों की तरफ भी क्रूर भाव रखे इत्यादि तीव्र निन्दनीय सात व्यसनों के सेवन से **नरकायु का बन्ध पड़ जाता है।**

तीव्र कुटिल परिणाम रखने से, पर को ठगने के भाव से, मिथ्यात्व सहित उपदेश करने से, शीलभाव नहीं पालने से, चुगली करने के भावों से, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा चिन्तवन व निदान सम्बन्धी आर्तध्यान से व नील व कपोतलेश्या के परिणामों से **तिर्यञ्चायु का बन्ध पड़ जाता है।** सन्तोषपूर्वक अल्प आरम्भ व अल्प परिग्रह से, विनयरूप स्वभाव से, मन्द कषाय से, न्यायपूर्वक वर्तन से, भद्रता के व्यवहार से **मनुष्यायु का आस्रव हो जाता है।**

शान्तिपूर्वक बन्ध-वध, भूख, प्यासादि उपसर्गों को सहन करने से, साधु का देशव्रती का सराग संयम पालने से, वैराग्य सहित परन्तु कदाचित् आत्मज्ञान रहित कायक्लेशरूप तप करने से **देवायु का** तथा सम्यग्दर्शन अकेले के होते हुए या सम्यक्त्व सहित श्रावक व मुनिव्रत पालते हुए **विशेष देवायु का आस्रव होता है।** पीत, पद्म, शुक्ललेश्या के धारी तिर्यञ्च तथा मानव देवायु को बाँध लेते हैं। **आयुर्कर्म एक प्रकार की बेड़ी है, इसकी स्थिति के अनुसार इस संसारी जीव को किसी भव के जेलखाने में रहना पड़ता है।**

इस तरह, चारों आयु न बन्ध सके, इसका उपाय उच्च शुक्लध्यान है जो अपूर्वकरण गुणस्थान से प्रारम्भ होता है। ज्ञानी ऐसी भावना करता हुआ भी खेद है कि बहुत अंश में बन्ध के कारणीभूत इन विचारमालाओं को मन से उतारकर पटक देता है और शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से अपनी ही आत्मा को शुद्ध देखने लगता है, वैसे ही वह पर आत्माओं को भी शुद्ध देखने लगता है। तब न कोई बन्धु, न कोई अबन्धु नजर आता है। एकाएक साम्यभाव का प्रवाह भावों में बहने लग जाता है। तब वह निश्चल होकर एक अपनी ही आत्मा का स्वाद

लेने के लिए आत्मा में ही एकाग्र हो जाता है। उपयोग का भ्रमण पाँच इन्द्रियों व मन के विषयों में नहीं कराता है। छहों आयतनों से उसका निरोधकर उसे आत्मा में ही उसी तरह घुला देता है जैसे खारे पानी में नमक की डली घुल जाती है। यही स्वानुभव है। इसके उदय होने से यह जिस आनन्द का भोग करता है, वह अनुभवगम्य ही है।

21- नामकर्म का विशेषास्त्रव

स्वात्मरस पान का प्रेमी एक ज्ञानी महात्मा यह निश्चय करके कि स्वानुभव के गर्भ से ही स्वात्मरस सुधा का उत्पाद होता है, स्वानुभव के लाभ के लिए उद्यम करता है, वह भेदविज्ञान की धूनी रमाता है। स्व-पर को बड़ी सूक्ष्मता से भिन्न-भिन्न देखता है। आत्मा का तत्त्व आत्मा में और अनात्मा का तत्त्व अनात्मा में धर देता है। तब वह अनात्मा से उन्मुख हो, आत्मा के तत्त्व में लुब्ध हो मग्न हो जाता है, झट से स्वानुभव को पा लेता है, परन्तु इस तत्त्व की लब्धि की कला उसी महात्मा के हाथ में आती है जो सम्यग्दर्शन रत्न को अपने भीतर झलका चुकता है। इस सम्यक्त्व का प्रकाश उसी को होता है जो सात तत्त्वों के भावों को जानकर मनन करता है। आस्त्रव तत्त्व का विचार करते हुए यह जीव नामकर्म का विशेष बन्ध किन भावों से करता है उन पर ध्यान दिये जाने से प्रगट होता है कि मन, वचन, काय की कुटिलता से तथा परस्पर झगड़ा व लड़ाई करने से जो अपने शरीर की आकृति बुरी व बेडौल हो जाती है और उसी के साथ उस समय भावों की भी कुटिलता होती है, जिससे अशुभ नामकर्म का बन्ध हो जाता है, जिसके फल से शरीर अशुभ व बदसूरत प्राप्त होगा।

यदि हम मन, वचन, काय को सरल रखेंगे और प्रेम व एकता

से बरतेंगे, झगड़ा-टण्टा न करेंगे तो मन, वचन, काय की सरलता के कारण व शुभ आकृति रखने के कारण व भावों में भी सरलता के कारण हम शुभ नामकर्म को बाँध लेते हैं, जिसका विपाक सुन्दर शरीर को प्राप्त करना होगा। तीर्थङ्कर नामकर्म एक महान कर्म है जो प्राणी को पूजनीय तीर्थङ्कर का पद दिलाता है। उसका बन्ध प्रसिद्ध षोडशकारण भावनाओं से होता है। उनको इस तरह भाना चाहिए—

- (1) हमारी आत्मश्रद्धा निर्दोष रहे। हम सम्यक्त्व के आठ अङ्गों को पालकर जिनधर्म का माहात्म्य जगत में प्रकाशित करें।
- (2) हम मोक्षमार्ग की गाढ़ भक्ति करें व पूजनीय पुरुषों की विनय करें।
- (3) हम शील व व्रतों के पालन में अतिचार न लगाकर उनका परम भक्ति से निर्दोष पालन करें।
- (4) हम तत्त्वज्ञान का व आत्म-मनन का नित्य अभ्यास रखें।
- (5) हम संसार-शरीर-भोगों से उदास रहकर मोक्ष व मोक्षमार्ग में परम प्रीति करें।
- (6) हम अपनी शक्ति को न छिपाकर आहार, औषधि, अभय व ज्ञानदान करें। पात्रों को भक्तिपूर्वक व दुःखितों को करुणाभाव से देवें।
- (7) हम शक्ति को न छिपाकर उपवास, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग व ध्यान का अभ्यास करें।
- (8) हम साधुओं के उपसर्ग का निवारण करें।
- (9) हम सेवा धर्म को पालें।
- (10) हम श्री अरिहन्त की सच्ची भक्ति करें।
- (11) हम श्री आचार्य की सेवा करें।
- (12) हम श्री उपाध्याय की सङ्गति से ज्ञान प्राप्त करें।
- (13) हम श्री शास्त्र की सच्ची भक्ति करें।
- (14) हम आवश्यक नित्य कर्मों को न त्यागें।
- (15) हम श्री जिनधर्म की प्रभावना करें और
- (16) हम साधर्मि भाइयों से वात्सल्य भाव रखें।

यह मनन यद्यपि तत्त्वश्रद्धान के लिए आवश्यक है तथापि बन्ध

का कारण है। अतएव एक ज्ञाता इस विचार को बन्द करके जहाँ न नाम है, न स्थापना है, न द्रव्य है, न भाव है, न प्रमाण है, न नय है, न कोई कहने योग्य वस्तु है, उस अवक्तव्य तत्त्व में मौनव्रत के साथ एकाग्र हो तन्मय हो जाता है। वह स्वानुभव का भाव झलकाकर परम रस गर्भित आनन्द का स्वाद पाता है और सच्चे मोक्षमार्ग में चलता हुआ मोक्ष का पथिक हो जाता है।

22- गोत्र व अन्तराय कर्म का विशेषास्त्रव (V.Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा आत्मिक स्वाद का प्रेमी होकर इस स्वाद को लेने के लिए अपने उपयोग को सर्व परद्रव्यों से हटाता है और श्रद्धा व ज्ञान द्वारा समझी हुई अपनी ही शुद्ध आत्मा की भूमिका में अपने उपयोग को जमा देता है। उपयोग का उपयोगवान आत्मा में स्थिर हो जाना ही स्वानुभव है। इसका मूल कारण भेदविज्ञान है। भेदविज्ञान की दृष्टि से निज आत्मा स्वस्वभाव में झलकने लगता है। जो कुछ इसके साथ पुद्गल का सम्बन्ध है व उस सम्बन्ध में जो कुछ विकार होता है वह आत्मा का निज तत्त्व नहीं है। यही ज्ञान दृढ़ता से होना ही भेदविज्ञान है। जिस किसी महात्मा के भीतर अन्तरात्मपने का उदय हो गया है अर्थात् जहाँ सम्यग्दृष्टि का प्रकाश होकर मिथ्यादृष्टि का तम विघट गया है वही भेदविज्ञान की कला का स्वामी हो गया है। सम्यग्दर्शन का उदय अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व कर्म के उदय के अभाव बिना नहीं हो सकता है। इनके उदय को मिटाने के लिए यह आवश्यक है कि तत्त्व का दृढ़तापूर्वक मनन किया जावे। आत्मा-अनात्मा के भिन्न-भिन्न विचार का बार-बार अभ्यास किया जावे। इस कार्य की सिद्धि के लिए जीवादि सात तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धान की आवश्यकता है।

अतएव एक साधक आस्त्रव तत्त्व के विचार में मनन करता है

कि गोत्रकर्म के बन्ध में क्या-क्या विशेष कारण हैं। पर की निन्दा करके प्रसन्न होना, पर की निन्दा सुनके राजी होना, अपनी प्रशंसा स्वयं करना, अपनी प्रशंसा सुनके राजी होना, अपने न होते हुए गुणों का प्रकाश करना, दूसरों के होते हुए गुणों पर भी परदा डाल देना, अपनी उच्चता चाहना, पर की नीचता इच्छना नीच गोत्र के आस्रव के कारण हैं।

अपने में गुण होते हुए भी अपनी निन्दा करना, दूसरों के गुणों की प्रशंसा करना, दूसरों की महिमा गाना, अपने में होते हुए गुणों को भी ढकना, जो गुणों में उत्कृष्ट हों उनके साथ बड़ी भक्ति व विनय से व्यवहार करना, आप ज्ञानादि में महान भी हो तो भी मद न करके उद्धत भाव से न वर्तना उच्च गोत्र के बन्ध के कारण भाव हैं।

अन्तराय कर्म पाँच प्रकार का है। कोई दान करता हो तो उसके दान होने में विघ्न कर देना दानान्तराय का कारण भाव है। किसी को द्रव्यादि का लाभ होता हो तो उसके लाभ होने में विघ्न डाल देना लाभान्तराय के बन्ध का कारण है। किसी के पास भोग सामग्री है, उसको वह भोग न सके ऐसी मन, वचन, काय की चेष्टा करना भोगान्तराय का कारण है। बार-बार भोगने योग्य वस्त्राभूषणादि का कोई भोग न कर सके-ऐसा भाव करना उपभोगान्तराय के आस्रव का कारण है। किसी ने शुभ कार्यो के लिए अपना उत्साह प्रगट किया, उसके उत्साह को किसी भी तरह भङ्ग कर देना वीर्यान्तराय के आस्रव का कारण है। दूसरों की उन्नति में बाधक होना अन्तराय कर्म का बन्ध करना है।

इस तरह विचार करने से सङ्कल्प-विकल्प होता है, शुभ उपयोग होता है, जो कर्म के बन्ध का ही कारण है। अतएव ज्ञानी जीव अपने उपयोग इस पुण्यबन्ध के कारण भावों से भी निरोध करता है

और एक ऐसी भूमिका में जाता है जहाँ न शुभ भाव हैं न अशुभभाव हैं, इसको शुद्धोपयोगी भूमिका कहते हैं। यह भूमिका वैराग्य रस से अति पवित्र होती है। यहाँ आत्मज्ञान की चमक फैलती है। इस भूमिका में विश्राम करने से सर्व आकुलताएँ मिट जाती हैं और कषाय कालिमा का विकार नहीं उठता है। शुद्धोपयोग की भूमिका में तिष्ठना ही वास्तव में स्वानुभव है।

ये मन-वचन-काय रात्रि-दिन कभी शुभ में व कभी अशुभ में दौड़ा करते हैं। उनकी इस घुड़दौड़ को रोककर उनको ज्ञान-वैराग्य के खूँटे से बाँध देना उचित है जिससे उनका निरोध हो जावे और तब उपयोग को छुट्टी मिले। उसको तब स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण इन्द्रियों की तथा नोइन्द्रिय मन की गुलामी न करनी पड़े। वह स्वतन्त्र हो जावे, शुद्ध हो जावे, निर्विकार हो जावे। ऐसी दशा में उपयोग अपने ही घर में विश्रान्ति लेता है। अपने ही आत्म-स्वामी की सेवा करता है। अपने ही आत्म-स्वामी के अद्भुत रूप का अवलोकन करता है। उसकी महिमा में एकतान हो जाता है अर्थात् स्वानुभव का प्रकाश करता है और तब एक अनिर्वचनीय सुधा का प्रवाह बहता है उसका पानकर वह परम तृप्ति लाभ करता है।

23- बन्ध तत्त्व विचार (Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा आत्मिक आनन्द का प्रेमी होकर उस वस्तु की खोज में है जहाँ वह आनन्द ले सकें। तीन लोक के जड़ आदि अजीव पदार्थों के भीतर वह देखता है तो उनमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण व गति, स्थिति, अवकाश व परिवर्तन हेतुपना आदि गुण तो हैं परन्तु आनन्द गुण नहीं है। आनन्द का अनुभव करने वाला यदि कोई न हो तो पर पदार्थों के आश्रय से भी आनन्द का लाभ नहीं हो। यह प्राणी जब रागभाव सहित किसी पदार्थ का भोग करता है तब उसको जो

सुख अनुभव में आता है वह सुख अपने ही भीतर से प्रगट होता है। भोग्य पदार्थों में सुख नहीं है। भोग्य पदार्थों का भोग करते हुए राग भाव में लिप्तता रखने से सुख अपने ही भीतर से प्रगट होता है। यदि भोग्य पदार्थ में सुख हो तो एक उस मानव को जो उस अमुक भोग्य पदार्थ से राग नहीं रखता है, वह भोग्य पदार्थ भोगने को दिया जावे तो वह रागभाव की लिप्तता के न होने से सुख का अनुभव नहीं कर सकेगा। यदि पदार्थ में सुख होता तो सबको ही सुख भासता परन्तु ऐसा नहीं है। रागी को सुख भासता है, विरागी, उदासीन वा शोकातुर को नहीं भासता है, जिस तरह श्वान हड्डी चबाता है तब उसकी डाढ़ से खून निकलता है, उसको पीकर वह ऐसा मानता है कि यह हड्डी का स्वाद है, उसी तरह सुख तो अपने ही भीतर से उठता है परन्तु अज्ञानी जीव ऐसा मान लेता है कि पर पदार्थ से सुख मिला है।

रागभाव से भोगा हुआ वैषयिक सुख, सुख गुण का वैसे ही विभाव परिणमन है जैसे राग, द्वेष और मोह, चारित्र गुण का विभाव परिणमन है। विभाव परिणमन खारे पानी के स्वाद के समान तृप्तिकारी नहीं होता है। विषय के संसर्ग रहित यदि स्वाभाविक आत्मिक सुख को भोगा जावे तो वह निर्मल पानी के समान असली सुख का स्वाद देता है व तृप्ति प्रदान करता है। वास्तव में आत्मा में ही सुख गुण है और वह स्वानुभव से प्राप्त होता है। इस बात का पता एक सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा को ही होता है। इसलिए हर एक प्राणी को सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए। इसका व्यवहार साधन सात तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करके मनन करना है।

सात तत्त्वों के विचार में आस्रव का स्वरूप कहा जा चुका है। बन्ध तत्त्व को अब विचारना है। कर्मवर्गणाओं का आकर आत्मा के प्रदेशों में ठहर जाने को बन्ध कहते हैं। जैसे आकाश में मेघ वा धूम्र

छा जाता है जैसे ही आत्मा के प्रदेशों में कर्मवर्गणाँ छा जाती हैं। जैसे मेघ आकाश को जकड़ लेते हैं जैसे कर्मवर्गणाँ आत्मा को जकड़ लेती हैं। यह बन्ध आत्मा के विभाव परिणमन के द्वारा होता है। स्वभाव से आत्मा के बन्ध नहीं हो सकता। जैसे कर्मों के आस्रव में योग और कषाय कारण हैं जैसे कर्मों के बन्ध में योग और कषाय कारण हैं। आस्रव और बन्ध का कारण एक ही है पर कार्य दो हैं।

प्रकृति और प्रदेश बन्ध योगों से व स्थिति तथा अनुभाग बन्ध कषायों से होते हैं। कर्मों में स्वभाव पड़ना कि ये ज्ञान ढकेंगे या मोह पैदा करेंगे-यह प्रकृति बन्ध है। कितनी संख्या कर्म पुद्गलों की बँधी सो प्रदेश बन्ध है। कितने काल तक के लिए उनका आत्मा के प्रदेशों के साथ सम्बन्ध रहेगा ऐसी मर्यादा का नियम सो स्थितिबन्ध है। उन सञ्चित् कर्मों में तीव्र या मन्द फलदान शक्ति पड़ना अनुभाग बन्ध है। तत्त्वज्ञानी इस बन्ध पद्धति से मुख मोड़, अबन्ध व असङ्ग एक निज आत्मा की तरफ झुकता है व सर्व से उन्मुख हो आत्मा के भीतर उसी तरह मग्न हो जाता है जैसे गंगा में डुबकी लगायी जाती है। डुबकी का लगाना ही स्वानुभव है। बस, इस कला के जागृत होते ही जो अपूर्व व अद्भुत आनन्द प्रगट होता है वह वचन अगोचर है।

24- बन्ध तत्त्व स्वरूप

एक ज्ञाता-दृष्टा आत्मा अपनी स्वानुभूति तिया के साथ रमण करने के लिए परम उत्सुक होकर उसके पास पहुँचने का मार्ग-शोधन करता है। उसे श्री गुरु द्वारा उपदेशित भेदविज्ञान का मार्ग ध्यान में आ जाता है। वस्तु प्राप्ति का साधन भेदविज्ञान है - ऐसा समझकर वह सर्व विचारों को बन्द कर, भेदविज्ञान का अभ्यास करता है। शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से वह ज्ञानी अपनी आत्मा को परमात्मा के समान शुद्ध जानता है और सूक्ष्म व स्थूल शरीर को व राग, द्वेष,

मोहादि विकारी भावों को पुद्गलकृत विकार समझता है। वह इन सर्व पर से हेयबुद्धि धारण कर लेता है और परम साम्य भाव से निज आत्मा के शुद्ध स्वरूप में एकाग्र हो जाता है। यही स्वानुभव का लाभ है, यही आत्मशुद्धि का उपाय है और यही स्वात्मानन्द के पान का स्रोत है।

सच्चा भेदविज्ञान सम्यग्दर्शन के बिना प्राप्त नहीं हो सकता है। सम्यक्त्व का प्रकाश अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व के विष के उतरने पर होता है। इस विष के उतारने का मन्त्र स्व-पर तत्त्व का मनन है। यह मनन तब ही होता है जब सात तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त हो। बन्ध तत्त्व के ऊपर एक ज्ञानप्रेमी विचार करता है तब यह समझता है कि प्रकृति, प्रदेश, स्थिति तथा अनुभाग रूप चार प्रकार का बन्ध इस जीव के साथ स्वयं अशुद्ध जीव की योगशक्ति और कषायों की कालिमा से हो जाता है। बन्ध होने के पश्चात् कर्म कुछ काल तक बिल्कुल उदय नहीं आता है अर्थात् फल नहीं देता है। एक कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति हो तो कर्मों को पकने में सौ वर्ष लगते हैं। कम से कम पकने का काल या आबाधा काल एक आवली है, जो एक पलक झपकने मात्र है। इस एक शरीर में बाँधा हुआ पाप या पुण्य कर्म इस शरीर में भी फल देता है और जब तक कर्म की स्थिति पूर्ण न हो तब तक बराबर कई-कई भवों में फल देता रहता है।

कर्मों का फल निमित्ताधीन है। अनुकूल निमित्तों में ही अनुकूल कर्म उदय आकर फल प्रगट करता है। नरकगति व तिर्यञ्चगति में उन ही गतियों के अनुकूल और मनुष्य व देवगति में उन ही गतियों के अनुकूल कर्म उदय में आकर फल देता है। जैसे देवों के उच्च गोत्र का ही उदय होगा, नरक व तिर्यञ्चों के नीच गोत्र का ही उदय होगा व मनुष्यों के दोनों ही गोत्रों का उदय होगा। निमित्त न होने पर समय पर उदय आने वाला कर्म बिना फल दिये झड़ जाता है।

पकने का आबाधा काल छोड़कर स्थिति का जितना समय होता है उतने समय के अनुकूल वर्गणाएँ बँट जाती हैं। अपने बंटवारे के अनुकूल वे अवश्य समय-समय पर खिरती जाती हैं। यदि हम शुभ निमित्त मिलावें तो बहुत से पाप कर्मों के फल से बच सकते हैं। इस तरह बन्ध की कथा केवल बन्ध की ही करने वाली है। अतएव तत्त्वज्ञानी इस बन्ध कथा से भी उदास हो जाता है व कथा के जाल से रहित, मन के विकल्पों से शून्य और काय व्यापार से रहित एक निज आत्मा के निश्चित शुद्ध स्वरूप में प्रवेश करता है। तब स्वानुभव रूपी उपवन में प्रवेश कर वह जो सुख व शान्ति पाता है उसका विचार करना भी दुर्लभ है।

25- संवर तत्त्व विचार (Imp.)

एक ज्ञानी सर्व प्रकार के विकल्पों का त्यागकर यह भावना भाता है कि मुझे आत्मानन्द का लाभ हो जावे। इसलिए भेदविज्ञान के द्वारा वह अपनी आत्मा की सत्ता को सर्व पर की सत्ता से भिन्न देखता है और सर्व पर से उदास होकर निज में अपने उपयोग की प्रवृत्ति को रोकता है। निज में निज का थमना ही स्वानुभव है। स्वानुभव के होते हुए अपूर्व परमानन्द का स्वाद आता है जिसका वर्णन किसी भी तरह नहीं किया जा सकता है परन्तु इस स्वानुभव के अमृतसागर में उसी ही का प्रवेश हो सकता है जो सम्यग्दर्शन रूपी रत्न से विभूषित हो।

सम्यग्दर्शन इस आत्मा का निजगुण ही है। उसका आच्छादन अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व कर्म के मैल से हो रहा है। इस कर्म कालिमा के मिटाने के लिए सात तत्त्वों के निरन्तर मनन करने की जरूरत है। संवर तत्त्व पर विचार करते हुए एक ज्ञानी यह मनन

करता है कि जिन-जिन मन, वचन, काय की क्रियाओं से आस्रव होता है उन-उन क्रियाओं का निरोध कर देना ही वैसे ही संवर है, जैसे जिस छिद्र से पानी आता हो उस छिद्र को बन्द कर देने से पानी का आना रुक जाता है।

आस्रव के कारण पाँच भाव हैं और उनके निरोधक भी पाँच भाव हैं। मिथ्यात्व कर्म के असर से मलिन भावों के द्वारा जो कर्म आते हैं वे सम्यग्दर्शन के उज्ज्वल भावों के द्वारा रुक जाते हैं। संसार आदरणीय है और विषयसुख ग्रहण योग्य है-ये ही भाव मिथ्यात्व हैं। संसार त्यागने योग्य है, विषयसुख विषतुल्य है और अतीन्द्रिय आनन्द ही ग्रहण करने योग्य है-यह रुचि सम्यक्त्व है। मिथ्या रुचि से आने वाले पापकर्म सम्यक् रुचि के प्रताप से रुक जाते हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील तथा परिग्रह भावों में संलग्न होने से जो कर्म आते हैं वे कर्म इन पाँच पापों का त्याग कर देने से व अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह भाव में रमण करने से निरोध हो जाते हैं। प्रमाद भाव से वर्तन करते हुए असावधानी से मन, वचन, काय की प्रवृत्ति करते हुए और राग-द्वेष में रमण करते हुए जो पापकर्म आते हैं वे पापकर्म अप्रमादभाव में रमण करते हुए व स्वात्मानन्द की ओर सन्मुख होते हुए रुक जाते हैं।

क्रोध, मान, माया, लोभ के द्वारा व हास्य, रति, अरति, शोक, भय, घृणा व स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेद द्वारा जो भावों की कलुषता होती है उससे जो कर्म आते हैं वे कर्म इन कषायों का निरोध करने से तथा उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य तथा उत्तम ब्रह्मचर्य में वर्तन करते हुए रुक जाते हैं। मन, वचन, काय की क्रिया से जो कर्म आते हैं वे उस क्रिया के निरोध से रुक जाते हैं।

अशुभ मन, वचन, काय की क्रिया से आने वाला कर्म शुभ मन, वचन, काय की क्रिया में रक्त होने से रुक जाता है। शुभ मन, वचन, काय की क्रिया में रक्त होने से जो कर्म आते हैं वे मन, वचन, काय की गुप्ति में रमने से व निर्विकल्प आत्मसमाधि में जमने से रुक जाते हैं।

कर्मों का आस्रव करने वाले भाव क्योंकि अनेक प्रकार के होते हैं इसलिए उनका संवर करने वाले भाव भी अनेक प्रकार के होते हैं। संवर तत्त्व का विचार करने से उस ही तरह अपनी रक्षा अकुशल भावों से होती है जिस तरह रक्षा के उपायों को काम में लेने से अपने जानमाल की रक्षा चोर-डाकुओं से व शत्रुओं से होती है। इस तरह संवर तत्त्व के विचार में उलझने से भी संवर नहीं होता है किन्तु पुण्य कर्म की मुख्यता से आस्रव तथा बन्ध होता है। अतएव विवेकी जीव इन सर्व विचारों को छोड़ देता है और अपने ही स्वरूप में एकाग्र होने के लिए स्याद्वाद के द्वारा अपने को पर से भिन्न जानता है। वह पुरुषार्थ करके उपयोग को सर्व पर से थामकर उसे अपनी आत्मा में ही तल्लीन करता है। यह उपयोग की थिरता ही स्वानुभव की कला है। इसी को मोक्षमार्ग कहते हैं। यही वह अमृतसागर है जिसमें निमज्जन करते हुए साधक को निरन्तर सुख शान्ति का लाभ और परम सन्तोष प्राप्त होता है।

26- दशलक्षण धर्म (Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकार के अन्य विचारों को रोक करके एक निजात्मा का ही अनुभव अर्थात् स्वाद लेना चाहता है क्योंकि जो अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द आत्मा के भीतर है वह अन्य किसी भी द्रव्य के भीतर नहीं है। भेदविज्ञान रूपी मित्र सर्व पर पदार्थों को, पर

भावों को व पर पर्यायों को बुद्धि के पास से हटा देता है और केवल एक शुद्ध आत्मा को ही सामने लाकर खड़ा कर देता है। उसीके मनोहर व अनुपम रूप में लगातार टकटकी लगाकर देखना ही स्वानुभव है परन्तु यह आत्मिक आनन्द उसी महात्मा को मिलता है जिसके भीतर सम्यग्दर्शन रूपी रत्न का प्रकाश हो गया है। इसका प्रकाश उसी को होता है जो मोहनीय कर्म को जीतता है। मोहनीय कर्म के जीतने का उपाय जीवादि सात तत्त्वों का मनन है।

संवर तत्त्व का विचार करते हुए उन भावों का शरण लेना योग्य है जिन भावों से आत्मा क्रोधादि भावों से सुरक्षित हो सके। वास्तव में इस आत्मा को बन्ध भाव में पटकने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ-ये चार कषाय हैं। इनको क्षीण करने का उपाय दशलक्षण धर्म का विचार है। कष्ट पाने पर भी क्रोध के स्थान पर सहनशीलता वर्तना और निमित्तकर्ता पर रुष्ट न होना उत्तम क्षमा है। विद्या, तप, धन, अधिकार, रूप व बल आदि में उत्तम व महान होने पर भी इन क्षणिक पर्यायों में उन्मत्त भाव न करके परम मृदु रहना व अपमानित होने पर भी मान भाव न करना उत्तम मार्दव है। किसी भी स्वार्थ की सिद्धि करने के हेतु से किसी भी तरह की मायाचारी न वर्तन करके मन, वचन, काय के वर्तन को सरल रखना उत्तम आर्जव है। पदार्थ का सत्य स्वरूप विचारना व सत्य ही कहना, सत्य मार्ग पर चलना और उपसर्ग होने पर भी असत्य का विकल्प न करना उत्तम सत्य है। लोभ भाव को जीतकर संसार के पदार्थों का सम्बन्ध क्षणिक जानकर उनकी तृष्णा का निरोध करके पवित्र भाव रखना उत्तम शौच है। मन व इन्द्रियों की चञ्चलता मेटकर व परम करुणाभाव लाकर आत्मा के स्वभाव में भली प्रकार रुकना उत्तम संयम है।

उपवासादि तप के द्वारा आत्मा को ध्यान अग्नि में तपाना उत्तम

तप है। सर्व मोह त्यागकर जीवमात्र को अभयभाव से देखना व सर्व के सुखी होने का भाव रखना उत्तम त्याग है। किसी भी पर से ममत्व न करके समता में वर्तना उत्तम आकिञ्चन्य है। बाहरी ब्रह्मचर्य के द्वारा अन्तरङ्ग ब्रह्म में एकतान होना उत्तम ब्रह्मचर्य है। इस प्रकार दश धर्मों का विचार क्रोधादि कषायों को जीतता है तथापि स्वानुभव को पैदा नहीं करता है। जो कोई सर्व विचारों का निरोध कर आपसे ही आप में आनन्दामृत जल का पान करता है वही स्वानुभव को पाकर स्वतन्त्रता का सेवी हो जाता है।

27- बारह भावनाएँ (V.Nice)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व अन्य विचारों को रोककर भेदविज्ञान के प्रताप से स्वानुभव का अभ्यास करता है। आप जो है सो है, जैसा है तैसा है। आपसे भिन्न सर्व कल्पनाओं का त्यागकर आप आपमें स्थिर होकर आपका ही स्वाद लेना स्वानुभव है। सम्यग्दर्शन का धारी महात्मा ही इस अपूर्व लाभ को प्राप्त कर सकता है। इसका प्रकाश तत्त्वों के मनन से होता है। संवर तत्त्व का विचार करते हुए यहाँ आज द्वादश भावनाओं का विचार किया जा रहा है जिससे उपादेय की रुचि व हेय की अरुचि उत्पन्न हो।

जगत में सर्व ही बाल, वृद्ध, युवा अवस्था व सर्व नगर, राज्य, मन्दिर, भण्डार और वस्त्रादि की अवस्था नाशवन्त है इसलिए क्षणिक पदार्थों में मोह न करके मूल छह द्रव्यों की नित्यता व उनकी पर्यायों की अनित्यता पर लक्ष्य देना चाहिए। कोई भी प्राणी मरण के चंगुल से व तीव्र कर्मों के उदय से नहीं बच सकता। कर्मों के तीव्र विपाक में कोई रक्षा नहीं कर सकता। सर्व कोई अशरण है। शरण में जाने योग्य एक अपना ही आत्मद्रव्य है या अरिहन्तादि पाँच

परमेष्ठी हैं। **संसार** दुःखों का घर है, असार है, सुखशान्ति का विरोधी है और तापादि दुःखों का कारण है। क्योंकि भव-भव भ्रमण जीव को अनिष्टकारी है इससे संसार त्यागने योग्य है तथा संसार से रहित मोक्षावस्था ग्रहण करने योग्य है।

इस जीव का स्वभाव सर्व अन्य जीवों से व अन्य पुद्गलादि पाँच द्रव्यों से भिन्न अपने निज रूप में है। यह **अकेला** ही है। अकेला ही इसे भ्रमण करना पड़ता है व अपने पाप या पुण्य का फल अकेले ही भोगना पड़ता है। इस जीव का कोई साथी नहीं है। सर्व ही कुटुम्ब-परिवार, धन-धान्य और शरीरादि अन्य-अन्य हैं, छूट जाने वाले हैं। न रागादि विभाव जीव के हैं, न ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म हैं। यह **शरीर** महान अशुचि है, नाशवन्त है। इसके संयोग से आत्महित कर लेना ही बुद्धिमान का कर्तव्य है। अपने ही मन-वचन-काय की शुभ व अशुभ क्रियाओं से यह जीव स्वयं ही कर्मों का **आस्रव** करता है। कर्मों के मैल का संग्रह योग और कषायों से होता है। मन, वचन, काय के निरोध करने से तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र के प्रभाव से कर्मों का **संवर** हो जाता है। आत्मध्यान पूर्वक वीतरागता के प्रभाव से बहुत से कर्मों की बिना फल दिये हुए निर्जरा हो जाती है। तीन **लोक** जीवादि छह द्रव्यों से भरा है और अनादि-अनन्त अकृत्रिम है। यह लोक द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और पर्याय के बदलने की अपेक्षा अनित्य है। **सम्यग्ज्ञान** का लाभ बहुत ही कठिन है। यदि यह प्राप्त हो गया है तो इसे बहुत सम्हालके साथ रखना चाहिए तथा इसके प्रताप से आत्मा को परमात्मा बना लेना चाहिए। धर्म आत्मा का स्वभाव है। धर्म ही उत्तम सुख को देता है व कर्मों का नाश करने वाला है। धर्म से ही जीव का परम हित होता है।

इस प्रकार बारह भावनाओं का विचार करने से संसार-शरीर-भोगों से वैराग्य होता है व अपने आत्मिक स्वभाव से प्रेम बढ़ जाता है। यह बारह भावनाओं का विचार भी बन्ध ही का कारण है। अतएव बन्ध रहित होने के लिए यह ज्ञानी सर्व प्रकार के भावों से अपने को हटाता है और एकाकी आत्मिक शुद्ध परिणति में अपने को ठहराता है। आप अपने में रुक जाना ही स्वानुभव है। यही परमानन्द का दाता परम उपादेय निजतत्त्व है। यही मोक्षमार्ग है व यही मोक्ष है।

28- सामायिक चारित्र (V.Nice)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकार के विचारों को रोक करके एक निज आत्मा के ही गुण व पर्यायों का विचार करता हुआ, अपनी आत्मा को पर से भिन्न समझता हुआ भेदविज्ञान का बार-बार अभ्यास करता है। इस अभ्यास के प्रभाव से जब कभी उपयोग स्थिर होता है तब स्वानुभव का प्रकाश हो जाता है परन्तु इस स्वानुभव का लाभ उसी महात्मा को होता है जिसके भीतर सम्यग्दर्शन रूपी रत्न का झलकाव जीवादि सात तत्त्वों के मनन से होता है। संवर तत्त्व बड़ा ही उपकारी है, यह आते हुए कर्मों को रोक देता है। संवर का श्रेष्ठ उपाय मन, वचन, काय की गुप्ति रूप सामायिक है। राग-द्वेष-मोह का त्याग होकर समभाव का झलकना ही सामायिक है। प्रथम तो मोह को हटाना चाहिए। बुद्धिमान वही है जो सार वस्तु में प्रेम करे व असार में मोह न करे।

जगत की सम्पूर्ण अवस्थाएँ क्षणभंगुर, बदलने वाली तथा असार हैं। नगर का श्मशान होता है और श्मशान का नगर होता है। बालक से युवा व युवा से वृद्ध होता है। निरोगी रोगी व रोगी निरोगी हो जाता है। धनिक निर्धन व मित्र शत्रु हो जाता है। स्वार्थ का सब नाता है।

जिस शरीर के आश्रय से जगत के प्राणियों का सम्बन्ध है वह शरीर ही जब नाशवन्त है तब फिर सर्व सम्बन्ध थिर कैसे हो सकते हैं। सार एक अपना ही निज आत्मा है, वही प्रेमपात्र होने योग्य है। क्योंकि और कोई भी सार नहीं है इसलिए जगत का कोई भी चेतन व अचेतन पदार्थ मोह के योग्य नहीं है।

जिस-जिससे राग किया जाता है उस-उसका वियोग हो जाता है। जिस-जिससे द्वेष किया जाता है उस-उसका भी वियोग हो जाता है। नाशवन्त पदार्थों की पर्यायों से राग-द्वेष करना निरर्थक है और केवल आकुलता को ही बढ़ाने वाला है। जितनी पर्यायें हैं वे सब क्षणिक हैं, उनका दर्शन व्यवहारनय की दृष्टि से होता है। निश्चयनय की दृष्टि पर्यायों को न दिखाकर द्रव्यों को उनके यथार्थ रूप में दिखाती है। इस दृष्टि से देखना ही सामायिक भाव के लाने का उपाय है। निश्चय दृष्टि से देखते हुए जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, तथा काल - छहों द्रव्य अपने-अपने मूल स्वभाव में शुद्ध दिखलायी पड़ते हैं। जितने जीव हैं वे भी शुद्ध एकाकार, परम वीतराग और परमानन्दमय दिखते हैं और जितने पुद्गल हैं वे भी सब परमाणु रूप से भिन्न-भिन्न निर्विकार नजर आते हैं, तब राग-द्वेष की उत्पत्ति के कोई कारण नहीं रहते हैं। इस तरह जब समता भाव प्राप्त हो जाता है तब साधक अपनी ही आत्मा की तरफ लक्ष्य देता है और उसको ही ग्रहण करके उसी के शुद्ध स्वभाव में एकाग्र हो जाता है, तब परम सामायिक भाव प्राप्त होता है। यह परम संवर रूप तत्त्व है। इसके प्रताप से बहुत से कर्मों का आस्रव रुकता है। इस सामायिक भाव में मन, वचन, काय की चञ्चलता बन्द हो जाती है अतएव तीन गुप्तिमय दुर्ग तैयार हो जाता है। इस दुर्ग में विश्राम करना सर्व कर्म रूपी चोरों को दूर रखने वाला है।

सामायिक भाव संवर भाव है। ऐसा विचार करने से भी यथार्थ साम्यभाव नहीं मिलता है। शुभोपयोग की छाया रहने से कर्म का बन्ध रहता है। तब मुमुक्षु जीव सर्व विचारों की तरङ्गों को निश्चल करता है और एक बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से कर्मों के पुञ्ज के मध्य में विराजमान अपने आत्माराम के दर्शन पा लेता है। तब सर्व और दृश्यों को त्यागकर टकटकी लगाकर एक अपनी ही आत्मा के शुद्ध चित्र को देखता रहता है। आत्मिक शुद्ध चित्र में एकतानता प्राप्त करना ही स्वानुभव है। यही जन्म-जरा-मरण रोगों के शमन की परम औषधि है। यही वह मन्त्र है जो मोह रूपी विषम भयानक सर्प को वश कर लेता है। यही वह नौका है जिस पर चढ़कर साधक सीधा मोक्षद्वीप में बढ़ता चला जाता है। यही वह शस्त्र है जो कर्म शत्रुओं को खण्ड-खण्ड कर देता है। यही वह रस है जिसे पीने से भव्य जीव अजर-अमर हो जाता है।

29- निर्जरा तत्त्व विचार (Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा भेदविज्ञान के प्रताप से अपने को परंब्रह्म स्वरूप देखता हुआ उसी के ज्ञान में तन्मय होकर जब वर्तन करता है तब स्वानुभव को जगा लेता है। इस स्वानुभव रूपी कला का प्रकाश वही कर सकता है जो सम्यग्दर्शन रूपी रत्न से विभूषित हो। इस रत्न का झलकाव तब ही होता है जब जीवादि सात तत्त्वों के मनन से अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व कर्म का उपशम किया जावे। एक आत्मप्रेमी अब निर्जरा तत्त्व का विचार करता है। जब कर्म अपनी स्थिति पूरी होने पर झड़ते हैं तब उसको सविपाक निर्जरा कहते हैं। यह निर्जरा गजस्नान के समान हैं क्योंकि उसके साथ नवीन बन्ध भी हो जाता है। जब कर्मों की स्थिति घटाकर समय के पहले उन्हें खिरा दिया जाता है तब उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं।

इस निर्जरा के लिए वीतराग भावों की आवश्यकता है। आत्मा के स्वरूप की ओर प्रेमालु होकर जब आत्मस्थ हुआ जाता है तब आत्मध्यान जागृत हो जाता है। यही आत्मध्यान विपुल अविपाक निर्जरा का कारण है। जिस ध्यान में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की एकता होती है वही वास्तव में आत्मध्यान है। जहाँ आत्मा का ही आत्मा रूप निश्चय है, आत्मा का ही आत्मा रूप ज्ञान है और आत्मा का ही आत्मा रूप वर्तन है वही निश्चय रत्नत्रय की एकता रूप आत्मध्यान है। इसे ही स्वानुभव कहते हैं। स्वानुभव ही वास्तव में प्रचुर कर्मों को जलाने के लिए अग्नि तुल्य है। इस तरह निर्जरा तत्त्व का विचार करना भी बन्ध ही का कारण है अतएव यह विचार भी त्यागने योग्य है।

मन, वचन, काय का जितना भी परिणामन है वह सब पर है। इस पर से उपयोग को हटाकर स्व स्वरूप में अनुरक्त होना ही स्वानुभव है। स्वानुभव के समय में मैं हूँ, ऐसा मैं हूँ, ऐसा मैं नहीं हूँ, ऐसा मैं था, ऐसा मैं नहीं था इत्यादि तीन काल सम्बन्धी परिणामनों का भी कोई विचार नहीं है। स्वानुभव एक ऐसी विद्या है जो प्रकाश करने योग्य नहीं है। यही वह विद्या है जिससे कर्मों के पटल हटाये जा सकते हैं और केवलज्ञान रूपी सूर्य का प्रकाश हो जाता है। धन्य है स्वानुभव, यही भवसिन्धु से पार करने वाला अद्भुत जहाज है।

30- बाह्य छह तप (Imp.)

एक तत्त्वज्ञानी महात्मा सर्व प्रपञ्च जालों से रहित होकर आत्मा और अनात्मा का भेदविज्ञान प्राप्त करके अनात्मा से उन्मुक्त होकर जब अपनी ही आत्मा के सन्मुख होता है, तब एकाएक स्वानुभव का प्रकाश कर पाता है। स्वानुभव का जागृत होना ही मोक्षमार्ग है। यही निश्चय रत्नत्रय का प्रकाश है। यही वह साधन है जिससे स्वात्म

सिद्धि होती है। भेदविज्ञान की सूक्ष्म कला उसी को सूझती है जो वास्तव में सम्यग्दर्शन गुण से विभूषित हो जाता है। यह गुण हर एक आत्मा के पास है।

जिसके भीतर से अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व का कटुक रस नहीं निकला है, वह सम्यग्दर्शन गुण का प्रकाश नहीं कर सकता है। इन विकारों के मिटाने का उपाय जीवादि सात तत्त्वों का मनन है। निर्जरा तत्त्व पर विचार करते हुए तप की स्मृति आ जाती है। वास्तव में आत्मध्यान ही तप है जिससे सञ्चित कर्म अपनी स्थिति के पहले ही गिर जाते हैं। इस आत्मध्यान का लक्ष्य रखते हुए जो कोई साधन ध्यान में उपकारी हैं उनको भी तप के नाम से कहा गया है। जिन तत्त्वों का बाहर में दिखाव हो व जिनका असर मुख्यता से शरीर पर पड़े, उन तत्त्वों को बाहिरी तप कहते हैं। वे तप छह हैं—

(1) अनशन-खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय चार प्रकार आहार न करके जहाँ खान-पान, वाणिज्य व व्यापार की चिन्ताओं से निर्वृत्त होकर अपना समय व शक्ति आत्मचिन्तन, अध्यात्म शास्त्र पठन व श्री जिनेन्द्र भक्ति आदि वीतरागता वर्द्धक कार्यों में लगायी जावे वह उपवास तप है। यह तप इन्द्रियों के निग्रह में, प्रमाद को विजय करने में, शरीर की शुद्धि में व मन की पवित्रता में परम सहायक है।

(2) ऊनोदर-यह तप बताता है कि कभी पेट भर न खाओ, कुछ कम खाओ जिससे प्रमाद न सतावे, निद्रा न आवे, रोगों का जन्म न हो और मन, वचन, काय कुशलता से आत्मचिन्तवन के सहकारी कार्यों में वर्तन कर सकें। ज्ञानी विचारवान प्राणी अपने उदर के चार भाग करते हैं। दो भाग भोजन से व एक भाग पानी से भरते हैं और एक भाग खाली रखते हैं जिससे भोजन सुगमता से पच सके।

(3) वृत्तिपरिसंख्यान-इच्छाओं को वश करने के लिए साधुजन कोई प्रतिज्ञा धारण कर लेते हैं और उसका प्रकाश नहीं करते हैं। यदि वह प्रतिज्ञा पूरी होती है तब वे आहार करते हैं पर यदि पूरी न हुई तो सन्तोष से लौट जाते हैं, कुछ भी कष्ट नहीं मानते हैं। वे प्रतिज्ञाएँ ऐसी करते हैं जिनके कारण गृहस्थों को कुछ भी विशेष आरम्भ न करना पड़े व साधु के शरीर की व मन की स्थिरता बनी रहे। यही वृत्तिपरिसंख्यान तप है।

(4) रसपरित्याग-जिह्वा इन्द्रिय की लोलुपता के कारणभूत ये छह रस प्रसिद्ध हैं-मीठा, लवण, दूध, घी, दही, तेल। इन रसों की लोलुपता का त्यागभाव रखते हुए इच्छा दमन के हेतु एक या अनेक रसों का त्याग कर देना सो रस परित्याग है। साधुजन रसों का त्याग करते हुए अपना त्याग प्रकाश नहीं करते हैं। यदि प्रतिज्ञा के अनुकूल आहार मिलता है तो ग्रहण करते हैं नहीं तो सन्तोष धारण करते हैं।

(5) विविक्तशय्यासन-आत्मध्यान, स्वाध्याय, साम्यभाव व वैराग्य तथा ब्रह्मचर्य की रक्षा के हेतु एकान्त में शय्या व आसन रखना विविक्तशय्यासन तप है। यह आत्मानुभव में परम सहायक है।

(6) कायक्लेश-शरीर की सुखियापने की आदत को टालने के लिए कठिन भूमि पर, पर्वत पर, नदी तट पर या वृक्ष के नीचे एक आसन से कितनी ही देर खड़े या बैठकर ध्यान करना कायक्लेश तप है। दूसरों को दिखे कि साधु क्लेश भोग रहे हैं परन्तु साधक का भाव क्लेश रूप न हो किन्तु आत्मचिन्तवन में रक्त होकर आनन्दित रहे।

इस तरह चिन्तवन करना भी बन्ध का ही कारण है। अतएव तत्त्वज्ञानी सर्व चिन्तवन के प्रपञ्च को छोड़कर एक त्रिगुणसिन्धु आत्मिक गुफा में बैठ जाता है और वहाँ निजात्मिक गुणों की माला

का जाप करते हुए जप से भी निवृत्त हो जब अभेदभाव में तन्मय हो जाता है तब एकाएक स्वानुभव को पाकर जो आनन्द भोगता है वह वचन अगोचर है।

31- छह अन्तरङ्ग तप (Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जाल से मुक्त होकर जब तत्त्व का विचार करता है और भेदविज्ञान की शरण में जाता है तब उसे अपना आत्मा सर्व पर से भिन्न दिखलायी पड़ता है। जब वह एक अपनी ही आत्मा की तरफ उपयोग को जोड़ता है तब ही स्वानुभव झलक जाता है। यथार्थ भेदविज्ञान सम्यग्दर्शन के प्रकाश बिना नहीं हो सकता। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि सात तत्त्वों का मनन किया जावे, जिससे भेदविज्ञान की कला प्रकाश में आवे। निर्जरा तत्त्व का विचार करते हुए यह ज्ञानी अन्तरङ्ग छह तपों पर दृष्टिपात करता है। जिनका सम्बन्ध केवल जीव के परिणामों से मुख्यता से हो उनको अन्तरङ्ग तप कहते हैं। वे ये हैं:—

(1) प्रायश्चित्त-जैसे विवेकवान अपने कपड़ों को स्वच्छ रखता है, कहीं मिट्टी का या स्याही का धब्बा लग जाता है तो तुरन्त पानी से उसको साफ कर देता है वैसे ही ज्ञानी अपने नियम व्रत व प्रतिज्ञाओं को पवित्रता के साथ पालता है। यदि कोई प्रमाद से या लाचारी से किसी नियम में अतिचार या दोष लग जावे तो उसका यथार्थ निराकरण गुरु द्वारा दिये हुए व्रत पालन से व शुद्ध भाव में रमण रूप भाव प्रायश्चित्त से कर डालता है। सदा ही वह ज्ञानी प्रायश्चित्त तप के द्वारा अपने भावों को पवित्र रखता है।

(2) विनय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र-ये ही रत्नत्रय मोक्ष साधक हैं। इनकी ओर बड़ा ही आदरभाव रखना तथा

रत्नत्रयधारियों की विनय करना, उनका स्वागत करना सो विनय तप है। इसमें अन्तरङ्ग में विशेष धर्मानुराग की आवश्यकता है।

(3) **वैयावृत्य**-रत्नत्रय के साधकों की तरफ प्रेम रखकर उनकी सेवा-चाकरी इस तरह से करना जिससे उनके नियम, व्रत, संयम में कोई बाधा न आवे व उस मोक्ष साधक का भी परिणाम खेद से मुक्त होकर रत्नत्रय के पालन में हर्षायमान हो जावे। इसमें भी मोक्षमार्ग की गाढ़ रुचि आवश्यक है।

(4) **स्वाध्याय**-आत्ममनन ही मुख्य स्वाध्याय है। इस ही हेतु मोक्षमार्ग प्रदर्शक ग्रन्थों का बड़ी रुचि से पढ़ना, कहीं शङ्का हो तो विनयसहित पूछना, जानी हुई बात को बार-बार विचारना, शुद्धता के साथ कण्ठस्थ करना, धर्मोपदेश करना स्वाध्याय तप है। इसके द्वारा अज्ञान का नाश होता है, कषायों का बल घटता है और वीतरागता का भाव जागृत होता है।

(5) **व्युत्सर्ग**-अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग सर्व परिग्रह से ममता टाल कर शरीर से भी निर्ममत्व हो जाना और मन को ममता से खाली कर डालना व्युत्सर्ग तप है।

(6) **ध्यान**-धर्म आत्मा का स्वभाव है, उस आत्मा के स्वभाव पर चित्त को एकाग्र करना ध्यान है। ध्यान ही मुख्य अन्तरङ्ग तप है। आत्मध्यान से ही कर्मों की विशेष निर्जरा होती है।

इस तरह अन्तरङ्ग छह तपों का विचार करते हुए विचारक को विकल्पों की तरङ्गों में ही कल्लोलित होना पड़ता है। इसलिए तत्त्वज्ञानी इस बन्धकारक मार्ग से उन्मुख होता है और आत्मा ही की तरफ झुक जाता है। आत्मा के परम शान्त और आनन्दमय उपवन में क्रीड़ा करते-करते जब परिणति थिरता भाव को प्राप्त होती है तब

स्वानुभव का प्रकाश होता है। स्वानुभव होते ही परमानन्द का स्वाद आता है जो कि स्वाभाविक निराकुल सुख है।

32- चार प्रकार का धर्मध्यान (Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जालों से रहित होकर एकान्त में जब विचारता है तब उसे पता चलता है कि स्वानुभव कहीं बाहर नहीं है, अपने ही रस का स्वाद लेना स्वानुभव है। वह आप आप ही में प्रकाशमान है। जब आप में पर का विकार नहीं हो तब ही स्वानुभव का झलकाव होता है। सम्यग्दर्शन रूपी प्रकाश जिस आत्मा में होता है वही स्वानुभव को प्राप्त कर सकता है। सम्यग्दर्शन गुण का प्रकाश जीवादि सात तत्त्वों के मनन से होता है। तप के सम्बन्ध में विचार करते हुए देखा जाये तो तप ही वह अग्नि है जिसमें तपने से आत्मा का मैल कटता है और यह आत्मा शुद्ध होता है।

आत्मा का अपने स्वरूप में तपना ही तप है। जहाँ एक आत्मा को ही मुख्य करके उसी के स्वाद में रमा जावे वही ध्यान रूपी तप परमोपकारी है। यद्यपि आत्मा में एकाग्रता का नाम ध्यान है तथापि यदि आत्मा के गुणपर्यायों का ही विचार रहे और राग-द्वेष वर्द्धक विचारों का अभाव रहे तब भी उस वर्तन को धर्मध्यान कहते हैं। ऐसे धर्मध्यान के चार भेद हैं—

(1) **आज्ञा विचय**—जिनेन्द्र के आगम की आज्ञानुकूल जीवादि तत्त्वों का, दश धर्म का, मुनि व श्रावक धर्म का, बारहतप का और बारह भावनाओं आदि आगम के विषयों का विचार करना आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

(2) **अपाय विचय**—हमारे मिथ्यात्व, अज्ञान व राग-द्वेष का नाश कैसे हो तथा जगत के प्राणियों का अज्ञान कैसे हटे, वे कैसे निज

स्वरूप में रमण करके पर से मोह छोड़ें और कैसे आत्मिक उपवन में रमण करें-इत्यादि विचार करना अपायविचय है।

(3) **विपाक विचय**-कर्मों के फलों का विचारना कि मेरे या दूसरे जीवों की जो अन्तरङ्ग या बहिरङ्ग अवस्थाएँ हो रही हैं उनका कारण क्या है ? किस-किस कर्म के उदय से क्या-क्या पर्याय प्रगट होती है। साता वेदनीयादि का उदय सुख का, जबकि असातावेदनीयादि का उदय दुःख का कारण है। इस धर्मध्यान के प्रताप से दुःखों में शोक तथा सुखों में उन्मत्तता नहीं होती है और समताभाव का प्रचार होता रहता है। जितनी भी सांसारिक अवस्थाएँ हैं उसका मूलकारण कर्मों का उदय रूप विचारना व अपने को कर्मोदय से भिन्न अनुभव करना विपाक विचय धर्मध्यान है।

(4) **संस्थान विचय**-इस लोक का स्वरूप व आकार विचारना या यह सोचना कि यह लोक छह द्रव्यों का समुदाय रूप है। द्रव्यों का स्वरूप निश्चयनय से व व्यवहारनय से विचारना तथा आत्मा का असंख्यात प्रदेशी आकार विचारना व इसका असली स्वरूप ज्ञाता-दृष्टा आनन्दमयी है-ऐसा मनन करना संस्थान विचय धर्मध्यान है।

इस तरह धर्मध्यान रूप तप का विचार चञ्चलता रूप होने से बन्ध ही का कारण है, इसलिए ज्ञानी जीव इस विचार से अपने मन को हटाता है और एक निज आत्मा की ही तरफ सन्मुख होता है, पाँच इन्द्रिय व मन के विचारों को छोड़ता है, आत्मा में ही आत्मा को विराजमान करता है, तब एकाएक स्वानुभव झलक जाता है। स्वानुभव अमृतमयी सागर है। जब यह सागर आत्मा की भूमि में बहने लगता है तब उसके स्पर्शमात्र से जो शान्ति मिलती है, वह वचन अगोचर है। जब कोई उसमें अवगाहन करता है व उसके अमृत का पान करता है तब जो अपूर्व सुख होता है वह विचार में भी नहीं आ सकता।

33- पिण्डस्थादि चार ध्यान

एक ज्ञानी आत्मा आत्म-शान्ति के लाभ के लिए स्वानुभव रूपी उपवन में क्रीड़ा करता है। भेदविज्ञान के विवेक से आत्मा के अतिरिक्त सर्व पदार्थों से उदास हो जाता है। केवल एक आत्मा ही में विहार करने लगता है, परन्तु वह स्वानुभव ही महात्मा को होना सम्भव है जिसके भीतर सम्यग्दर्शन रूपी रत्न का प्रकाश हो गया है। सात तत्त्वों के मनन से ही यह रत्न झलकता है।

निर्जरा तत्त्व का विचार करते हुए ध्यान के ऊपर मनन किया जाता है तो प्रगट होता है कि ध्यान का अभ्यास उसी तरह करना चाहिए जिस तरह शारीरिक व्यायाम का अभ्यास किया जाता है। इसका अभ्यास आत्मध्यान में प्रवीण गुरु की सङ्गति में भली प्रकार हो सकता है। पिण्डस्थादि चार ध्यान के मार्ग भी ध्यान के साधन हैं। शरीर में स्थित आत्मा का ध्यान करना **पिण्डस्थ ध्यान** है। इसकी **पाँच धारणाएँ** हैं—

पार्थिवी धारणा में अपने को मध्य लोक में क्षीर समुद्र के मध्य जम्बूद्वीप समान कमल के बीच सुमेरु पर्वत के ऊपर स्फटिक सिंहासन पर बैठा विचारे कि मैं कर्म-ईंधन जलाने को बैठा हूँ। **आग्नेय धारणा** में अपने शरीर के चारों तरफ अग्नि का यन्त्र त्रिकोण बना ले, जो बाईस अक्षरों से वेष्टित हो। भीतर नाभि स्थान में सोलह स्वर वेष्टित कमल के मध्य ह्रीं मन्त्र से अग्नि की ज्वाला निकलती हुई सोचे जो हृदयस्थ अधोमुख आठ कर्म रूपी कमल को जला रही है। बाहर का त्रिकोण शरीर को जला रहा है। सर्व शरीर व कर्म जलकर रज बन रहे हैं। **पवन धारणा** में अपने चारों तरफ बहती पवन को रज उड़ाती हुई देखे। **जल धारणा** में अपने ऊपर मेघों से जल की

धारा पड़ती हुई आत्मा को स्वच्छ करती हुई विचारे। तत्त्वरूपवती धारणा में आत्मा को सिद्ध सम शुद्ध देखे। पदस्थ ध्यान में किसी पद को विराजमान करके उसके द्वारा शुद्ध वस्तु का ध्यान करे। रूपस्थ ध्यान में अरिहन्त के स्वरूप का व किसी मूर्ति का ध्यान करके शुद्ध आत्मा को ध्यावे। रूपातीत ध्यान में एकाएक सिद्धात्मा का ध्यान करे। इन चार ध्यानों के विचारों का विकल्प भी बन्ध का कारण है— ऐसा जानकर ज्ञानी निर्बन्ध, निर्विकल्प, परम शुद्ध अपनी ही आत्मा के उपवन में क्रीड़ा करने लगता है। जब किसी गुण या पर्याय में स्थिर हो जाता है, तब स्वानुभव प्रगट हो जाता है और तब जो अद्भुत आनन्द का लाभ होता है, वह केवल स्वसंवेदनगम्य है।

34- मोक्षतत्त्व विचार (Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा निज आत्मिक रस के पान हेतु भेदविज्ञान के प्रताप से जैसे कूड़े-करकट के ढेर में से रतन को निकालते हैं वैसे पुद्गल के सूक्ष्म तथा स्थूल स्कंधों के मध्य में दबे हुए आत्मा रूपी रत्न को निकालता है और उसका निरीक्षण-परीक्षण बार-बार करके उस आत्मा की सुन्दरता में जब आसक्त हो जाता है तब स्वानुभव को जागृत कर लेता है और उसी में विश्राम करता है। परन्तु इस प्रकार की शक्ति उसी महात्मा को प्राप्त होती है जिसको सम्यग्दर्शन का लाभ हो गया है। इसी अपूर्व लाभ के हेतु जीवादि सात तत्त्वों का मनन उपयोगी है।

मोक्ष तत्त्व को विचारते हुए यह ज्ञानी समझता है कि जब कर्मवर्गणाओं के आस्रव और बन्ध के कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग का बिल्कुल निरोध हो जाता है तब नवीन बंध का होना रुक जाता है। आत्मध्यानमयी धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान

के प्रताप से प्रज्वलित होने वाली वीतरागता की अग्नि से जब सर्व पूर्वबद्ध कर्म जल जाते हैं, उनकी कर्मत्वशक्ति नष्ट हो जाती है, तब कर्मोदय से संयोग में आने वाले तथा तिष्ठने वाले तैजस शरीर और औदारिक शरीर भी गिर पड़ते हैं। एक मानव ही मोक्षतत्त्व का अधिकारी हो सकता है। जब मानव की आत्मा में से तीनों ही शरीर बिल्कुल छूट जाते हैं तब यह आत्मा बिल्कुल अकेला अपनी ही शुद्ध सत्ता में प्रकाशमान वैसे ही झलकता है जैसे मेघ रहित सूर्य चमकता है कमल रहित रत्न झलकता है वा कीच रहित जल चमकता है या रंग रहित श्वेत वस्त्र शोभता है।

मुक्ति प्राप्त आत्मा स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करके लोकाग्र में अनन्त काल के लिए अपने ही स्वरूप में रमण करता हुआ निजानन्द का स्वाद लेता है पर यह विचार भी बन्धकारक है। अतएव ज्ञानी इस विचार की तरङ्गावली को बाधक समझकर निज स्वरूप में निश्चल निस्तरङ्ग समुद्रवत् एकाग्र हो जाता है तब ही स्वानुभव को पाता है। उस अनिर्वचनीय दशा में जिस आनन्द का भोग होता है उसे कोई प्रकाशित नहीं कर सकता।

35- सात तत्त्वों में सार (V.Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा षट्‌रसों से तृप्ति न पाकर किसी ऐसे रस के पान की खोज में है जिसके पीने से यह जीवन अजर-अमर हो जावे और फिर असार संसार में जन्म-मरण न करना पड़े। वह रस उसी को मिलता है जो स्वानुभव की कला को प्राप्त कर लेता है। स्वानुभव का लाभ तब ही हो सकता है जब भेदविज्ञान के द्वारा अपनी ही आत्मा की मूल सत्ता को सर्व अन्य सत्ताओं से भिन्न तथा परम शुद्ध, निर्विकार, ज्ञान चेतनामय पहिचाना जाय। यद्यपि शास्त्रों के पढ़ने से

ज्ञान होता है परन्तु भेदविज्ञान का लाभ तब ही होता है जब आत्मा का सतत विवेकपूर्वक मनन किया जावे। जीवादि सात तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करके उनके भीतर प्रथम व्यवहारनय से यह विचारने की जरूरत है कि कौन-कौन से तत्त्व उपादेय हैं व कौन-कौन से तत्त्व हेय हैं। जिन तत्त्वों से आत्मा परमात्मा पद पर जा सके वे तत्त्व ग्रहण करने योग्य हैं और शेष त्यागने योग्य हैं। सात तत्त्वों में से जीव, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष तत्त्व उपादेय हैं और अजीव, आस्रव व बन्ध हेय हैं।

जब निश्चयनय से विचार किया जाता है तो वे सातों ही तत्त्व जीव और पुद्गल से रचे हुए हैं। आत्मा और कर्मों के सम्बन्ध की अपेक्षा ही आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष तत्त्व हैं। जैसे-खोया और शक्कर दो चीजों को लेकर पाँच प्रकार की मिठाई तैयार की जावे और उनका भिन्न-भिन्न नाम गुलाबजामन, लड्डू, बर्फी आदि रख दिया जावे, वैसे ही ये आस्रवादि तत्त्व जीव पुद्गल से बने हैं। तब इन दो में कौन उपादेय व कौन हेय हैं? विचार करने से झलकता है कि एक शुद्ध जीवतत्त्व ग्रहण व ध्यान करने योग्य है जबकि पुद्गल हेय है। पुद्गल में ज्ञानावरणादि आठ कर्म, शरीरादि नोकर्म और रागद्वेषादि भावकर्म सर्व गर्भित हैं। इसलिए यही मनन करना चाहिए कि एक निज आत्मा का निज स्वभाव ही उपादेय है।

इस प्रकार विकल्पात्मक विचार करने से भी बन्ध ही होता है। यह विचार भी बन्ध का मार्ग है। तब ज्ञानी इसे भी त्याग कर निर्विकल्प परम समाधि को जागृत करने के लिए अपनी ही शुद्ध आत्मा की तरफ जाता है। उपयोग को निज में ही एकाग्र करता है। ध्यान का धारावाही स्रोत बहाता है और उस स्रोत के स्वानुभव रूप अमृत का पान करता है तब वह जो अद्भुत आत्मानन्द पाता है वह

मात्र अनुभवगम्य है। मन भी उसके आनन्द का पता नहीं पा सकता है, केवल उसकी प्रशंसा का ही विकल्प कर सकता है।

36- जीवाजीव भेद विचार (Imp.)

ज्ञानी आत्मा स्वानुभव का रसिक होता है। यह स्वानुभव ही वास्तव में मोक्षमार्ग है, यही रत्नत्रय की एकता रूप है, इसी से ही स्वात्मानन्द का लाभ होता है, यही वीतरागता पूर्ण ध्यान की अग्नि का प्रकाश करता है जिससे कर्मों की निर्जरा होती है। जीवन को सुख-शान्ति देने का मुख्य उपाय स्वानुभव है। अपनी आत्मा के ही प्रदेशों में रमना और पुद्गल के द्रव्य-गुण-पर्याय से वैराग्यभाव होना स्वानुभव का उपाय है। यह स्वानुभव उस ही महात्मा को होता है जिसको सम्यग्दर्शन का लाभ है।

सम्यग्दर्शन गुण की प्रच्छादक जो मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी कषाय हैं उनके दमन का उपाय निश्चयनय से जीवादि सात तत्त्वों को जानकर भेदविज्ञान का मनन है। जीव और अजीव इन दो तत्त्वों के मेल से ही शेष आस्रवादि पाँच तत्त्वों की संज्ञाएँ प्रसिद्ध होती हैं। उनमें से जीव ही उपादेय है, अजीव हेय है-ऐसा मनन करना आवश्यक है। मैं कर्मों से भिन्न हूँ, ज्ञानावरणादि कर्म कर्मवर्गणाओं से बने हैं। कर्मवर्गणाएँ सूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध हैं। उनके उदय से ही राग-द्वेषादि भावकर्म की कलुषता प्रगट होती है। उन्हीं के उदय से ही शरीरादि बाहरी पदार्थों का संयोग शुभ व अशुभ होता है।

जब कर्म का सारा प्रपञ्च मेरी आत्मा के स्वभाव से जुदा है तब कर्म के उदय का प्रपञ्च मुझसे जुदा है। मेरी सम्पत्ति वही है जो मेरे साथ सदा ध्रुव रहती है। वे हैं मेरे ही शुद्ध गुण जिनका एक अखण्ड समुदायरूप मैं आत्मद्रव्य हूँ। जगत की भौतिक सम्पत्ति से, अहमिन्द्र

चक्रवर्ती आदि की विभूतियों से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। मेरा नमूना परमात्मा श्री सिद्ध भगवान है। जैसा उनका स्वभाव है वैसा ही मेरी आत्मा का स्वभाव है।

यद्यपि मैं गुणों का धारी द्रव्य हूँ तथापि मैं उन गुणों का एक अभेद पिण्ड हूँ। जैसे बर्तन में फल रक्खें हों वैसा मेरा और गुणों का सम्बन्ध नहीं है किन्तु एक बिल्कुल अमिट अभेद संयोग है जिसको तादात्म्य अनादि सम्बन्ध कहते हैं। मेरी सत्ता भी सर्व अन्य आत्माओं से, सर्व अणु व स्कन्ध पुद्गलों से, धर्मास्तिकाय से, अधर्मास्तिकाय से, आकाश से व काल द्रव्य के असंख्यात अणुओं से निराली है।

मैं अब जिस तरह अपने आत्म द्रव्य को शुद्ध, निर्विकार देखता हूँ वैसा ही लोक की सर्व ही आत्माओं को शुद्ध और निर्विकार देखता हूँ। न मेरा कोई मित्र व बन्धु है, न कोई मेरा शत्रु है। सब मेरे ही समान हैं। जितने गुण मेरे में हैं उतने ही गुण सबमें हैं। व्यक्तिपने की अपेक्षा भिन्नता न हो तो सबका अनुभव एक हो सो नहीं है। सर्व ही अपनी-अपनी ज्ञान चेतना के भीतर प्रकाश कर रहे हैं। इस तरह का विचार भी बन्ध का कारक है। अतएव तत्त्वज्ञानी इस विचार को भी समेटता है और थिरता करके अपने ही ज्ञान भावरूपी सागर में आप ही गोते लगाता हुआ उसी में समा जाता है। तब मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से उपयोग हट जाता है, तब ही स्वानुभव का प्रकाश होता है। यही स्वानुभव अनिर्वचनीय आनन्द का स्रोत है।

37- सम्यग्दर्शन का प्रकाश (V.Nice)

एक ज्ञानी आत्मा भेदविज्ञान के बार-बार मनन से करणलब्धि के प्रताप से सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके परम सुखी हो गया है मानो यह भवसागर के पार ही हो गया। जिसको बम्बई जाने का टिकट

मिल जावे और वह बम्बई जाने वाली गाड़ी में बैठ जावे तो उसको यह पक्का भरोसा हो जाता है कि मैं तो अब बम्बई पहुँच ही गया। सम्यग्दर्शन का लाभ होना मानो मुक्तिपुरी जाने का टिकट मिल जाना है। वह इस टिकट को पाकर स्वानुभव की गाड़ी पर सवार हो जाता है। यह गाड़ी सीधी मोक्षपुरी को जाती है। इस कारण सम्यक्त्वी होने के समान कोई भाग्यशालीपना नहीं है।

सम्यक्त्वी उस चक्रवर्ती से अच्छा है, उस मुनि से भी अच्छा है जिसको सम्यक्त्व रत्न का लाभ नहीं है। वह बड़ा धनशाली है, बड़ा ही सुखी है। इन्द्र-धरणेन्द्र की सम्पदा उसको तुच्छ भासती है। उसके दिल में मुक्तिसुन्दरी की मनोहर छवि निरन्तर वास करती है। उसके पास पूर्व बाँधे हुए कर्मों के बहुत से जाल मौजूद रहते हैं जिससे वह उन जालों में फँस जाता है, परन्तु उसके भीतर से मुक्तिसुन्दरी का गाढ़ स्नेह कभी नहीं जाता। वह जब कभी अवसर पाता है तब अपने उपयोग को और कर्मों से हटा लेता है और उसे मुक्तिसुन्दरी के रूप में लगा देता है और बस, स्वानुभव का लाभ प्राप्त कर लेता है।

जब स्वानुभव होता है तब मन का चिन्तवन बन्द हो जाता है, वचनों का प्रवाह रुक जाता है और शरीर का हलन-चलन अटक जाता है। मन, वचन, काय तीनों ही आत्मा के स्वानुभव के स्वरूप के विरोधी हैं। ये तीनों ही आत्मा के विरुद्ध पुद्गल द्रव्य की बनी हुई अवस्थाएँ हैं अतएव स्वानुभव में इनका कोई काम नहीं। स्वानुभव को स्वसंवेदन ज्ञान भी कहते हैं इसीलिए कि वहाँ अपनी आत्मा के द्वारा ही अपनी आत्मा का वेदन या भोग किया जाता है।

स्वानुभव में इतना आनन्दामृत भरा रहता है कि उसका जितना भी पान करो पानकर्ता को बड़ा ही सन्तोष होता है परन्तु यह अमृत

कुछ भी कम नहीं होता है। जो अमर बनावे उसी को अमृत कहते हैं। स्वानुभव के भीतर भरा हुआ आत्मानन्द ही सच्चा अमृत है जो भवभ्रमणकारी कर्मों का बन्धन काटता है और आत्मा को अजर अमर व आवागमन रहित कर देता है।

स्वानुभव रूपी गुफा में सिद्धों का निवास है। स्वानुभव रूपी सिंहासन पर अरिहन्तों का निवास है। स्वानुभव रूपी आश्रम में साधुओं का निवास है। स्वानुभव रूपी एकान्त आसन पर श्रावकों का निवास है। स्वानुभव रूपी चटाई पर सम्यग्दृष्टि बैठते हैं। स्वानुभव का शरण ही परम शरण है। यही परम उपकारी मित्र है। यह स्वानुभव नारकी को भी तीर्थङ्कर बना देता है। स्वानुभव से एक महात्मा शीघ्र परमात्मा हो जाता है। धन्य हैं वे सज्जन जो स्वानुभव का लाभ करके अपने को जीवन्मुक्त समझते हैं।

38- 'सोऽहं' का विचार (V.Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व सङ्कल्प-विकल्पों को त्याग कर एकान्त में बैठ जाता है और विचारता है कि ऐसा क्या प्रयत्न करूँ कि जिससे ऐसी अवस्था में पहुँच जाऊँ जहाँ कोई सांसारिक चिन्ता न सतावे। जहाँ न राग हो, न द्वेष हो, न मोह हो, न क्रोध हो, न मान हो, न माया हो, न लोभ हो, न मन का हलन-चलन हो, न वचन की फिरन हो, न काय की फिरन हो, न कुछ विचार हो, न कुछ मनन हो, न कुछ करना हो और न कुछ भोगना हो। वह अवस्था एक अपनी ही आत्मा का सारभूत स्वभाव है। इसी स्वभाव में जमना ही स्वानुभव है।

इस स्वानुभव के लिए शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि को सामने रखकर आत्म-पदार्थ को देखना चाहिए और व्यवहारदृष्टि को बिल्कुल बन्द कर देना चाहिए। शुद्ध निश्चय की दृष्टि को ही द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। द्रव्य का मूल स्वभाव इसी दृष्टि से दिखलायी पड़ता है। मूल

स्वभाव से यह आत्मा मात्र आत्मा रूप ही है, उसका वर्णन वास्तव में हो नहीं सकता। उसका मूल स्वभाव मात्र अनुभवगम्य है। यदि स्वभाव का कथन कुछ किया भी जावे तो अपने सामने श्री सिद्ध भगवान को विराजमान करके उन्हीं के गुणों का मनन कर जाना चाहिए। जो सिद्ध हैं सो मैं हूँ, जो मैं हूँ सो सिद्ध हैं। सिद्ध भगवान ही मेरी आत्मा का नमूना है।

सिद्धों में न आठ कर्मों का संयोग है, न रागादि कोई भावकर्म हैं, न शरीरादि कोई नोकर्म हैं। वे परम शुद्ध आत्मा का आदर्श हैं। सिद्ध भगवान ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व, सुख आदि शुद्ध गुणों के समुदाय हैं। वे शुद्ध ज्ञानचेतना के स्वामी हैं। उनमें न कर्मचेतना है, न कर्मफल चेतना है। उनके असंख्यात प्रदेश बिल्कुल शुद्ध हैं और एक-एक प्रदेश में ऐसी शक्ति है कि जितने वर्तमान में दृश्य पदार्थ हैं उनके समान करोड़ों भी और ऐसे पदार्थों के समूह हों तो वे भी उसमें झलक जावें। सिद्ध स्वभाव को वचनों से कहने का प्रयास करना हाथों से आकाश को मापना है। सिद्धों के स्वरूप को जानने का उपाय वास्तव में अपनी ही आत्मा को जानना है।

आत्मा को जानने का भी उपाय बड़ा ही दुष्कर है। बस एक ही उपाय है कि जो कुछ मन व इन्द्रियों के गोचर आने वाली पर्यायें हैं वे सब आत्मा में नहीं हैं। न वहाँ आठ कर्म हैं, न उनके एक सौ अड़तालीस भेद हैं, न उनके बन्ध के कारण भाव हैं और न उनके विपाक से होने वाली अवस्थाएँ हैं। सारा संसार व उसकी चार गतियों की सर्व अवस्थाएँ आठ कर्मों का नाटक है। जब आठ कर्म ही आत्मा में नहीं तब सर्व संसार की अवस्थाएँ भी आत्मा में नहीं। आत्मा को जानने का उपाय यही है कि सर्व संसार की पर्यायों से उपयोग को रोका जावे और अपने आपमें ही उसको लगाया जावे। पाँच

इन्द्रियों और मन से हटाना ही उसे अपने आप में जमाना है। जो योगी बिल्कुल एकान्त में ठहर कर अपनी आत्मा के भीतर आप ही तन्मय हो जाता है, वह एक ऐसी अनिर्वचनीय दशा को पहुँच जाता है जिसको कोई मन से भी सोच नहीं सकता है। यही वह स्वानुभव का महान आनन्दमय बगीचा है जिसमें ज्ञानी जीव निरन्तर विहार करके जिस अपूर्व सुख शान्ति का लाभ करता है उसकी महिमा आश्चर्यकारी है। यही स्वानुभव मोक्षपथ है, यही मोक्ष है।

39- शुद्ध निश्चयनय (Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा संसार के दुःखमय विकट मार्ग से उकताकर ऐसा उपाय ढूँढ़ता है जिससे बिना किसी परावलम्बन के सच्ची सुख-शान्ति का लाभ हो जावे। भेदविज्ञान के प्रताप से जब उसको इस बात का निश्चय होता है कि यह आत्मा स्वभाव से परमात्मा के समान ज्ञाता-दृष्टा आनन्दमयी वीतराग है, शेष सर्व संयोग पाप-पुण्य कर्मों के उदय का खेल है व सच्ची सुख शान्ति मेरी ही आत्मा में है, तब वह अपने उपयोग को सर्व तरफ से रोककर उपयोग के स्वामी पर अर्थात् अपनी ही आत्मा पर जोड़ता है। अपने उपयोग का अपनी ही आत्मा की भूमिका में जम जाना ही स्वानुभव है। स्वानुभव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता को कहते हैं। यही मोक्षमार्ग है। इस पर चलना ही स्वानुभवरूप मोक्ष का साधक है।

यह जगत भिन्न-भिन्न द्रव्यों का समुदाय है, तो भी एक द्रव्य की सत्ता दूसरे द्रव्य की सत्ता से भिन्न है। आकाश के एक प्रदेश मात्र स्थान पर देखा जावे तो वहाँ जीव हैं, पुद्गल हैं, धर्म व अधर्म द्रव्य हैं, काल व आकाश हैं। वहाँ जीव अनेक हो सकते हैं, पुद्गल अनेक हो सकते हैं, कालाणु एक ही मिलेगा, धर्म व अधर्म व आकाश का

एक-एक ही प्रदेश होगा। जीव की अवगाहना घनांगुल के असंख्यातवें भाग से कम नहीं होती है इसलिए एक प्रदेश मात्र स्थान पर अनेक जीवों के प्रदेशों का भाग समझना चाहिए। पुद्गल के अनेक अणु व अनेक सूक्ष्म स्कन्ध एक प्रदेश मात्र स्थान पर रह सकते हैं। ऐसी ही जगत की स्थिति होने पर भी हर एक जीव हर एक जीव से व हर एक पुद्गल परमाणु से व शेष द्रव्यों से सर्वथा जुदा है। भेदविज्ञान की दृष्टि से देखते हुए हर एक जीव शुद्ध ही दिखता है। इस दृष्टि से देखते हुए राग-द्वेष का अभाव हो जाता है और समताभाव जागृत हो जाता है।

समताभाव उस चन्द्रमा की चाँदनी के समान है जो सर्व में फैली हुई भी कभी विकृत नहीं होती है। सूर्य की धूप भी नीचे-ऊँचे, मैले उजले और छोटे-बड़े सब प्रकार के पदार्थों पर फैलती है, किसी से राग-द्वेष भाव नहीं करती है। ऐसी समभाव की दृष्टि शुद्ध निश्चयनय के प्रताप से साधक को प्राप्त हो जाती है। इस दृष्टि से देखते हुए जैसा अपना आत्मा है वैसा ही अन्य का आत्मा दिखता है। व्यवहारनय की दृष्टि भेदभाव को देखती है। इस दृष्टि को गौण करना ही स्वानुभव के पाने का उपाय है।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी महात्मा व्यवहार में जगत का काम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के कर्तव्य अनुसार करता हुआ भी इस सब कर्तव्य को पुद्गल द्रव्य का विकार समझता है और अपनी आत्मा को पर की पर्याय का अकर्ता-अभोक्ता समझता है। हर एक द्रव्य अपने ही गुणों में परिणमन करता रहता है-यह वस्तु स्वभाव है इसीलिए यह ज्ञानी अपने ही शुद्ध गुणों में रमण करता हुआ जब किसी एक गुण या पर्याय या द्रव्य पर थिर हो जाता है तब इसके भीतर स्वानुभव का प्रकाश हो जाता है। यही निजानन्द की प्राप्ति का स्रोत है।

40- ज्ञानचेतनामयी भोग (Imp.)

ज्ञाता-दृष्टा आत्मा सर्व विकल्प जालों को त्याग कर एकान्त में बैठकर स्वानुभव के लिए भेदविज्ञान की शरण ग्रहण करता है। भेदविज्ञान के प्रताप से अपनी आत्मा सर्व पर पदार्थों से भिन्न दिखती है अतः अपने उपयोग को अपनी आत्मा के स्वभाव में रमाने की जरूरत है। जिस समय उपयोग को पाँचों इन्द्रियों के विषयों से व मन के विकल्पों से हटा लिया जाता है तब ही आत्मा की तरफ उपयोग झुक जाता है और आत्मा का अनुभव हो जाता है। जीवन में सुख-शान्ति पाने का उपाय एक आत्मा की प्रतीति रखकर आत्मा के आनन्द का स्वाद लेना है। कर्म चेतना व कर्मफल चेतना का त्याग ही ज्ञान चेतना का लाभ कराता है।

मैं निश्चय से न शुभकर्म का कर्ता हूँ, न अशुभकर्म का कर्ता हूँ। कर्तापना मेरा स्वभाव ही नहीं है। इस तरह समझकर अपने आपको न ज्ञानावरणादि कर्म का, न घटपट आदि का कर्ता माने, न राग-द्वेष-मोहादि कुभावों का कर्ता माने। ये सब भाव व कर्म पुद्गल कर्म के उदय से होते हैं। संसारी जीवों में जो अशुद्धोपयोग होता है वा मन, वचन, काय की क्रिया होती हैं वे ही सांसारिक कार्यों के करने में निमित्त कारण है। शुद्धात्मा, पर परिणति व पर की अवस्था न उपादान कारण है, न निमित्त कारण है। उपयोग और योग जो निमित्त कारण हैं, वे भी कर्म के उदय से काम करते हैं, इसलिए मैं निश्चय से कर्म चेतना धारी नहीं हूँ। इसी तरह मैं कर्मफल का भोक्ता भी नहीं हूँ।

निश्चय से न मैं कर्मों का बाँधने वाला हूँ न उनका फल भोगने वाला हूँ। मैं ज्ञानावरणीय कर्म से भिन्न हूँ इससे अज्ञान का भोक्ता

नहीं। मैं दर्शनावरणीय कर्म से भिन्न हूँ, इससे अदर्शन का भोक्ता नहीं। मैं मोहनीय कर्म से भिन्न हूँ, इससे राग, द्वेष का व मैं सुखी, मैं दुःखी इस भाव का भोक्ता नहीं। मैं अन्तराय कर्म से भिन्न हूँ, इससे निर्बलता का भोक्ता नहीं। मैं आयुर्कर्म से भिन्न हूँ, इससे आयु के फल से शरीर में कैद का भोक्ता नहीं। मैं नाम कर्म से भिन्न हूँ, इससे नाम के उदय से प्राप्त शरीरों की रचना का भोक्ता नहीं। मैं गोत्रकर्म से भिन्न हूँ, इसलिए उसके फल से प्राप्त ऊँच-नीच कुलों का भोक्ता नहीं। मैं वेदनीय कर्म से भिन्न हूँ, इससे साताकारी व असाताकारी पदार्थों का भोक्ता नहीं। इस तरह मैं कर्मफल चेतना का भोक्ता नहीं। मैं ज्ञान चेतनाधारी हूँ और अपने शुद्ध ज्ञानानन्द भाव का ही भोक्ता हूँ इससे मैं उसी निज भाव में आसक्त होकर अपने स्वरूप का ही स्वाद लेता हुआ स्वानुभव का रमणकर्ता हो जाता हूँ।

41- षोडशकारण भावना (Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा आत्मिक रसपान करने के लिए निज आत्मा के स्वभाव को लक्ष्य में लेता है और अपना उपयोग निज आत्मा से भिन्न सर्व पर वस्तुओं से हटा लेता है। वह जब आत्माराम में प्रवेश करता है और उसके मनोहर गुण रूपी वृक्षों पर दृष्टिपात करता है, तब उसका मोह घटता जाता है। वह उसके गुणों पर आसक्त हो जाता है। जब उसका उपयोग एकतानता से आत्माराम में जम जाता है तब ही स्वानुभव पैदा हो जाता है। स्वानुभव अमृतरस से भरा हुआ समुद्र है। उस रस के सामने जगत के कोई स्वाद स्वाद नहीं हैं। बड़े-बड़े महाराजा सम्यग्दृष्टि इसी रस के रसिक बनकर महात्मा पदवी को पाते हैं।

स्वानुभव मोक्ष का द्वार खोल देता है। स्वानुभव अतीन्द्रिय

आनन्द को प्रदान करता है। **स्वानुभव वह शक्ति है** जो चेतन को अचेतन की तरफ जाने से रोकती है। **स्वानुभव एक ऐसा मित्र है** जो सर्व शोक से, सर्व आकुलता से बचा देता है और संसार की दुःखमय कल्पनाओं को मिटाकर ज्ञानानन्द को प्रदान करता है। **स्वानुभव वह हवाई विमान है** जो सीधा मोक्षपुरी में जाता है। **स्वानुभव वह विद्या है** जो विद्याधरों को भी अप्राप्य है। जो सर्व ही परभावों से उदास होकर आप आपमें आप से तिष्ठने का अभ्यास कर लेते हैं उनको ही इस विद्या का लाभ होता है। यह वह अमोघ विद्या है जिसका कभी नाश नहीं होता है।

स्वानुभव ही **दर्शनविशुद्धि** है। जहाँ आत्मा का दृढ़ श्रद्धान होता है वहीं स्वानुभव जागृत होता है। जहाँ स्वानुभव है वहीं यथार्थ धर्म की **विनय** है। जहाँ स्वानुभव है वहीं निर्दोष **शील स्वभाव** है, वहीं निर्दोष व्रत है। जहाँ स्वानुभव है वहीं निश्चय **ज्ञानोपयोग** है, वहीं सच्चा **संवेग** है। जहाँ स्वानुभव है वहीं सच्चा **त्याग** भाव है। वहाँ आत्मा अपने से अपने को आनन्द रस का दान करता है। जहाँ स्वानुभव है वहीं सच्चा **तप** है, जहाँ आत्मा आत्मा में तपे वहीं तप है। स्वानुभव में तिष्ठना ही **साधु का समाधान** करना है। स्वानुभव ही सच्चा **वैयावृत्य** है जिससे आत्मा पुष्ट होता है और उसका भव का खेद मिटता है।

स्वानुभव ही श्री **अरिहन्त भक्ति** है। अरिहन्तपना अपनी ही आत्मा के पास है। आत्मा ही आचार्य है, आत्मा ही उपाध्याय है, स्वानुभव ही **आचार्य व उपाध्याय की भक्ति** है। स्वानुभव ही **जिनवाणी की निश्चय भक्ति** है। स्वानुभव ही **आवश्यक कर्म** है, स्वतन्त्र कर्म है। स्वानुभव करना ही आत्मा की **प्रभावना** है। स्वानुभव ही सच्चा **वात्सल्य** भाव है। जो स्वानुभव करता है वह यथार्थ रूप

से षोडशकारण भावनाओं को भाता है। स्वानुभवकर्ता ही वास्तव में तीर्थङ्कर होकर सिद्ध पद पाता है।

42- प्यारी उत्तम क्षमा (V.Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा भेदविज्ञान के प्रताप से अपनी सम्पत्ति को अपनी समझता है और पर की सम्पत्ति को पर की समझता है। जड़ व चेतन-दोनों साझीदार बनकर संसार की दुकान चला रहे हैं। इस दुकान में विशेषता यह है कि जड़ लाभ व हानि का जिम्मेदार नहीं है। लाभ व हानि चेतन को ही उठानी पड़ती है। वह केवल कौतूहलवश जड़ के साथ सारा व्यापार करता है और जड़ का संयोग ऐसा जरूरी है कि उसके बिना एक अंश भी सांसारिक अवस्था जीव की नहीं हो सकती है।

पुद्गल की सङ्गति से शरीर है, योगों का परिणमन है, कषायों का उदय है, कर्मों का अस्तित्व है और कर्मों का बन्ध है। शरीर की सहायता से ही तप का साधन है, ध्यान का अभ्यास है और मोक्ष का साधन है। शरीर के संयोग बिना न पाप है, न पुण्य है और न ही शुद्धोपयोग का साधन है। जितना कुछ बन्ध व मोक्ष का मार्ग है वह सब जड़-चेतन के संयोग से है तथापि लाभ व हानि का अधिकारी चेतना गुणधारी जीव है। भेदविज्ञान यह बताता है कि यदि जड़ का संयोग बिल्कुल आत्मा से भिन्न समझा जावे, देखा जावे तो ऐसा दिखेगा कि आत्मा परम शुद्ध है, निर्विकार है, परमात्मा रूप है, ज्ञाता-दृष्टा है। वही ईश्वर है, वही आनन्दमय तत्त्व है। जहाँ यह प्रतीति है, जहाँ यह ज्ञान है वहाँ ही जब उपयोग जड़ से हटाकर आत्मस्थ किया जाता है, तब एकाएक स्वानुभव पैदा हो जाता है।

स्वानुभव में आत्मा के भीतर यद्यपि अनुभवकर्ता को एक अद्वैतभाव दिखता है तथापि एक विचार करने वाले मन को यह

दिखता है कि वहाँ परम प्यारी परमोपकारिणी उत्तम क्षमा देवी परम प्रेम से विराज रही है। यह उत्तम क्षमा देवी इस आत्माराम देव की परम प्यारी महिला है। इसका और इस आत्मा का अमिट अखण्ड संयोग है जिसे तादात्म्य सम्बन्ध कहते हैं। उत्तम क्षमा चेतन को छोड़ती नहीं, चेतन उत्तम क्षमा को छोड़ता नहीं। यदि कदापि कोई क्रोध भाव रूप शत्रु आ जावे और दोनों को विकारी कर दे तो दोनों ही को ऐसा ही कष्ट होता है जैसे चकवे को चकवी के वियोग से परस्पर होता है।

उत्तम क्षमा के साथ में इस चेतन प्रभु को मेरुवत् निश्चल रहने की शक्ति रहती है, यदि वज्रमयी पहाड़ भी आत्मा पर टूट पड़े तो भी बाल बांका नहीं होता है। उत्तम क्षमा के संयोग से आत्माराम अनन्त बल को भोगता है, अनन्त सुख को भोगता है और जिस अद्भुत आनन्दामृत का पान करता है उसका विवेचन किसी भी तरह नहीं हो सकता है। धन्य हैं वे वीरात्मा जो इस उत्तम क्षमा के प्रेमी होकर परम सुख का भोग करके परम सन्तोषी हो जाते हैं।

43- अपूर्व दशलक्षण धर्म (V.Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जालों से मुक्त होकर भेदविज्ञान के द्वारा आत्मा और अनात्मा को भिन्न-भिन्न विचारता हुआ जब आत्मा पर ही एकाग्रता से आरूढ़ हो जाता है तब तुरन्त स्वानुभव को प्राप्त कर लेता है। स्वानुभव ही वह मोक्षमार्ग है जो सीधा मोक्षद्वीप तक चला गया है। इस स्वानुभव को एक प्रकार का पानक या अमृतमयी शरबत कहें तो अत्युक्ति न होगी। जैसे पानक अनेक वस्तुओं के मेल से बनता है वैसे स्वानुभव में अनेक आत्मिक धर्मों का मिश्रण है। उन धर्मों में आनन्द गुण प्रधान है इसलिए आनन्द का स्वाद वैसे ही

अधिक आता है जैसे पानक में मिष्टता मुख्य प्रधान है, मिष्टता का स्वाद अधिक आता है।

इस स्वानुभव रूपी पानक में धर्म के दशलक्षण गर्भित हैं। यहाँ उत्तम क्षमा है क्योंकि स्वानुभव के समय क्रोध भाव का पता भी नहीं चलता है। यदि घोर उपसर्ग भी हो तो भी स्वानुभवकर्ता को वह कुछ भी अपनी स्वरूपरमणता से विचलित नहीं कर सकता। उत्तम मार्दव भी इसमें गर्भित है। यहाँ मान की कठोरता रञ्च मात्र भी नहीं है। यहाँ पर के भीतर अहङ्कार बुद्धि का सर्वथा अभाव है। स्वानुभव में तो आपसे आपका ही ग्रहण है। यह आत्माराम परम कोमल है। उत्तम आर्जव भी यहाँ विद्यमान है क्योंकि स्वानुभव में मायाचार का, कुटिलता का नामोनिशां नहीं है। जो मन कुटिलायी करता है उसका ही यहाँ अभाव है। यहाँ तो पूर्ण सरलता है तब ही स्वानुभव नाम पाता है।

इस स्वानुभव में पूर्ण सन्तोष, उत्तम शुचिता व कृतकृत्यपना है। वहाँ लोभ की मलिनता का रञ्च मात्र भी स्पर्श नहीं है। स्वानुभव में सर्व ओर परम पवित्रता है। परमात्माराम का ही साम्राज्य है। स्वानुभव में उत्तम सत्य का तो बड़ा विशाल झण्डा फहरा रहा है। वहाँ असत्यता का नामोनिशान नहीं है। आत्मा सत्य है, ध्रुव है, उसी में ही यहाँ विश्राम है। यहाँ उत्तम संयम भी शोभायमान है। उस स्वानुभव के समय पाँचों इन्द्रियाँ भी शयन कर रही हैं और मन भी मुरझाया हुआ है। स्वानुभव में आप आपमें तल्लीनता है। मन-वचन-काय का यहाँ भ्रमण नहीं, इनका भ्रमण हो तब प्राणघात हों। यहाँ तो आपका आप में संयमितपना है।

इसी स्वानुभव में उत्तम तप भी है। यहाँ आत्मा अपने ही रत्नत्रय

स्वरूप की अग्नि जलाकर आपको उसमें तपा रहा है। अपनी ही दीप्ति से दीप्तिमान है। यहाँ सर्व प्रकार की इच्छाओं का अभाव है, परम निस्पृह भाव का ही दौरदौरा है। स्वानुभव में **उत्तम त्याग** धर्म भी है। आत्मा अपने ही भण्डार से आत्मानन्द को ग्रहण करके अपने ही आपमें विराजित आत्मा रूपी अतिथि को अपने ही शुद्ध आत्मिक भाव से प्रदान कर रहा है। यह अपूर्व निश्चय दान है। इस दान से सर्व आशाएँ तृप्त हो जाती हैं। इसी स्वानुभव में **उत्तम आकिञ्चन्य** धर्म है। यहाँ न तो परिग्रह है, न मूर्छा है, न ममत्व है, न पर के साथ कोई सम्बन्ध है। यहाँ तो अपनी ढपली व अपना ही राग है। यहाँ आत्मा के सिवाय किन्हीं पुद्गलादि द्रव्यों का प्रवेश नहीं है।

इस स्वानुभव में **उत्तम ब्रह्मचर्य** भी चमक रहा है। यहाँ काम भाव का प्रवेश ही नहीं है। कुशील वर्तन हो ही नहीं सकता है। सिवाय इसके यहाँ परम ब्रह्मस्वरूप निज आपके ही स्वभाव में रमण है, अपूर्व निश्चय ब्रह्मचर्य है। इस तरह उत्तम क्षमादि दशधर्मों के मिश्रण से बना यह स्वानुभव रूपी शरबत है। जो इसका पान करता है वही तृप्त हो जाता है, वही अनुपम सुख-शान्ति को पाता है, उसे सच्चा मोक्षमार्ग मिल जाता है, बेरोकटोक यह प्रज्ञावान इस मार्ग पर चलता हुआ मोक्षनगर की तरफ बढ़ा जा रहा है।

44- तेरह प्रकार चारित्र पूजा (V.Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा श्री जिनेन्द्र समान अपने ही आत्मदेव के सामने बैठकर बड़े भाव से रत्नत्रय के उनतीस अङ्गों से सम्यक्चारित्र के तेरह अङ्गों की पूजा करता है। वह **अहिंसा व्रत** के सम्मानार्थ पूर्ण समता भाव से सना हुआ अर्घ्य चढ़ाता है। जिस समता में यह भावना है कि सर्व जीव निश्चय से समान हैं, हिंसा का भाव भी वहाँ होना

असम्भव है। **सत्यव्रत** के आदर के लिए आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञानरूपी दीपक जलाकर वह आरती उतारता है। **अचौर्य व्रत** के लिए सर्व परभावों से ममता रहित होकर पर परिणति से विरक्तता का निर्मल जल चढ़ाता है। **ब्रह्मचर्य व्रत** के आदर के लिए ब्रह्मभाव में लय होकर परम शीतलता का चन्दन चढ़ाता है। **परिग्रहत्याग व्रत** के सम्मानार्थ निःसंग भाव के अविनाशी अक्षत लेकर बड़े भाव से पूजा करता है।

ईर्यासमिति के लिए यह ज्ञानी अपनी ही आत्मभूमि में इस तरह अप्रमाद भाव से चलता है कि आत्मा के किसी भी गुण का घात नहीं होता है। **भाषासमिति** के लिए यह वचन वर्गणाओं को कष्ट न देकर अपने में स्वयं तल्लीन होकर परिणमन करता है। कभी काम पड़ता है तो 'सोऽहं या ओ३म' की ध्वनि लगाकर अपने मित्र आत्माराम को सम्बोधन करता है। **आदाननिक्षेपण समिति** के लिए यह स्वयं शुद्ध स्वरूप को ग्रहण कर लेता है और सर्व अनात्मभावों को इतनी सावधानी से पटक देता है कि आत्मा के भीतर किञ्चित् भी विकार उत्पन्न नहीं करता है। **एषणासमिति** के लिए यह सर्व सांसारिक आहार को त्यागकर अपने ही आत्मानुभव से उत्पन्न आनन्दामृत का बड़ी ही रुचि से पान करता है। आत्मा स्वयं दातार होकर आत्मा रूपी पात्र को आनन्दामृत का आहारदान करता है। **उत्सर्ग समिति** के लिए इस ज्ञानी ने अपने निर्विकार, शुद्ध स्वरूप को अपने पास रख लिया है, पर के सर्व औदारिक, कार्माण, तैजस शरीर रूप मल को व उनके निमित्त से होने वाले विकारों को छोड़ दिया है एवं पूर्ण पवित्रता धारण कर ली है।

मनोगुप्ति के लिए आत्मा को जब आत्मा द्वारा स्वसंवेदन से जान लिया तब मन के सब सङ्कल्प-विकल्प स्वयं ही छूट गये। **वचनगुप्ति**

के सम्मान के लिए इसने मौनावलम्बन किया है और एक ऐसे आत्मदुर्ग में प्रवेश करके विश्राम किया है जहाँ वचनों के कहने का कभी विकार ही नहीं हो सकता है। कायगुप्ति के सम्मानार्थ यह काय रहित शुद्धात्म प्रदेशों में ही रमण करके उस अकाय को अपनी काय बना लेता है। इस तरह जब यह आत्मा सर्व चिन्ता छोड़कर स्वानुभव में कल्लोल करता है तब स्वयं तेरह प्रकार का चारित्र पालके शुद्धोपयोगी हो जाता है, तब जो अपूर्व आनन्द लाभ करता है उसका वर्णन नहीं हो सकता है।

45- स्वानुभव खड्ग (V.Nice)

एक ज्ञानी आत्मा अपनी आत्मानुभूति देवी के सामने उसको प्रसन्न करने के लिए अपने कर्म रूपी शत्रुओं का संहार कर रहा है। कर्मों के सञ्चय को एकत्रित करके स्वानुभव रूपी खड्ग से उनको मारता है। जितना-जितना वह इन कर्म रूपी शत्रुओं का संहार करता है उतना-उतना इसका स्वानुभव खड्गवत् तीक्ष्ण होता जाता है। स्वानुभव खड्ग का निर्माण किसी दूसरी धातु से नहीं होता है। आत्मा के उपयोग की परिणति जब सर्व पर पदार्थों से हट करके एक अपनी आत्मा ही पर रुकती है तब ही स्वानुभव खड्ग तैयार हो जाता है। इसका बनाने वाला भी वही आत्मा है, और यह खड्ग आत्मा ही की परिणति है।

यह स्वानुभव खड्ग स्वसंवेदन ज्ञान से ही बनता है और इसका चलाना भी आत्मा की परिणति द्वारा ही होता है। इसी खड्ग से अनन्तानुबन्धी कषाय व दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों का क्षय करके यह आत्मा क्षायिक सम्यग्दृष्टि महात्मा होता है। इसी खड्ग से अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम करके एक साधक अणुव्रती होता है। इसी खड्ग की धार से प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम

करके एक साधक साधु होता है। इसी खड्ग से कषायों का बल दबाकर एक भव्य जीव उपशमश्रेणी पर आरूढ़ होता है। इसी स्वानुभव खड्ग से चारित्रमोहनीय की सर्व सेना का विध्वंस करके यह क्षीणमोह यथाख्यात चारित्र का धारक होता है। स्वानुभव खड्ग से ही क्षीणमोही महात्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्म का क्षय करके अरिहन्त परमात्मा केवली जिन हो जाता है। इसी स्वानुभव से अरिहन्त शेष चार अघातिया कर्मों का क्षय करके सिद्धपरमात्मा हो जाता है।

वे सिद्धपरमात्मा परम क्षत्रियत्व का प्रकाश करते हुए सदा ही स्वानुभव की खड्ग लिए रहते हैं जिसके प्रताप से कोई रागादि भाव, कोई कर्म शत्रु व कोई भी पुद्गल व कोई भी चेतनशक्ति उनका पराभव नहीं कर सकती है। सिद्ध भगवान स्वानुभव के आसन पर बैठते हैं, स्वानुभव का भोजनपान करते हैं, स्वानुभव का अमृतमयी स्वाद भोगते हैं, स्वानुभव की गुफा में ही विश्राम करते हैं, स्वानुभूति तिया से वार्तालाप करते हैं, स्वानुभूति में ही रमण करते हैं और स्वानुभव के प्रताप से वे ध्रुवरूप से मुक्ति तिया का संयोग करते रहते हैं। धन्य है स्वानुभव! तू ही मोक्षद्वीप है, तू ही मोक्षद्वीप तक जाने वाला जहाज है, तू ही परम देव है, तेरी ही शरण परम सन्तोषकारक है, जो तेरी शरण लेता है वह सदा ही आत्मानन्द का भोग करता है।

46- अद्भुत स्वानुभव माहात्म्य (V.V.Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विकल्पों की भूमिका को त्यागकर शान्तिसागर में प्रवेश करता है। यह शान्तिसागर अपनी ही आत्मा है जो ज्ञातादृष्टा, अविनाशी, अमूर्तिक, आनन्दमय, परम वीतराग और असंख्यात प्रदेशी अपने शरीर भर में भरी है। इसमें आनन्दामृतमयी

जल भरा है। जो कोई इस अपने ही शान्तिसागर में मग्न हो जाता है वह स्वानुभव को पा लेता है और परमानन्द का भोग करता है।

इस स्वानुभव में न मन का कोई विचार है, न वचनों का प्रयोग है और न काय ही का व्यापार है। मन-वचन-काय से परे होकर जो कोई आप आपमें ठहरता है वह स्वानुभव को पाता है। स्वानुभवकर्ता बड़ा ही रौद्र परिणामी हो जाता है। उसके वीतराग भाव रूपी शस्त्रों से दीर्घकाल से साथ में चले आए हुए कर्म शत्रुओं का संहार कर दिया जाता है। किसी भी शत्रु की ताकत नहीं है जो उसके वीतराग भाव रूपी शस्त्र के सामने ठहर सके। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय चारों ही घातिया कर्म कृश होते-होते बिल्कुल ही लुप्त हो जाते हैं। स्वानुभव में बड़ी शक्ति है। यही कर्मशैल को चूर्ण करने को वज्र के समान है।

स्वानुभव सम्यग्दृष्टि को हाथ लगता है। इसी अमोघ शस्त्र से वह कषायों का शमन व क्षय करता हुआ बड़ा चला जाता है और शीघ्र ही अरिहन्त परमात्मा होकर सिद्ध हो जाता है। स्वानुभव करने वालों को यह विकल्प बिल्कुल भी नहीं होता है कि मैं बद्ध हूँ व मुक्त हो जाऊँगा। बन्ध व मोक्ष की कल्पना व्यवहार है। स्वानुभव में बन्ध व मोक्ष की चिन्ता नहीं है। वहाँ तो श्रद्धापूर्वक शुद्धात्मा के ज्ञान में मग्नता है। वहाँ तो स्वरूप संवेदन है। वहाँ तो एक आत्मा के सिवाय कोई द्रव्य नहीं है तथापि अनुभवकर्ता को यह विचार नहीं होता है कि मैं आत्मा हूँ। वह तो उसी तरह आत्म-वस्तु के स्वाद लेने में लीन है जिस तरह भ्रमर कमल के भीतर लय हो जाता है।

स्वानुभव में रत्नत्रय धर्म है, स्वानुभव में उत्तम क्षमादि दश धर्म हैं, स्वानुभव में ही अहिंसा धर्म है, स्वानुभव में ही तप है, स्वानुभव

में ही ध्यान है, स्वानुभव में ही निर्वाण है, स्वानुभव में ही शय्या है, स्वानुभव ही बिछौना है, स्वानुभव ही ओढ़ने की चादर है, स्वानुभव ही शयन है, स्वानुभव ही स्वप्न है, स्वानुभव ही जागृत अवस्था है, स्वानुभव ही ग्रन्थ है, स्वानुभव ही ग्रन्थ पठन है, स्वानुभव ही ग्रन्थ पाठक है, स्वानुभव ही पत्र है, स्वानुभव ही पत्र लेखक है, स्वानुभव ही कलम है, स्वानुभव ही स्याही है, स्वानुभव किला है, स्वानुभव किले का निवासी है, स्वानुभव भोजन है, स्वानुभव ही भोजनकर्ता है, स्वानुभव पानी है, स्वानुभव ही पानी पीने वाला है, स्वानुभव ही द्रव्य है, स्वानुभव ही द्रव्य का स्वामी है, स्वानुभव ही दर्पण है, स्वानुभव ही उससे देखने वाला है। स्वानुभव की अपूर्व महिमा है। स्वानुभव के भीतर जो सन्तोष मानता है वही सच्चा ज्ञानी है, वही तत्त्वज्ञानी है और वही गुरुप्रसाद का भोक्ता है।

47- सच्चा महावीर दर्शन (Nice)

ज्ञातादृष्टा एक महात्मा जब श्री महावीर प्रभु का दर्शन करना चाहता है तब वह कभी तो कुण्ड ग्राम जाता है जहाँ प्रभु का जन्म स्थान है, कभी तपोवन में जाता है जहाँ प्रभु ने दीक्षा ली थी, कभी जूँभिगा ग्राम में ऋजुकूला नदी के तट पर जाता है जहाँ प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त किया था, कभी श्री सरोवर के मध्य में पावापुरी के मोक्ष स्थान की भक्तिपूर्वक जाकर वन्दना करता है और बड़े गौर से देखता है कि कहीं श्री महावीर प्रभु का दर्शन मिल जावे। परन्तु इन चर्म चक्षुओं से कहीं भी श्री महावीर भगवान का दर्शन नहीं मिलता है। श्री महावीरस्वामी अब शरीर में नहीं हैं जो चक्षुएँ उनके शरीर को देखकर उनका दर्शन पा सकें। अब तो वे शरीर रहित, कर्म रहित सिद्ध परमात्मा हैं। उनका दर्शन चर्मचक्षुओं से कैसे हो सकता है! यदि उनकी स्थापना रूप मूर्ति को देखा जावे तो उसमें भी जड़मयी वीतरागता का नक्शा

दिखता है। महावीर प्रभु का साक्षात्कार नहीं होता है। तब श्री महावीर भगवान का दर्शन कैसे हो सकता है!

तत्त्वज्ञानी गणधरों ने कहा है कि जो अपनी आत्मा को देखता है वह परमात्मा को देखता है, जो अपनी आत्मा को जानता है वह परमात्मा को जानता है और जो अपनी आत्मा का अनुभव करता है वह परमात्मा का अनुभव करता है। तत्त्वज्ञानी महात्माओं का यह कथन ठीक है। हर एक आत्मा स्वभाव से श्री महावीर परमात्मा रूप ही है। श्री महावीर भगवान की आत्मा में और हमारी आत्मा में व हर एक आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, हर एक का स्वभाव बराबर है इसलिए हमें यदि श्री महावीर परमात्मा का दर्शन करना है तो हमें अपनी ही आत्मा का दर्शन करना होगा, अपनी ही आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना होगा और अपनी ही आत्मा का अनुभव करना होगा। जिसने स्वानुभव प्राप्त करके अपनी आत्मा का दर्शन कर लिया उसने श्री महावीर भगवान का साक्षात् दर्शन प्राप्त कर लिया।

द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, भावकर्म रागद्वेषादि और नोकर्म शरीरादि -इन सबसे उपयोग को हटाकर व सर्व पर पदार्थों से मुँह मोड़कर जब उसे अपनी ही आत्मा के गुणों के मनन में उलझाया जाता है तब एकाएक जब उपयोग आत्मा की विश्रान्ति प्राप्त करता है तब उसे स्वात्मानुभव प्राप्त हो जाता है। उस समय श्री महावीर भगवान के दर्शन से जो अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है वह वचन व मन के अगोचर केवल स्वानुभवगम्य है।

48- निजात्मा की यात्रा (V.Nice)

एक भक्त ज्ञानी आत्मा श्री महावीर भगवान की भक्ति करने के लिए उत्सुक हो रहा है। वह जब विचारता है तो उसे कहीं भी

महावीर भगवान के दर्शन नहीं होते हैं। वह जानता है कि वे इस समय सिद्धालय में विराजमान हैं तथापि उसको यह ज्ञात है कि सर्व ही सिद्ध व संसारी आत्माएँ स्वभाव से समान हैं। मेरी आत्मा में भी वे ही गुण हैं, वे ही स्वभाव हैं जो श्री महावीर परमात्मा के भीतर हैं तब फिर श्री महावीर स्वामी का दर्शन करने के लिए मैं अपनी आत्मा को ही क्यों न देखूँ!

बस, वह अपना उपयोग अन्तर्मुख करता है, निज आत्मा में ही एकतानता कर लेता है। सर्व जगत की आत्माओं से, सर्व ही पुद्गलों से, परमाणु व स्कन्धों से, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश तथा असंख्यात कालाणुओं से, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों से, रागद्वेषादि भावकर्मों से, शरीरादि नोकर्मों से, सर्व स्त्री-पुत्रादि से, सर्व देव, नारक, तिर्यञ्च और मानवों से उपयोग को हटा लेता है। जब केवल अपनी शुद्ध आत्मा में श्रद्धापूर्वक उपयोग जम जाता है तब अपनी ही शुद्धात्मा के आनन्द गुण का स्वाद आ जाता है, प्रतीति में शुद्धात्मा का साक्षात् दर्शन हो जाता है, स्वानुभव जग जाता है। यही श्री महावीर भगवान का साक्षात् दर्शन है।

निजात्मा का दर्शन करना ही सर्व सिद्ध क्षेत्रों की यात्रा करना है। आत्मा का निर्वाण क्षेत्र आत्मा ही है। निर्वाणकाण्ड में वर्णित श्री गिरनार, सम्मेदशिखर, पावापुर, मन्दारगिरि, कैलाश, गजपन्था, मुक्तागिरि, सिद्धवरकूट, बड़वानी, तारङ्गा, सोनागिरि, कुंथलगिरि आदि अनेक भूमियाँ हैं जिनको निर्वाण क्षेत्र कहते हैं परन्तु वास्तव में सर्व ही सिद्धि प्राप्तों का निर्वाण क्षेत्र उनकी अपनी ही आत्मा है जो मेरी ही आत्मा के समान है। क्योंकि निजात्मा का दर्शन व पूजन व निजात्मा की यात्रा ही सर्व निर्वाण प्राप्त सिद्धों की यात्रा है अतएव मैं सर्व से मुख मोड़, एक अपनी ही आत्मा से नाता जोड़, उसी में

जमकर, सर्व परभावों को छोड़, कर्मों के बन्ध तोड़, आप ही मुक्ति-सुन्दरी का नाथ होकर परमानन्द का लाभ कर रहा हूँ।

49- सच्ची दीपमालिका (Nice)

एक ज्ञानी आत्मा दीपमालिका पर्व मनाने के लिए तत्पर हुई है। वह ज्ञान दीप का जलाना ही दीपमालिका का प्रकाश समझती है इसलिए वह अपने ही उपयोग के विशाल क्षेत्र में आत्मज्ञान का दीपक जलाती है। यह दीपक भेदविज्ञान के तेल से सम्यग्दर्शन रूपी पात्र में स्वरूपाचरण चारित्र की बत्ती द्वारा जलाया जाता है। इस दीपक के प्रकाश को स्वानुभव प्रकाश कहते हैं। इस दीपक में सिवाय आत्मा के स्वभावानुभव के कोई पर अनुभव का अन्धकार नहीं है।

यहाँ आत्मा आत्मारूप ही प्रगट हो रही है। आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, आत्मा ही सम्यग्ज्ञान है, आत्मा ही सम्यक्चारित्र है। न यहाँ कोई रागादि भावों का तम है, न ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का मैल है, न शरीरादि का संयोग है। इस आत्मज्योतिमयी दीपक में परम वीतरागता है, परम निर्विकारता है। इसके सामने जगत के पदार्थ न इष्ट हैं न अनिष्ट हैं, सर्व ही अपने-अपने गुण पर्यायों में कल्लोल कर रहे हैं, परम समदर्शित्व का झलकाव है।

जैसा इस ज्ञानी ने अपने भीतर अपूर्व ज्ञान दीप जलाया है, वैसा ही, यह शुद्ध निश्चयनय के प्रताप से, सर्व प्राणियों की उपयोग भूमिका में, अपनी सूक्ष्म भेदविज्ञान की बिजली के द्वारा, दीपक को जला हुआ देखता है। सर्व विश्व की आत्माओं में एक सा दीपक जल रहा है। सर्व विश्व अनन्तानन्त आत्माओं से व्याप्त है। सबमें ही एक सा ज्ञान दीप प्रकाशित है। सर्व विश्व ही अद्भुत ज्ञान दीप का प्रकाश स्वरूप दीख रहा है, अपूर्व शोभा है।

इस दीपमालिका की शोभा के सामने पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल-इन पाँच द्रव्यों का सर्व प्रकाश उसी तरह छिप गया है जैसे सूर्य के प्रकाश में चन्द्रमा व नक्षत्र व तारागण रहते हुए भी अप्रगट रहते हैं। ऐसी दीपमालिका को जलाकर जो भव्य जीव उत्सव मनाते हैं वे ही सच्ची निर्वाण पूजा करते हैं, वे ही सच्चे श्री महावीर परमात्मा के भक्त हैं, वे ही जैनी हैं, वे ही सम्यग्दृष्टि हैं, वे ही अन्तरात्मा हैं और वे ही परम रस के पीने वाले परमानन्द के भोक्ता हैं।

॥ स्वानुभव समाप्त ॥

3. सहजानन्द

सहजानन्द

1- सुख आत्मा का स्वभाव ही है (V.V. Imp.)

एक संसारी प्राणी अनादि काल से आनन्द की खोज कर रहा है। वह आकुलित होकर इन्द्रियों के विषयों में पुनः-पुनः गमन करता है, इन्द्रिय भोग करता है, क्षणिक तृप्ति पा लेता है परन्तु द्विगुणित, त्रिगुणित, शतगुणित, सहस्रगुणित, लक्षगुणित और कोटिगुणित तृष्णा को बढ़ा लेता है। जितना-जितना इच्छित विषय पाकर भोग मग्न होता है उतना-उतना अनन्त गुणित तृष्णा की दाह को बढ़ा लेता है। शरीराश्रित जीता हुआ वह एक दिन शरीर को छोड़ देता है परन्तु दाह की आताप का किंचित् भी शमन नहीं कर पाता है। फिर नये शरीर में जाकर जितनी इन्द्रियाँ पाता है उतनी इन्द्रिय सम्बन्धी विषय चाह की तृप्ति करने का प्रयत्न करता है। वहाँ भी जितना-जितना विषय सुख भोगता है उतना-उतना अधिक तृष्णावान हो जाता है। इस तरह घोर तृष्णा में फँसा हुआ अनन्त जन्म यह जीव धारण कर चुका है परन्तु आज तक सहजानन्द को जो अपने ही पास है न समझकर व न पाकर घोर कष्टों को ही सहन करता चला आ रहा है।

इस चिर दुःखित प्राणी का भवाताप शमन करने के लिए श्रीगुरु परमोपकारी होकर धर्म का उपदेश देते हैं और बताते हैं कि सच्चा सुख सहजानन्द है, वह कहीं बाहर नहीं है, हर एक आत्मा का स्वभाव है। आत्मा में जैसे ज्ञान गुण है और चारित्र गुण है वैसे ही सुख गुण भी है। ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के सम्बन्ध से आत्मिक गुणों पर आवरण हो रहा है इसलिए बहुत सा ज्ञान अज्ञानरूप हो रहा है। चारित्र गुण विकृत होकर क्रोध, मान, माया, लोभ का विकार दिखलाई दे रहा है। इसी तरह सुख गुण का विभाव परिणमन रूप

यह इन्द्रिय सुख-दुःख झलक रहा है। यदि आत्मा में ज्ञान गुण न होता तो अज्ञान भी न होता। यदि चारित्र गुण न होता तो क्रोधादि विकार भी न होता। यदि सुख गुण न होता तो इन्द्रिय सुख-दुःख का भान भी नहीं होता। जैसे अज्ञान दुःखरूप है, क्रोधादि भाव आकुलतारूप हैं वैसे ही इन्द्रिय सुख-दुःख भी महा आकुलतारूप और कष्टमय है।

जैसे अज्ञान के स्थान में सुखकारी ज्ञान है, क्रोधादि के स्थान में हितकारी वीतरागता है वैसे ही इन्द्रिय सुख-दुःख के स्थान में आत्मिक सहजानन्द का अनुभव भी परम सुखकारी व सन्तोषप्रद है। अतएव बुद्धिमान मानव का कर्तव्य है कि जिस तरह हो इस सहजानन्द के पाने का उपाय करे। जैसे मीठे पानी के पीने से मीठेपन का स्वाद आता है, मिश्री खाने से मिश्री का स्वाद आता है, लवण को खाने से लवण का स्वाद आता है, इमली खाने से इमली का स्वाद आता है, वैसे ही आत्मा की तरफ उपयोग लगाकर उसका ध्यान करने से सहजानन्द का स्वाद आता है।

सहजानन्द अपने ही पास है, उसे कहीं बाहर से नहीं लाना है। जब यह आत्मा रत्नत्रयमयी भाव में परिणमन करता है तब उसे अवश्य पा लेता है। मैं शुद्ध आत्मद्रव्य हूँ, पर के संयोग से रहित हूँ, ज्ञानदर्शन से पूर्ण हूँ, सर्व रागादि विकारों से शून्य हूँ, अमूर्तिक हूँ और परम आनन्दमयी हूँ—यही श्रद्धान व ऐसा ही ज्ञान व ऐसा ही अनुभव रत्नत्रय धर्म है। स्वानुभव में रत्नत्रय का लाभ है अतएव मैं सर्व भवद्वन्द्वों को त्यागकर व निश्चिन्त होकर, सर्व इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर निज रत्नत्रय स्वभाव में तिष्ठ जाता हूँ तब जिस सहजानन्द का लाभ करता हूँ वह वचन अगोचर और मन अगोचर है, वह तो केवल स्वानुभवगम्य ही है।

2- अमृत रसायन (V. Nice)

एक ज्ञानी आत्मा अनादि काल से तृषित अपनी आत्मा को ऐसा अमृत पिलाता है जिससे सहजानन्द का स्वाद आकर परम तृप्ति हो जाती है। वह अमृत वास्तव में अमर करने वाला है और आत्मा के भव-भ्रमण को मिटाने वाला है, उसको निश्चल अकम्प सिद्धासन पर विराजमान करने वाला है और निरन्तर ज्ञान-दर्शन द्वारा सर्व ज्ञेय व ध्येय पदार्थों को यथार्थ झलकाने वाला है। वह अमृत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रमयी अभेद रत्नत्रय से निर्मापित है।

शुद्धात्मा ही सम्यग्दर्शन है, शुद्धात्मा ही सम्यग्ज्ञान है, शुद्धात्मा ही सम्यक्चारित्र है। जहाँ एक शुद्धात्मा के सिवाय अन्य किसी पदार्थ का झलकाव आत्मा में न हो और शुद्धात्मा भी नाम व गुणों के भेद विकल्प से रहित हो, केवल स्वानुभवगम्य मात्र कुछ हो, जहाँ मन, वचन, काय की भी पहुँच न हो वहीं यह अद्भुत अमृत बहता है। इस अमृत में जो आनन्दमय स्वाद है उसकी उपमा किसी भौतिक रस के स्वाद से नहीं दी जा सकती।

इस अमृत के पान करने से यह कभी कम नहीं होता। निरन्तर भी इसको पिया जावे तो भी यह कम नहीं होता है। यह अमिट, अखण्ड, अपूर्व आत्मा की सम्पत्ति है। इसे कोई छीन नहीं सकता, ले नहीं सकता और माँग नहीं सकता। इसे कोई अपने चर्म-चक्षुओं से देख नहीं सकता, इसका कोई चर्म-करों से स्पर्श नहीं कर सकता, इसका कोई जिह्वा से स्वाद नहीं ले सकता, इसे कोई नासिका से सूँघ नहीं सकता। इसके भीतर कोई शब्द नहीं है जिसे कानों से सुना जा सके। यह अमृत पाँच इन्द्रियों और मन के अगोचर है, आत्मा में ही है। आत्मा से ही आत्मा आप ही इसका अपूर्व स्वाद लिया करता है।

जिस समय यह इसके सहजानन्द में मग्न होता है उस समय यह आत्मा एक अद्वैत भाव में तन्मय हो जाता है। इसके अनुभव में सिवाय आत्मिक रस के और कोई रस नहीं होता। इस रसास्वाद से यह अनादि तृष्णा की दाह को शमन कर देता है। इन्द्रिय विषय वासना के आताप को मिटा देता है। भौतिक संपत्ति की प्राप्ति की चाह का शमन कर देता है।

इस सहजानन्द में ही ईश्वरत्व है, प्रभुत्व है, जिनेन्द्रत्व है, आत्मत्व है, शंकरत्व है, विष्णुत्व है, ब्रह्मत्व है, इसी में परमात्मत्व है, महात्मत्व है, अन्तरात्मत्व है, यही शुद्धतत्त्व है, इसी में अमरत्व है, अजरत्व है, यही सारतत्त्व है, इसी में शुद्धत्व है, सिद्धत्व है, यही शिवतत्त्व है, यही समयसार है, अविकार है, स्व आधार है, यही गुणाकर है, रत्नाकर है, सुखाकर है, यही मनमोहन है, भवरोधन है, निजशोधन है, यही पवित्र जल कर्ममल धोवन है, यही परमात्म-यौवन है, यही अविनाशी मंगल है, यही दुःख जाल विध्वंसन है, यही शान्तभाव प्रकटन है, यही वीतराग भाव का निदर्शन है, यही तप है, जप है, यम है, नियम है, ध्यान है, ज्ञान है, संवर है, निर्जरा है, मोक्ष है, यही सार जीवत्व है, यही सुखकरण्डत्व है, यही अमृत रसायन है। इसका पीने वाला सदा ही सहजानन्द का भोग करता हुआ जीवन्मुक्त बना रहता है।

3- अमृतमयी समुद्र (V. Nice)

ज्ञातादृष्टा एक आत्मा जब अपने अन्तरङ्ग लोक की तरफ दृष्टिपात करता है तब उसे विदित होता है कि उसके पास एक ऐसा अमृत का समुद्र है जिसके भीतर गोता लगाने से यह आत्मा कर्म कलङ्क से छूटकर भव भ्रमण से रहित होकर सदा के लिए अजर-अमर हो

जाता है। उस समुद्र की निकटता ही आनन्दप्रद है। उसका मज्जन तो सर्व भवाताप शमनकारक है। उसकी कुछ बिन्दुओं का पान परम स्वाद प्रदान करता है। ऐसे अमृतमयी समुद्र का पता उसको नहीं लगता है जिसकी दृष्टि बहिरङ्ग लोक में चक्कर लगा रही है, जो शरीर की शोभा में व आराम में ही उपयुक्त है, जो शरीर से सम्बन्धित चेतन व अचेतन पदार्थों की ही तरफ लवलीन है, जिसका रात-दिन पर के साथ ही व्यवहार और लेनदेन है और जो क्षणभर के लिए भी अपने अन्तरङ्ग लोक में प्रवेश नहीं करता।

अपने ही पास रहते हुए भी बहिरात्मा को अपने आनन्द-समुद्र का पता नहीं लगता है। मोह की अन्धियारी में वह ऐसा अन्ध बन जाता है कि अपने पास ही रत्न है पर उसे नहीं दिखता। इस मोह की अन्धियारी के मेटने का उपाय भेदविज्ञान रूपी सूर्य का प्रकाश है। निश्चयनय की पूर्व दिशा से इस सूर्य का उदय होता है। निश्चयनय दिखला देता है कि आत्मा अनात्मा से बिल्कुल भिन्न है। न आत्मा के स्वभाव में रागादि भावकर्म हैं, न ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म हैं, न शरीरादि नोकर्म है। आत्मा परमात्मा रूप है और अपने अनन्तगुणों का समुदायरूप एक द्रव्य है। इसमें शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध वीर्य, शुद्ध सुख, शुद्ध सम्यक्त्व, शुद्ध चारित्र और शुद्ध स्वानुभूति विराजमान है। यह सहजानन्द का सागर है।

निश्चयात्मक भेदविज्ञान का बारबार अभ्यास करने से उपयोगमय दृष्टि की तरफ से बहिरङ्ग लोक हटने लगता है और अन्तरङ्ग लोक का झलकाव होने लगता है। दीर्घकाल के अभ्यास से यह प्रतीति जम जाती है कि मैं आत्मा हूँ व मैं ही सहजानन्द का सागर हूँ। ऐसी प्रतीति व ज्ञान होने पर अब चारित्र की आवश्यकता है। उसके लिए यह सहजानन्द गवेषी महात्मा एकान्त सेवन करता है और निर्जन

वन, उपवन, मन्दिर, मठ, गुफा, पर्वत आदि का आश्रय लेता है। बाहर से एकाकी होकर भीतर से एकाकी होता है। अपने को औदारिक, तैजस, कार्माण शरीर से जुदा जानता है और साथ ही उन शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों से व उनके कार्यों से भी भिन्न करता है। बारंबार भेदविज्ञान के प्रताप से अपने शुद्ध स्वभावी आत्मा की श्रद्धापूर्वक झाँकी करता है मानो परम प्रभु के दर्शन ही करता है। दर्शन करने का प्रयास करते ही जैसे ही इसकी दृष्टि निज आत्माराम के स्वभाव पर एकतान हो जाती है वैसे ही इसे सहजानन्द समुद्र दिख जाता है। यह उसके निकट जाता है और परम उत्साह के साथ उसके शुद्ध जल में स्नान करते हुए उसके स्वाद को लेता है एवं सहजानन्द का भोक्ता होकर अनिर्वचनीय सन्तोष को पाकर तृप्त हो जाता है।

4- आनन्दमयी कूप (V. Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा पाँचों इन्द्रियों के विषयों को भोगते-भोगते दीर्घ काल बिता चुका फिर भी अपने भीतर देखता है तो तृष्णा पहले से असंख्यगुणी मौजूद है। यद्यपि अवस्था वृद्ध हो गयी है और इन्द्रियों के भीतर भोग की शक्ति क्षीण हो गयी है तथापि इसकी तृष्णा का रोग अति प्रचुरता को प्राप्त है। एकाएक मरण का समय आ जाता है और तब तृष्णा की वासना में मरकर यह वासनानुसार अशुभ योनि में चला जाता है। फिर वहाँ तृष्णा के शमनार्थ इन्द्रिय विषयभोग के कारणों को मिलाने में रात-दिन लगा रहता है। इसी तरह अनन्त जन्म पाए परन्तु आज तक तृष्णा का रोग नहीं मिट सका।

वास्तव में बहिरात्मपना प्राणी को दुःखदायी है। बहिरात्मबुद्धि से इस अज्ञानी को सहजानन्द का पता नहीं है। यह सहजानन्द अपना ही भण्डार है जो अपने पास अटूट भरा है। इसको निरन्तर भोगा जावे तो भी यह कम नहीं होता है। इसे कोई बिगाड़ नहीं सकता,

नष्ट नहीं कर सकता, छीन नहीं सकता। इसके भोजन में किसी भी परवस्तु के आलम्बन की जरूरत नहीं है। यह आत्मा की स्वाधीन निज सम्पत्ति है। जो यह पहिचानता है कि मैं सहजानन्द की अविनाशी अखण्ड शक्ति का धनी हूँ, यही सच्चा सुख है और इसी परमामृत के पान से विषय तृष्णा का विष शमन होता है वही अन्तरात्मा है, महात्मा है, सम्यग्दृष्टि है और सम्यग्ज्ञानी है। वही मोक्षमार्गी है, वही संसार से बैरागी है, वही भव भ्रमण त्यागी है, वही परम निराकुल धाम को जाता है, वही जगत में जल में कमल के समान लिस नहीं रहता है, वही कर्मों के उदय को उदय रूप जान लेता है और उनको ज्ञाता-दृष्टा होकर देखता है।

जब ज्ञानावरणादि चार घातिया कर्मों का उदय होता है तब वह उनके भेद या तीव्र फल को लता, दारु (काष्ठ), अस्थि व पाषाण तुल्य जान लेता है। जब सातावेदनीय आदि पुण्यरूप अघातिया कर्मों का उदय होता है तब उन्हें गुड़, खांड, शर्करा (मिश्री) व अमृत समान जान लेता है। जब असातावेदनीयादि पाप प्रकृतियों का उदय होता है तब उन्हें नीम, कांजीर, विष व हलाहल समान कटुक जान लेता है और जानकर सन्तोष कर लेता है। अपने ही बीज का अच्छा या बुरा फल निपजा है ऐसा समझ लेता है। कर्मों का उदय तुरन्त नष्ट हो जाता है अतएव इस क्षणिक कर्म के फल में ज्ञानी हर्ष व विषाद नहीं करता है।

सहजानन्द का पता पाने वाला महात्मा अपने आत्मा रूपी कूप पर जाता है। ध्यान की रस्सी में उपयोगरूपी लोटे को बाँधकर वह सहजानन्द के जल को खींचता है तथा उससे शुद्ध निश्चयनय के छत्रे से छानकर निर्मल उपयोग रूपी कटोरे में भरता है और निर्मल सहजानन्द को पीकर जो सन्तोष पाता है उसका पता ये पौद्गलिक

पराधीन मन-वचन-काय कैसे पा सकते हैं! धन्य हैं वे महात्मा जो इस सहजानन्द को पीकर जीवन यात्रा का अद्भुत आनन्द लेते हैं।

5- ज्ञानमयी सरोवर (Nice)

सहजानन्द अमृत है, जो इसे पीता है वह अमर हो जाता है। सहजानन्द अपना स्वभाव है, घातिया कर्मों ने इसे दबा रखा है। ज्ञानावरणीय कर्म ने अनन्त ज्ञान को, दर्शनावरणीय कर्म ने अनन्त दर्शन को, मोहनीय कर्म ने सम्यक्त्व और वीतराग चारित्र को व अन्तराय कर्म ने अनन्त वीर्य को दबा रखा है। जब अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य व शुद्ध सम्यक्त्व और शुद्ध चारित्र प्रगट हो जाते हैं तब शुद्धात्मा का साक्षात् दर्शन, ज्ञान व अनुभव सदा ही परम तन्मयता के साथ हुआ करता है और राग, द्वेष, मोह की कल्लोलें बन्द हो जाती हैं। निश्चल निर्मल समुद्र की तरह जब आत्मा अक्षोभ व निराकुल हो जाता है तब इसके भीतर शुद्ध सहजानन्द अनन्त सुख के नाम से प्रकाशित हो जाता है।

अरिहन्त परमात्मा के पद की प्राप्ति के पहले अल्पज्ञानी छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि भेदविज्ञानी को भी श्रुतज्ञान के आधार से भावश्रुतज्ञानमयी आत्मिक अनुभव जागृत होता है तब उसे सहजानन्द का स्वाद आता है। इस सहजानन्द के स्वाद से आत्मा को परम पुष्टता प्राप्त होती है और आत्मा के साथ संयोग को प्राप्त कर्म का मैल भी कटता है। वास्तव में सहजानन्द ही मोक्षमार्ग है। जहाँ शुद्धात्मा का श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र होता है वहाँ ही शुद्धात्मानुभव होता है तथा वहीं सहजानन्द का झलकाव होता है। यही स्वाधीन आत्मिक सुख है।

सहजानन्द एक ऐसा गम्भीर सरोवर है जिसके भीतर गोता लगाने से ऐसी शान्तिमय निद्रा आती है कि सहजानन्द योगी के भीतर

कोई भी कल्पनाएँ नहीं रहतीं, कोई तर्क नहीं रहते, कोई भी चिन्ताएँ नहीं रहतीं, कोई भी राग-द्वेष-मोह नहीं रहते, कोई भी वचनों के प्रवाह नहीं बहते, कुछ भी काय की चेष्टा नहीं होती। द्रव्य छह हैं, उनके क्या नाम हैं, क्या गुण हैं तथा क्या-क्या पर्यायें हैं, मैं हूँ या नहीं, मैं शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ, एक हूँ या अनेक हूँ - ये सब भी भाव वहाँ नहीं रहते। वहाँ तो एक अद्वैत वचनातीत भाव प्रगट हो जाता है जो ज्ञानी के मात्र अनुभवगम्य है और मन, वचन, काय के द्वारा जानने योग्य नहीं है। जहाँ अद्वैतानुभव है वहीं सहजानन्द है।

6- समता सखी (V.Nice)

ज्ञानस्वरूपी आत्मा अनादि काल के अज्ञान के प्रताप से अपने भीतर भरे हुए सहजानन्द को भूले हुए है और विषयों के आताप से सन्तापित होकर उसके शमन के लिए यथासम्भव इन्द्रियों की चाह को तृप्त करने की खूब चेष्टा करता है, परन्तु सफलता को नहीं पाता हुआ निराश होकर बार-बार जन्म-मरण करता हुआ घोर आकुलतामय अपने काल को गमाता रहता है। अज्ञान वास्तव में एक ऐसा अन्धेरा है जिसमें ज्ञान चक्षु रहते हुए भी सुमार्ग और कुमार्ग का पता नहीं लग पाता है।

श्रीगुरु के प्रताप से जब इसे सच्चा धर्मोपदेश मिलता है और भेदविज्ञान का पता पाया जाता है। उसमें झलकाया जाता है कि यह आत्मा परमात्मा के समान ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुखमयी स्वभावधारी अविनाशी एवं अमूर्तिक है और सर्व रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और शरीरादि नोकर्म पुद्गल जड़ अनात्मा के विकार हैं, आत्मा का स्वभाव इनसे शून्य है। वह तो वास्तव में अनुभवगोचर पदार्थ है। फिर यह आत्मस्थ होता है तथा अपने उपयोग को सर्व पर से हटाता है और आत्मा में ही उसे ठहराता है, तब इसे आत्मा के

स्वभाव का पता लगता है। इस भीतरी सूक्ष्म तह के भीतर पहुँचने का मार्ग पुनः-पुनः आत्मा व अनात्मा का मनन है, अर्थात् भेदविज्ञान का अभ्यास है। इस तरह सुनकर जो प्रतीति लाता है और बार-बार मनन करने का अभ्यास करता है उसको आत्मा का अनुभव हो जाता है।

आत्मानुभव के होते ही आत्मा एक अपूर्व आनन्द को पाता है, उसे ही सहजानन्द कहते हैं। वह कोई परद्रव्य का गुण नहीं है, आत्मा का ही गुण है, इसी से उसको स्वाधीन कहते हैं व आत्मा के ही साथ रहने वाला कहते हैं। समता सखी के प्रताप से और एकाग्रता रूपी महिला की कृपा से शुद्धात्मा का दर्शन होकर सहजानन्द का लाभ होता है। समता सखी वहीं आकर खड़ी हो जाती है जहाँ व्यवहारनय को गौण कर निश्चयनय का आलम्बन लिया जाता है और इस जगत को हलन-चलन रहित एवं परस्पर कार्य रहित देखा जाता है।

जगत छह द्रव्यों का समुदाय है। सर्व द्रव्यों को जुदे-जुदे अपने स्वभाव में देखने की दृष्टि निश्चयनय है। इसकी दृष्टि में सर्व ही द्रव्य क्रिया रहित झलकते हैं। सर्व पुद्गल परमाणु रूप व सर्व जीव शुद्ध सिद्ध रूप मालूम पड़ते हैं। जब अनन्तानन्त जीव बिना किसी भेद के बराबर गुणधारी व आकारधारी नजर आते हैं तब शत्रु, मित्र, बन्धु, भ्राता, स्वामी और सेवक का सर्व विचार बन्द हो जाता है, सर्व आत्माएँ समान दिखती हैं एवं एकाएक राग-द्वेष-मोह मिट जाता है और समता सखी सामने आ खड़ी होती है। इस सखी के आने पर एकाग्रता रूपी महिला अपना प्रेम बढ़ाती है और यह आत्मा भी उसी की तरफ उपयुक्त हो जाता है। कुछ देर तक द्वैत भाव का विकल्प रहता है, फिर थोड़ी देर में द्वैत भाव भी मिट जाता है और एक अद्वैत भाव

प्रकाशमान हो जाता है। बस फिर क्या है! सहजानन्द का स्रोत बह निकलता है और यह उस आनन्द में मग्न होकर जो तृप्ति पाता है वह बिल्कुल वचन अगोचर है।

7- परम प्रिय भोजन (Nice)

एक ज्ञानस्वरूपी आत्मा संसार की सर्व चिन्ताओं से ग्रसित होकर बहुत ही दुःखित है। वह रात-दिन आकुलताओं के जाल में तड़फा करता है, निकलने का कोई उपाय नहीं पाता है, सुख का आकाँक्षी होकर भटकता फिरता है और उसे सच्चे सुख का पता नहीं मिलता है। श्री गुरु ने कृपा करके उसे बताया कि-हे भव्य जीव! तू क्यों घबड़ाता है, वह सच्चा सुख तेरे ही पास है, तेरी ही आत्मा का स्वभाव है। तू यदि अपने भीतर खोजेगा तो तुझे अवश्यमेव प्राप्त होगा। श्री गुरु ने कहा कि-हे भव्यजीव! तेरी आत्मा के भीतर कई पर्दे पड़े हैं। एक पर्दा ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का बना हुआ कार्माण शरीर है, दूसरा तैजस वर्गणा का बना हुआ तैजस शरीर है और तीसरा आहार वर्गणा का बना हुआ औदारिक शरीर है।

राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि विभाव भाव आत्मा का स्वभाव नहीं है। ये उसी तरह के भाव हैं जैसे मिट्टी से मिले हुए पानी में गंदलापन दिख पड़ता है। जैसे गंदलापन पानी का स्वभाव नहीं है वैसे ही राग-द्वेषादि विभावभाव आत्मा का स्वभाव नहीं है। जो कोई अपनी सूक्ष्म दृष्टि को इन तीनों शरीरों के, रागादि भावों के और पाँच इन्द्रियों तथा मन के द्वारा होने वाले खण्ड ज्ञान के भेदों के बाहर ले जाता है वही अपनी आत्मा के स्वभाव के भीतर प्रवेश कर जाता है और प्रविष्ट होते ही उसे सहजानन्द का स्वाद आ जाता है।

सहजानन्द का लाभ परमामृत का लाभ है। इसी आनन्द को सिद्ध भगवान लेते हैं, इसी को अरिहन्त भगवान भी लेते रहते हैं और इसी का भोग सर्व साधुजन करते हैं। सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी जीवों का यही परम प्रिय भोजन है। उनकी तृप्ति इस सहजानन्द के भोग से ही होती है। वे गृहस्थावस्था में रहते हुए भी पाँचों इन्द्रियों का भोग करते हुए भी इन्द्रिय सुख से तृप्ति नहीं मानते हैं।

पूर्वबद्ध कषायों के वेग को सहन करने का आत्मबल न पाकर उन कषायों के आधीन हो उस सम्यग्ज्ञानी को विषयभोग करना पड़ता है परन्तु वह उसे दुःख ही समझता है। उसकी बुद्धि में वह विषयसुख विषरूप भासता है। कषायों की कालिमा को धोने का उपाय भी सहजानन्द का लाभ है। ज्ञानी सहजानन्द का पता पाकर अपने को सदा ही मुक्त, अबद्ध, अभेद, अमूर्तिक व शुद्ध अनुभव करता है। स्वानुभव के पुनः-पुनः अभ्यास से वह सहजानन्द का पुनः-पुनः स्वाद पाता हुआ परम सन्तोष को पाकर सदा ही प्रसन्न रहता है।

8- साम्य गुफा वास (V. Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा दीर्घकाल से जिस आनन्द की खोज में था उसका पता पाकर परम सन्तुष्ट हो गया है। वह स्वाभाविक आनन्द कहीं बाहर नहीं है, आत्मा का ही सहज स्वभाव है। आत्मा अनन्तकाल से विषयसुख का लोभी होकर बार-बार स्पर्शनादि पाँचों इन्द्रियों के विषय सम्बन्धी पदार्थों की तरफ जाता है तथा उनका भोग करता है परन्तु तृष्णा की दाह का शमन नहीं कर पाता है। तृष्णा और अविद्या के कारण ही यह अज्ञानी आत्मा भव-भव में भटकता रहा है और सहजानन्द के वियोग से बहुत सी आकुलताएँ सह चुका है। सहजानन्द

आत्मा का निज स्वभाव है। जैसे पानी का स्वभाव मिष्ट है, इमली का स्वभाव खट्टा है, ईख का स्वभाव मीठा है, नीम का स्वभाव कटुक है, आँवले का स्वभाव कसायला है, घी का स्वभाव चिकना है, रत्न का स्वभाव चमकीला है और स्फटिक का स्वभाव निर्मल है, उसी तरह आत्मा का स्वभाव आनन्दमय है।

सहजानन्द का लाभ तब ही होता है जब ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का ऐसा क्षयोपशम हो जिससे परम सूक्ष्म आत्म-तत्त्व का ज्ञान हो सके। अन्तराय कर्म का ऐसा क्षयोपशम हो जिससे आत्मबल इतना प्रबल प्रगट हो कि उपयोग को सर्व तरफ से हटाकर आत्मिक स्वभाव में जमाया जा सके। दर्शन मोहनीय कर्म का ऐसा उपशम, क्षयोपशम या क्षय हो जिससे निज आत्मा में दृढ़ रुचि उत्पन्न हो व यह श्रद्धा हो कि मैं आत्मा हूँ, द्रव्यदृष्टि से सदा एकाकार, शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी और अमूर्तिक हूँ तथा परम सुख का भण्डार हूँ। चारित्र मोहनीय का ऐसा क्षयोपशम हो कि सांसारिक सुख से वैराग्य हो जावे और आत्मिक स्वभाव में रमण का राग हो।

ऐसी सामग्री के संयोग होने पर उपयोग आपसे ही आप में थिर होता है, पाँचों इन्द्रियों की ओर नहीं जाता है और मन के सङ्कल्प-विकल्पों से भी हटता है। इन्द्रियातीत उपयोग ही अतीन्द्रिय, आत्मिक सहजानन्द का भोग कर सकता है। शुद्धात्माओं के भीतर इस सहजानन्द का सदा भोग रहता है। उनके इस सहजानन्द के भोग में कोई अन्तराय नहीं पड़ता है क्योंकि कोई भी बाधक कर्म उनके भीतर विघ्न नहीं कर सकते हैं। वहाँ कर्म मैल का रंच भी सम्बन्ध नहीं है।

एक साधक को उचित है कि सहजानन्द के भोग के लिए सर्व परिग्रह का त्यागी हो, यथाजातरूपधारी हो, बालकवत् निर्लेप हो, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा परिग्रह त्याग महाव्रतों का पूर्ण

पालक हो, बहुत अधिक सताए जाने पर भी जो क्रोध को शमन किए हुए हो अर्थात् जिसे क्रोध नहीं पैदा हो, जो मानापमान में समता रखता हुआ कभी मान के वशीभूत नहीं हो, माया को जिसने वश में कर लिया हो, किसी भी स्वार्थवश कलह करने का भाव जिसके भीतर से निकल गया हो, लोभ कषाय को जिसने ऐसा जीता हो कि पाँचों इन्द्रियों का विषयराग मिटा दिया हो और आवश्यक भोजनादि में परम सन्तोष धारण कर लिया हो।

ऐसा विषय-कषाय विजयी महात्मा साधु जब बाहर से बहुत ही एकान्त स्थान का सेवन करता है, पर्वत की गुफा, नदी तट या ऐसे वन आदि में बैठता है जहाँ मानवों का शब्द भी नहीं सुन पड़ता है वह निश्चल आसन से तिष्ठ करके भीतर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी, निर्विकल्प समाधिमयी, परम सामायिकरूप साम्य की स्वच्छता से पवित्र गुफा में जाकर विराजता है। इस तरह आपसे ही आपमें आपके ही लिए आपमें से आपको आप ही स्थापित करता है और कर्ता-कर्म आदि षट्कारक के विकल्पों को त्यागता है तब ही एकाएक सहजानन्द का प्रवाह बह निकलता है और वह साधु उसका धारावाही पान करता हुआ जिस परम सन्तोष को पाता है वह केवल अनुभवगम्य है।

9- वैराग्य पर्वतारोहण (V. Nice)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकार के विचारों को बन्द करके एक आत्मा के ही स्वरूप के विचार में लगा हुआ है क्योंकि इसको श्री गुरु ने बताया है कि सच्चा सुख आत्मा में ही है। जगत में छह द्रव्य हैं उनमें धर्म, अधर्म, काल, आकाश और पुद्गल चेतना रहित हैं, मात्र जीव पदार्थ ही चेतना सहित है। जहाँ चेतना का विलास है वहीं

ज्ञान चेतना का वास है। ज्ञान स्वभाव का अनुभव करना ही सच्चे सुख का स्वाद प्राप्त करने का उपाय है। प्राणी कर्मचेतना व कर्मफल चेतना के अनुभव को करते हुए निरन्तर राग-द्वेष-मोह रूप मलिन भावों का ही स्वाद ले रहे हैं, इसी कारण वीतराग आनन्द का स्वाद नहीं आता है।

लवण मिश्रित खारे जल के पीने से लवण का ही स्वाद आता है, खटाई मिश्रित जल को पीने से खट्टेपने का स्वाद आता है, नीम के कटुक पत्तों के रस से मिले हुए जल को पीने से कटुकता का स्वाद आता है, इसी तरह राग सहित ज्ञानोपयोग के स्वाद से राग का, द्वेष सहित ज्ञानोपयोग के स्वाद से द्वेष का, मोह सहित ज्ञानोपयोग के स्वाद से मोह का, काम सहित ज्ञानोपयोग के स्वाद से काम का और भय सहित ज्ञानोपयोग के स्वाद से भय का स्वाद आता है। निर्मल पानी के पीने से जैसे पानी का असली स्वाद आता है वैसे ही वीतरागता सहित ज्ञानोपयोग के स्वाद से आत्मा के सच्चे सुख का स्वाद आता है।

सहजानन्द गवेषी इसीलिए सबसे नाता तोड़कर एक अपने आत्मस्वरूप से नाता जोड़ता है, अपनी आत्मा को ही सार वस्तु समझता है और अपनी आत्मा को ही अपना क्रीड़ावन बनाता है। जिस किसी ने सहजानन्द का पता पाया है और सहजानन्द पाने का मार्ग उपलब्ध किया है वही यथार्थ में सम्यग्दृष्टि है, वही श्रावक है एवं वही साधु है। जो सहजानन्द को पूर्णपने प्राप्त करने के लिए कमर कस लेते हैं और यह दृढ़ भावना भाते हैं कि हम कर्मोदय की सारी आपत्तियों को सहर्ष सहन कर लेंगे परन्तु सहजानन्द के पूर्ण लाभ के बिना कभी भी चैन न ग्रहण करेंगे, वे साधु आत्मा के भीतर विश्रान्ति पाते हुए, वैराग्य के पर्वत पर चढ़ते हुए, गुणस्थान क्रम से

विरोधी कर्म-शत्रुओं का क्षय कर, अरिहन्त परमात्मा हो जाते हैं और फिर सिद्धालय में जाकर सिद्धपद में ध्रुवता से निवास करते हुए निरन्तर सहजानन्द का उपभोग करते रहते हैं। एक सत्य खोजी का कर्तव्य है कि वह सत्य का अनुयायी होकर चले और सहजानन्द को आपसे अपने ही द्वारा प्राप्त कर अनादिकालीन तृष्णा का शमन कर परम सन्तोषी हो जावे।

10- स्वात्माराम क्रीड़ा (V. Imp.)

एक ज्ञानदर्शन गुणधारी आत्मा अनादि काल से अपने ज्ञानदर्शन का लक्ष्य उन पदार्थों को बना रहा था जिनके भोग करने से इसे रागभाव द्वारा विषयसुख का भान होता था परन्तु यह कभी भी तृष्णा की दाह शमन नहीं कर पाता था, इससे वह समय-समय कोटानुकोटि इच्छाओं के वशीभूत होकर आकुलित हो रहा था। परन्तु श्री गुरु के प्रताप से उसको सहजानन्द का पता चल गया और यह निश्चय हो गया कि वह सहजानन्द मेरी ही आत्मा में सर्वाङ्ग पूर्ण भरा है। वह मेरी ही आत्मा का स्वभाव है। बस इस श्रद्धा के साथ जैसे-जैसे रुचि बढ़ती है यह अपने उपयोग को सर्व परपदार्थों से और इन्द्रिय विषयभोगों से संकुचित करता है और उस उपयोग को सहजानन्द के धनी निजात्मा के द्रव्य पर जोड़ता है। इसे ही योग या ध्यान कहते हैं।

आत्मिक ध्यान के प्रकाश से आत्मस्थ होकर यह ज्ञानी जीव सहजानन्द को पा लेता है। फिर यह उस निज आनन्द में उसी तरह आसक्त हो जाता है जैसे भ्रमर कमल की वास में अनुरक्त हो जावे। सहजानन्द स्वभाव को प्रकाश करने वाला है जबकि विषयानन्द विभाव को बढ़ाने वाला है। इस प्रतीति का झलकाव जिसके भीतर हो जाता है वही सम्यग्दृष्टि महात्मा है। वही अनादि भव भ्रमण को मिटाने का पात्र है। भव भ्रमण का कारण विषयों में सुख का

अन्वेषण है, शरीर में राग है और पुद्गल का स्वागत है। जहाँ पुद्गल से विराग हुआ और अपनी आत्मा से प्रेम हुआ वहीं भव-भ्रमण का अन्त निकट आ गया तथा अपने घर में विश्राम लेने का अवसर प्राप्त हो गया।

मोक्षमार्ग सहजानन्द का भोग है। मोक्ष भी सहजानन्द का निरन्तर भोग है। दोनों ही की एक जाति है। दोनों में ही साम्यता है। जैसा कारण होता है वैसा कार्य होता है। जितनी-जितनी वृत्ति पर पदार्थ से रुकती जाती है उतनी-उतनी निज पदार्थ पर जमती जाती है। यही गुणस्थानारोहण है, यही समता के मार्ग पर चर्या करना है और यही वीतराग-विज्ञानता का झलकाव है। विवेकी जीव सहजानन्द के लाभ के लिए निरन्तर स्वात्माराम में क्रीड़ा करता हुआ परम सन्तोषी व परम तृप्त बना रहता है तथा अपने को जीवन्मुक्त अनुभव करता है।

11- समता सखी का नृत्य (V. Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जाल से रहित होकर जब विचार करता है तब उसको पता चलता है कि वह दीर्घ काल से इस संसार समुद्र में गोते खा रहा है और सुख के लिए अपनी लालसा लगाए हुए है परन्तु उसे इन्द्रियजनित, अतृप्तिकारी, क्षणिक सुख ही प्राप्त हुआ है जिससे इस जीव को कभी तृप्ति नहीं हो सकती। सच्चा सुख अपनी ही आत्मा का स्वभाव है सो इसके जानने में, परिचय में तथा अनुभव में कभी नहीं आया है। श्रीगुरु की कृपा से इसको विश्वास हो गया कि वह सुख अपनी ही आत्मा में है व सुख इस आत्मा का ही एक गुण है। जैसे किसी दरिद्री को किसी गुप्त भण्डार का पता मालूम हो जावे तो वह आनन्द से प्रफुल्लित हो जाता है और उसे ऐसा प्रतिभास होता है मानो मैंने उस भण्डार को पा ही लिया। इसी तरह तत्त्वखोजी को सच्चे सुख का पता लगने से परम आनन्द होता

है। आत्मा के किस प्रदेश में वह सच्चा सुख है, यदि ऐसा विचार किया जावे तो आत्मा के हर एक प्रदेश में अनन्त सहजानन्द है। जैसे मिश्री की डली का हर एक कण मिष्टता संयुक्त है वैसे आत्मा का एक-एक प्रदेश आनन्द संयुक्त है।

‘जब आप ही आत्मा है और अपने पास ही वह सुख है तब उस सुख का स्वाद क्यों नहीं आता?’ इसका कारण यह है कि यह मानव राग-द्वेष-मोहादि कषाय भावों के स्वाद को सदाकाल लेता रहता है, इसी कारण वीतराग आत्मिक भाव का आनन्द नहीं मिलता। इसलिए उचित है कि सर्व पदार्थों से राग-द्वेष-मोह छोड़ा जावे, व्यवहार दृष्टि को बन्द कर दिया जावे और निश्चयनय की दृष्टि को ही काम में लिया जावे। जब सर्व ही द्रव्य अपने-अपने स्वाभाविक भाव में दिखलायी पड़ेंगे तब सर्व आत्माएँ भी अपने स्वाभाविक भाव में दिखलायी पड़ेंगीं, फिर बड़े-छोटे का, धनिक-निर्धन का और स्वामी-सेवक का सबका भेद मिट जायेगा, सर्व ही प्राणी एक समान दिखलायी पड़ेंगे।

चेतन पदार्थों की भिन्नता से ही राग-द्वेष होता है। जब सर्व चेतन समान हैं तब किससे राग व किससे द्वेष! निश्चयनय की कृपा से समता सखी का नृत्य उपयोग में होने लगता है। समता के आते ही अपनी आत्मा की ओर विशेष लक्ष्य जाता है। अपनी आत्मा के भीतर जब उपयोग कुछ भी देर के लिए जमता है तब ही सहजानन्द का स्वाद आ जाता है। पर से हटकर स्व में जमना ही आनन्द प्राप्ति का उपाय है।

सहजानन्द का स्वाद अपार है। यही वह आनन्द है जिसे सिद्ध निरञ्जन भगवान सदा ही भोगते रहते हैं। मैं भी इसी सहजानन्द के

लाभ के लिए सर्व से उदासीन होकर, साम्य रस से पूर्ण, निजात्मिक सरोवर में कल्लोल करता हूँ और क्षणमात्र में परम सुखी होकर अपने अनादि काल के भ्रम को सदा के लिए मिटा देता हूँ।

12- गुप्त भण्डार का पता (V.V. Imp.)

ज्ञाता-दृष्टा अविनाशी आत्मा चिरकाल से तृषातुर था, दुःखित था, क्योंकि इसके साथ पुद्गल का संयोग है। पुद्गल का स्वरूप जीव के स्वरूप से विपरीत है। पुद्गल जड़ है तो जीव चेतन है, पुद्गल अपवित्र है तो जीव पवित्र है, पुद्गल दुःख व आकुलता का कारण है तो जीव अतीन्द्रिय सुख व निराकुलता का समुद्र है, पुद्गल अपने को भी नहीं जानता तो जीव अपने को भी जानता है और पर को भी जानता है। यद्यपि सत्त्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व और प्रमेयत्व साधारण गुणों की अपेक्षा जीव और पुद्गल समान हैं तथापि विशेष गुणों की अपेक्षा भिन्न-भिन्न हैं।

जीव और पुद्गल के संयोग से अनादिकालीन जीव को निज शुद्ध सहजानन्द का पूर्ण अनुभव नहीं हो पाता जैसाकि पूर्ण और शुद्ध अनुभव शुद्ध सिद्ध आत्मा को है। यदि एक दफे पूर्ण शुद्धात्मानुभव प्राप्त हो जाये तब फिर परानुभव का अवकाश नहीं रहता क्योंकि जब तक मोहनीय कर्म का उदय है तब तक राग-द्वेष-मोह का विकार उपयोग को मलिन करता है। मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने के पीछे परानुभव होने का कोई अवकाश नहीं रहता। क्योंकि जैसे समुद्र पवन के झकोरों से कल्लोलित होता है वैसे आत्मा का उपयोग मोहनीय कर्म के विकारों से क्षोभित होता है। पवन संचार के बिना जैसे समुद्र निश्चल और अक्षोभित रहता है वैसे मोहनीय के उदय बिना आत्मा का उपयोग अक्षोभित और निश्चल रहता है। मोहनीय

कर्म के क्षय होते ही सर्व शेष कर्म धीरे-धीरे क्षय हो जाते हैं। और मोहनीय कर्म के क्षय होने का उपाय वास्तव में सहजानन्द का अनुभव है।

जिसका अनुभव अनादिकाल से नहीं हुआ उसका अनुभव कैसे हो-यह बड़ा गम्भीर प्रश्न है। सहजानन्द का अनुभव उस समय तक नहीं हो सकता जब तक सम्यग्दर्शन का प्रकाश न हो। सम्यग्दर्शन एक ऐसी निधि है जो अपने ही भीतर आत्मा के प्रदेशों में प्रकाशमान है परन्तु वह कर्मों के ढेर के भीतर छिपी है। मैं शुद्धात्मा हूँ, मैं परमानन्दमयी हूँ, ज्ञाता-दृष्टा हूँ और कर्मजनित सर्व भावों से भिन्न हूँ-यह दृढ़ श्रद्धान हो जाना ही सम्यग्दर्शन है। इस श्रद्धान के होते ही उपयोग उसी की ओर रुचि करने लग जाता है और जब इच्छा हो तब ही उस सहजानन्द का स्वाद ले लेता है।

परम प्रतापी, भेदविज्ञानी और गुप्त भण्डार का पता बताने वाले श्रीगुरु जब शिष्य पर कृपादृष्टि करते हैं तब उसकी भ्रमबुद्धि मिटा देते हैं। वे उसको बता देते हैं कि पराधीन इन्द्रियजनित सुख से कभी शान्ति नहीं मिलेगी। अतीन्द्रिय सुख ही आत्मा का स्वभाव है। हे शिष्य! तू आत्मा से अन्य सर्व ही परपदार्थों से रुचि को हटा ले और जैसा स्वरूप आत्मा का बताया जाता है उसी के अनुसार खोज। जिसने खोजा उसने ही अपनी आत्मा को पाया। श्रीगुरु के वचनों पर विश्वास करके जो कोई अपने मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को रोकता हुआ पुरुषार्थ करता है वह भेदविज्ञान के अभ्यास से कभी न कभी सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को पा लेता है। रुचिवान शिष्य सम्यग्दर्शन का प्रकाश पाकर परम सन्तोषी हो जाता है, अनादि काल की व्यथा को मिटा देता है, बड़े ही प्रेम से सहजानन्द का भोग करता हुआ काल यापन करता है और अपने को मुक्तात्मा सम ही अनुभव करता है।

13- सिद्धों का भोजन (Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विभावों को हेय समझकर और स्वभाव का प्रेमी होकर सहजानन्द की खोज करता है। मिथ्यादृष्टि को उस सहजानन्द का पता नहीं लगता है क्योंकि उसको रात-दिन विषयसुख की ऐसी गाढ़ रुचि रहती है कि वह कभी भी सहजानन्द की प्रतीति ही नहीं करता है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से उसकी बुद्धि पर ऐसा पर्दा पड़ा रहता है जिससे वह परम गुरु के उपदेश पर कुछ भी ध्यान नहीं देता है किन्तु सहजानन्द के उपदेशदाताओं को पागल व बेकार समझता है। जैसे उलूक को सूर्य का दर्शन नहीं सुहाता है वैसे मिथ्यात्वी को तत्त्वज्ञान का उपदेश नहीं सुहाता है।

ऐसे मिथ्यात्वी को सहजानन्द की रुचि कैसे हो-यह बड़ा भारी प्रश्न है। संसार में बार-बार आपत्तियों के पाने पर व इच्छानुकूल विषयों को न पाकर या पाए हुए विषयों के वियोग से दुःखित होकर जब वह संसार की माया से असहनीय कष्टों को भोगता है तब दुःखों से उदासी पाता है। ऐसे अवसर पर जब उसे किसी तत्त्वज्ञानी का उपदेश मिलता है तब वह विचार करता है कि शायद इस उपदेश से मुझे कुछ सुख-शान्ति मिले। यही वह अवसर है जब मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी का उदय मन्द पड़ता है।

जैसे मन्द नदी के प्रवाह में तैरने वाला प्रवाह की दिशा के विरुद्ध भी तैर सकता है वैसे मन्द मिथ्यात्वादि के उदय में यह विवेकी तत्त्व के विचार की योग्यता प्राप्त कर लेता है। श्रीगुरु पता बताते हैं कि आत्मा में ही सहजानन्द है। सहजानन्द आत्मा का निज स्वभाव है। आत्मा अमूर्तिक है, ज्ञान-दर्शनमयी पुद्गलकृत विकारों से बिल्कुल भिन्न है और सिद्ध समान शुद्ध है। यही ईश्वर परमात्मा है, यही सर्व

पदार्थों से महान है और राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया और लोभादि विभाव सर्व ही पुद्गलकृत विकार हैं।

इस तरह का उपदेश पाकर जब यह खोजी संसार के कष्टों में उदासी रखता हुआ एकान्त में बैठकर विचार करता है तब आत्मा के निश्चय स्वरूप का विचार करते हुए इसके भावों में शान्ति छा जाती है और इसको अपनी अवस्था पहले से अच्छी दिखती है। बस यह तत्त्व-विचार का प्रेमी हो जाता है। अब इसको गुरु का उपदेश और शास्त्र का पठन अच्छा लगता है। गुरु के उपदेशानुसार यह वर्तन करने लग जाता है। देवभक्ति भी करता है, संयम भी पालता है, दान भी देता है और दया व न्यायपूर्वक वर्तन भी करता है। जितनी-जितनी शान्ति इसको तत्त्वों के विचार से मिलती जाती है उतनी-उतनी इसकी विषय की रुचि घटती जाती है। कषायों की मन्दता होने से व वीतरागता की वृद्धि होने से यह मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायों के अनुभाग को घटाता हुआ चला जाता है।

एक समय अकस्मात् ऐसा आ जाता है जब यह सम्यक्त्व विरोधी कर्मों का उपशम करके सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को जो कि उसकी आत्मा ही में गुप्त था, प्रगट कर लेता है। सम्यक्त्वभाव के प्रगट होते ही यह सहजानन्द का स्वाद पा लेता है, इसको सहजानन्द का पता लग जाता है। फिर तो यह जब चाहे तब ही सहजानन्द रूपी अमृत को अपनी आनन्द-सागर आत्मा से प्राप्त कर लेता है। जब स्वसन्मुख हुआ कि आत्मिक रस का वेदन हो गया। वास्तव में सहजानन्द ही परमामृत है, यही सिद्धों का नित्य भोजन है।

14- सुवर्णमय जीवन (Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विचारों को बन्द कर इस चिन्ता में है कि

किसी तरह ऐसा सुख प्राप्त हो जिसके लिए पर वस्तु से मदद लेने की जरूरत न पड़े। वह किसी गुरु के पास जाकर उसका पता पूछता है। गुरु बताते हैं कि वह सुख इस अपनी ही आत्मा का स्वभाव है। जो कोई अपनी आत्मा में स्थिर होता है, वही उस सुख को पाता है। इस सुख के लाभ करने में मन, वचन, काय तीनों की ही जरूरत नहीं है। इन तीनों की पराधीनता छोड़े बिना कभी भी वह सहज सुख नहीं भोगा जा सकता है।

आत्मा का स्वभाव परमात्मा के समान है। परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग, परमानन्दमय, अमूर्तिक, अविनाशी, निर्दोष और निर्विकार है, वह सत् पदार्थ है और आदि व अन्त रहित है। ऐसा ही हर एक आत्मा है। सहज सुख पाने के लिए हमें इस मन के विकल्प को भी हटाना होगा कि आत्मा है, उसमें अमुक-अमुक गुण हैं या वह परमात्मा के समान है। गुण व गुणी के व्यवहार को भी छोड़ना होगा। एक अभेद सामान्य ज्ञायक स्वभाव में तल्लीन हुए बिना सहज सुख का लाभ नहीं हो सकता। सहज सुख का लाभ ही मोक्षमार्ग है। जिस उपाय से पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा हो व नवीन कर्मों का आस्रव निरोध हो वही मोक्षमार्ग हो सकता है। वह एक सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मिक स्वभाव में रमण है। इसी को रत्नत्रय धर्म कहते हैं। इसी को आत्मानुभूति कहते हैं।

जहाँ सहजसुख का भोग है वहीं शुद्धोपयोग है। जहाँ उपयोग आत्मा में तल्लीनता को छोड़कर जरा सा भी चञ्चल होता है वहीं आत्मा का दर्शन व भोग बन्द हो जाता है। निश्चल समुद्र के जल में जैसा मुख दिखता है वैसा तरङ्गावली से चञ्चल समुद्र में नहीं। सहजानन्द निजवस्तु है, कोई परवस्तु नहीं है जिसके लिए पर की मदद की जरूरत हो। सहजानन्द का भोग जिन-जिन महात्माओं को

होता है चाहे वह चिरकाल के लिए हो या अचिरकाल के लिए हो वे सर्व ही महात्मा प्रतिष्ठा के पात्र हैं, वे सर्व ही भव्य हैं, वे सर्व ही जीवन्मुक्त हैं। पशु, पक्षी, नारकी, कल्पवासी देव, भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिषी देव, भोगभूमि मानव व कर्मभूमि मानव जिसके भीतर सहजानन्द का लाभ है वही सम्यग्दृष्टि व मोक्षमार्गी है।

सहजानन्द विषयानन्द के विरुद्ध है। सहजानन्द जब स्वाधीन है तब विषयानन्द पराधीन है। सहजानन्द जब बाधा रहित है तब विषयानन्द बाधा सहित है। सहजानन्द जब अविनाशी है तब विषयानन्द नाशवन्त है। सहजानन्द जब बन्धछेदक है तब विषयानन्द बन्धकारक है। सहजानन्द जब निराकुल व समतारूप है तब विषयानन्द साकुल व विषम है-ऐसा दोनों का भेदज्ञान समझकर जो कोई सहजानन्द का रोचक हो जाता है वही अपने जीवन को सफल करता है। उसका जीवन सुवर्णमय जीवन है।

15- आप ही शरण है (Nice)

कहाँ है सहजानन्द! यह वही आनन्द है जो स्वाधीनता के साथ भोगा जाता है और जिससे परम साम्यभाव और निराकुलता के परिणाम हो जाते हैं। इस आनन्दानुभव की दशा को ही मोक्षमार्ग कहते हैं। वही निश्चय या वास्तविक रत्नत्रय का प्रकाश है, वही शुद्धात्मप्रतीति रूप सम्यग्दर्शन है, वही शुद्धात्मज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान है, वही शुद्धात्मा में आचरण रूप या थिरता रूप सम्यक्चारित्र है। आनन्दमय मोक्षमार्ग का प्रकाश सहजानन्द में है। यह सहजानन्द कहीं बाहर नहीं है। यदि इसको पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश-इन पाँच अजीव द्रव्यों में सबमें ढूँढे करना है व पुद्गल की रचित कुर्सी, पलंग, तिपाई, चारपाई, वस्त्र, भोजन, अलङ्कार, बर्तन व मकानादि वस्तुओं में सबमें ढूँढे करना है व चेतन-अचेतन की मिश्रित अवस्था में सबमें

ढूँढे करना है अर्थात् देव, मानव, नारक, तिर्यञ्च गति के मलिन भावों में सबमें ढूँढे करना है, क्रोधादि कषायों में सबमें ढूँढे करना है, गुणस्थानों के विचार में सबमें ढूँढे करना है अर्थात् देव, मानव, नारक, तिर्यञ्चगति के मलिन भावों में सबमें ढूँढे करना है, कर्मबन्ध की प्रक्रिया के विस्तार में सबमें ढूँढे करना है, बन्ध, उदय, सत्ता में व प्रकृति, प्रदेश, अनुभाग व स्थितिबन्ध में सबमें ढूँढे करना है अथवा गति, इन्द्रिय, काय, योगादि चौदह मार्गणाओं के विचार में सबमें ढूँढे करना है तो कहीं भी नहीं मिलेगा। यदि गुण और गुणी के भेद विचार में सबमें ढूँढे करना है तो भी इसका पता नहीं चलेगा।

जब इस सहजानन्द को निश्चयनय की दृष्टि के द्वारा अपनी ही आत्मा में ढूँढा जाता है तब ही इसका पता चलता है। निश्चयनय की दृष्टि दिखलाती है कि यह अपनी ही आत्मा जल में कमलवत् कर्म के बन्धनों से अबन्ध व अस्पृष्ट है तथा यह सदा एक शुद्ध स्वभाव में ही रहती है। यह चञ्चलता रहित परम निश्चल है, तरङ्ग रहित समुद्र के समान थिर है, अपने गुणों का अभेद एक सामान्य पिण्ड है और रागादि भावों के संयोग रहित परम वीतराग है। जैसे अग्नि के संयोग रहित जल शीतल होता है वैसी ही परम शीतल यह आत्मा है।

इस तरह जो कोई भव्य जीव सिद्ध भगवान के समान ही अपनी आत्मा को मानकर-जानकर, उसी में एकतानता प्राप्त करता है, सिद्धों में और अपनी आत्मा के द्रव्य में बिल्कुल सदृशता जानता है और सोऽहं, मंत्र के द्वारा चिन्तवन करने का अभ्यास करता है, वह महान आत्मा सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा का स्वाद पा लेता है। यही सहजानन्द का लाभ है। आत्मा का स्वाद ही सहजानन्दमयी है। जैसे लवण का स्वाद खारापन है, नीम का कटुकपन, मिश्री का मिष्टपन, इमली का

खट्टापन है और आंवले का कषायला है वैसे ही आत्म-द्रव्य का स्वभाव सहजानन्द है। जो सर्व शरणभूत पदार्थों की शरण छोड़कर यहाँ तक कि अरिहन्तादि पाँच परमेष्ठी की भी शरण को त्यागकर एक निज शुद्धात्मा की शरण ग्रहण करता है वही ज्ञानी सहजानन्द को पाकर उसमें मग्न हो जाता है, आप आपमें तल्लीन हो जाता है।

16- अटूट अगाध समुद्र (V.Imp.)

जगत के जीव अशुद्ध हैं, बुभुक्षित हैं, पिपासित हैं। तृष्णा के प्रवाह में बह रहे हैं। कारण यही है कि उनको अपनी स्वाभाविक शक्तियों का विकास प्राप्त नहीं है। वे कर्मोदय के जाल में ग्रसित हैं और अपने स्वभाव को भूले हुए हैं। अनन्तकाल इस अनादि जगत में उनको चार गति की चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हुए हो गया परन्तु उनकी तृष्णा जरा भी शमित नहीं हुई। जैसे खारे जल के पीने से प्यास नहीं बुझती है वैसे इन्द्रिय सम्बन्धी वैषयिक सुख के भोगने से तृष्णा का शमन नहीं होता है।

अनन्तकाल तक यह जीव स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण इन्द्रियों के भोग कर चुका है परन्तु इसकी एक भी इन्द्रियभोग की तृष्णा शमित नहीं हुई है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। खाज खुजाने से बढ़ती ही है, कम नहीं होती है। अज्ञान के कारण संसारी जीव वैषयिक सुख को सुख मान रहे हैं। खेद है कि वे उस सहजानन्द को नहीं पहचान रहे हैं जो उन्हीं की आत्मा की सम्पत्ति है व जो पूर्ण कलश की तरह आत्मा में सर्वत्र व्याप्त है। आत्मा सहजानन्द का सागर है। उस सुखसागर के ऊपर अज्ञान, मोह व तृष्णा का ऐसा जाल बिछा हुआ है जिससे उस अज्ञानी प्राणी को अपने परमामृतमयी सहजानन्द का स्वाद नहीं आता है किन्तु कटुक विष सम वैषयिक सुख का स्वाद आता है।

जैसे मिष्ट जल में यदि लवण मिश्रित हो और उस जल का पान किया जावे तो लवण का ही स्वाद आयेगा, मिष्ट जल का स्वाद नहीं आयेगा, मिष्टता का स्वाद लेने के लिए लवण को दूर करना होगा, वैसे ही आत्मा में भरे हुए सहजानन्द का स्वाद लेने के लिए अज्ञान, मोह व तृष्णा के विकार को हटाना होगा अर्थात् सम्यग्दर्शन का लाभ प्राप्त करना होगा। अपने आप की सच्ची श्रद्धा को जागृत करना होगा। मैं क्या हूँ, मेरा क्या स्वभाव है—इस ज्ञान को प्राप्त करना होगा। निज आत्मा का यथार्थ श्रद्धान, निज आत्मा का यथार्थ ज्ञान व निज आत्मा में यथार्थपने लीनता प्राप्त करनी—यही रत्नत्रय का लाभ है। यही वह उपाय है जिससे सहजानन्दी आत्म-प्रभु के ऊपर पड़े हुए कर्म के आवरण को हटाया जा सकता है।

दीर्घकाल से भटके हुए को अपने स्वभाव की प्रतीति कराना बड़ा ही दुर्लभ है। परन्तु श्री गुरु के उपदेश का यह प्रभाव है जो वज्र मिथ्यात्वी के भी कान खड़े हो जाते हैं। उसकी पहले तो इतनी ही रुचि होती है कि वह आत्मिक उपदेश के सुनने के लिए उत्सुक हो जाता है। फिर उसकी उत्सुकता की डोर जब गुरु के हाथ में आ जाती है तब गुरु ऐसा मनोहर मिष्ट उपदेश देते हैं जिससे वह भक्त धीरे-धीरे अधिक-अधिक खिंचा चला जाता है और उसके भीतर गुरु वचन सुनने की अधिक उत्कण्ठा जागृत हो जाती है वह अपना अधिक समय उपदेश श्रवण में जो लगाता है उसका कारण यह होता है कि श्रीगुरु के मिष्ट उपदेश की चोट हृदय पर लगते ही उसके भीतर सुख-शांति का रस वेदित होने लगता है। जब वह भक्त अपनी पहले की आकुलता का कुछ शमन पाता है तब वह अधिक-अधिक इस उपाय का शरण ग्रहण करता है। आध्यात्मिक ग्रन्थों का भी अवलोकन करता है।

ज्ञानाभ्यास के पुनः पुनः अभ्यास करने से अविद्या की कालस

उसी तरह मिटती जाती है जैसे मैल से काला कपड़ा जल द्वारा बार-बार धोने पर स्वच्छ व उज्ज्वल होता जाता है। इसी तंत्र, मंत्र के अभ्यास से वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है और तब उसे पता चल जाता है कि मैं ही सहजानन्द का वृहत्, अटूट व अगाध समुद्र हूँ। फिर तो वह उसमें गोता लगाता है, उसी का पान करता है और उसी में इसी तरह निवास करता है जिस तरह मच्छ जल के सरोवर में रहता हो। इस सहजानन्द के लाभ से वह जो तृप्ति पाता है वह मन, वचन, तन के विकल्पों से दूर केवल अनुभवगम्य है।

17- सच्ची होली (Nice)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जाल से दूर होकर समताभाव रूपी गुफा में चला जाता है। निश्चयनय की दृष्टि से जब जगत को देखा जाता है तब एकाएक व्यवहार के भेद दृष्टि से अलग हो जाते हैं। स्वामी-सेवक, आचार्य-शिष्य, माता-पुत्री, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, देव-नारक, पशु-मानव, राजा-प्रजा, ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य-शूद्र और पूजक-पूज्य आदि सर्व ही भेद दूर हो जाते हैं। हर जगह सूक्ष्म व बादर अनन्तानन्त जीवों के भीतर अनन्तानन्त शुद्धात्माएँ दृष्टि में आ जाती हैं। जगत भर में सुख-शान्ति का एक समुद्र छा जाता है। इसी को समता का समुद्र कहो या समता की गुफा कहो, इसके भीतर बैठ जाने से आकुलताकारक कषायों का आक्रमण बन्द हो जाता है। न यहाँ क्रोध की कलुषता है, न मान की कठोरता है, न माया की कुटिलता है और न लोभ की मलिनता है। न हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा की अशुद्धता है, न काम विकार की मूर्छा है, न स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कर्ण इन्द्रिय की विष भरी कामनाएँ हैं। कर्म के आस्रव व बन्ध के कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग-सर्व ही का इस समताभाव के संवर भाव से निरोध हो गया है। मन भी

विश्रान्ति में है, वचन भी मौनावलम्बी है, काय भी निश्चल है।

इस समता की गुफा में तिष्ठने वाले को निरन्तर सहजानन्द का स्वाद आता है। इसी को स्वात्मानुभव कहते हैं, इसी को रत्नत्रय की एकता कहते हैं, इसी को मोक्षमार्ग कहते हैं, इसी को तप कहते हैं, इसी को ध्यान की अग्नि कहते हैं। यही अग्नि कर्म ईंधन को जलाती है। इसी को शिव कन्या को वरने का पाणिग्रहण कहते हैं। सहजानन्द ही धर्म है, सहजानन्द ही धर्म का फल है। धन्य हैं वे महात्मा जो सहजानन्द के भीतर मग्न रहते हुए अपने जीवन को सफल करते हैं।

सहजानन्द के लाभ के लिए ही देवगण अष्टाह्निका पर्व में नन्दीश्वर द्वीप में जाते हैं और बावन चैत्यालयों की अष्ट द्रव्यों से माङ्गलिक पूजा करते हैं। पूजा के राग में वीतरागता का दर्शन करते हैं और सहजानन्द का पान करते हैं। ढाई द्वीप के श्रद्धालु नर-नारी भी इन ही दिनों में अपने-अपने धर्मस्थानों में नन्दीश्वर पूजन करके, ध्यानमय अकृत्रिम बिम्बों की स्तुति करके व ध्यान की मुद्रा का स्वनिर्मापित प्रतिमाओं में दर्शन करके सहजानन्द पाने के लिए समता रूपी सरोवर के निकट पहुँच जाते हैं।

जो कोई सहजानन्द पाने के लिए ध्यान की अग्नि जलाते हैं वे ही कर्म-ईंधन को जलाते हुए होली का त्यौहार मनाते हैं। जहाँ कर्मों की होली हो, वैराग्य का रंग छिड़का जावे, सत्य का गुलाल उड़े, स्वानुभव का भंगपान हो, आध्यात्मिक मित्रों से धर्मचर्चा हो वहीं सच्ची होली का त्यौहार है जो सहजानन्द को प्रदान करता है। जो भव्य जीव जीवन का आनन्द लेना चाहें उनको उचित है कि सर्व कर्मों से उपेक्षित होकर सहजानन्द के लिए समता की गुफा में जाकर विश्राम करें और शिवसुन्दरी का मनोहर मुख अवलोकन करके तृप्तता प्राप्त करें।

18- मोह का आक्रमण (V. Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जाल से उदास होकर इस चिन्ता में है कि सहजानन्द कैसे प्राप्त हो ? वह जब ध्यानपूर्वक विचार करता है तो विदित होता है कि सहजानन्द इस आत्मा का निज स्वभाव है। वह आत्मा के सिवाय किसी सूक्ष्म वा स्थूल पुद्गल में, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश वा काल द्रव्य में किसी भी परवस्तु में नहीं है। अब यह आत्मा अपने उपयोग को सर्व पर वस्तुओं से, पर वस्तुओं के गुणों से व पर वस्तु की पर्यायों से समेट करके तथा अन्य आत्माओं से भी निरोध करके केवल अपनी एक आत्मा ही के भीतर जोड़ता है और वहाँ भी गुण व गुणी के भेदविकल्पों को बन्द करके अभेद आत्मा के शुद्ध स्वरूप में एकतानता करता है, तब ही सहजानन्द का स्वाद आ जाता है।

इस संसारी आत्मा के भीतर राहु के समान विकार करने वाला मोहनीय कर्म का परिवार है। क्रोध, मान, माया, लोभ का व हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा व कामभाव का विकार आत्मा के सहज स्वभाव को आच्छादित कर देता है तब सहजानन्द का स्वाद न आकर उसमें से किसी कषाय भाव का ही स्वाद आता है। सहजानन्द पाने के लिए इस मोह के आक्रमण को आत्मबल के द्वारा हटाना होगा। निर्मोह होकर आत्मा के सन्मुख होना होगा। मोक्ष प्राप्त सिद्धात्माओं के उपयोग को स्वस्वरूप से हटाकर परान्मुख करने वाला कोई कर्मोदय का विकार नहीं है इसलिए वे निरन्तर सहजानन्द का भोग करते रहते हैं। 'सिद्ध समान मैं हूँ'-यह श्रद्धा व यही ज्ञान एक सम्यग्दृष्टि को भी सहजानन्द भोग में कारण हो जाते हैं।

संसार दुःख जालमय है। इन्द्रिय सम्बन्धी भोगों का इच्छानुकूल

अलाभ व इष्ट भोगों का वियोग तो दुःख रूप है ही, इन्द्रियों के भोगों का इच्छानुकूल मिलना भी दुःख रूप है क्योंकि इनका भोग क्षणिक तृप्ति देकर आगे के लिए तृष्णा रूपी रोग की वृद्धि का कारण है। अनन्त काल तक इस संसारी जीव ने विषय भोग भोगे हैं परन्तु आज तक यह एक भी इन्द्रिय की तृष्णा को शमन न कर सका, अतएव सांसारिक दुःख और सुख दोनों ही आकुलता का कारण होने से दुःख रूप हैं।

संसार से वैराग्य, शरीर से निर्ममत्व, इन्द्रियभोगों से उदासीनता— इन तीन भावों के होने पर ही उपयोग संसार सम्बन्धी मानसिक विचारों से हटता है और उस स्थान पर जाता है जहाँ सहजानन्द का समुद्र प्रवाहित हो रहा है। संसार उष्ण रूप है, आत्मा शान्त रूप है। संसार आकुलतामय है, आत्मा निराकुल है। संसार मलिन है, आत्मा पवित्र है। संसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमय पंच परिवर्तन स्वरूप है, आत्मा परिवर्तन रहित परम निश्चल है। संसार कर्मफल भोग रूप व कर्मास्रव रूप है, आत्मा कर्मफल रहित व निरास्रव है। संसार राग— द्वेष—मोह रूप है, आत्मा परम वीतराग रूप है। आत्मा ही निर्वाण है, आत्मा ही मोक्ष है, आत्मा ही सार है, आत्मा ही सहजानन्द का समुद्र है। सहजानन्द का इच्छुक इसी निज आत्मा में ही विलास करके परमानन्द का भोग करता है और परम तृप्ति का लाभ करता है।

19- मेरा स्वभाव (Nice)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जाल से निवृत्त होकर 'मैं कौन हूँ'—इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करता है तो उसे विदित होता है कि मैं वह नहीं हूँ जैसा मैं अपने को समझता था। मैं समझता था कि मैं जन्मता हूँ, मैं मरता हूँ, मैं नीच हूँ, मैं ऊँच हूँ, मैं नारकी हूँ, मैं देव हूँ, मैं तिर्यञ्च हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं मोही हूँ, मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी

हूँ, मैं लोभी हूँ, मैं हँसता हूँ, मैं शोकित होता हूँ, मैं भयभीत हूँ, मैं प्रीति करता हूँ, मैं अप्रीति करता हूँ, मैं घृणा करता हूँ, मैं स्त्रीभोग करता हूँ, मैं पुरुषभोग करता हूँ, मैं उपभोग करता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं बालक हूँ, मैं युवा हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मैं मिथ्यात्वी हूँ, मैं सम्यक्त्वी हूँ, मैं गृहस्थ हूँ, मैं ब्रह्मचारी हूँ, मैं साधु हूँ, मैं अप्रमत्त गुणस्थानी हूँ, मैं उपशान्तमोह हूँ, मैं क्षीणमोह हूँ और मैं सयोगकेवली हूँ इत्यादि। अब मेरी सर्व कल्पनाओं का जाल एकदम दूर हो गया है।

मैं अब अपने स्वरूप का, अपने स्वभाव का विचार कर रहा हूँ तो पा रहा हूँ कि मैं इन सब रूप नहीं हूँ। मैं बन्ध तथा मोक्ष की कल्पना से रहित हूँ, संसार और सिद्ध के भेद से शून्य हूँ और सूर्य के समान परम ज्योतिस्वरूप हूँ। मैं न रागी हूँ न द्वेषी हूँ। न मैं जन्मता हूँ न मरता हूँ। मैं सदा अबाधित, अखण्ड, परमानन्दमय, अपने शुद्ध स्वभाव में ही कल्लोल करता हूँ। मैं न मन हूँ, न वचन हूँ, न काय हूँ। मैं मात्र ज्ञाता-दृष्टा, एक अपूर्व अनुपम ऐसा पदार्थ हूँ जिसकी उपमा त्रिलोक में किसी से नहीं हो सकती।

इन्द्रियों की विषय-दाहों से मैं रहित हूँ, मैं अतीन्द्रिय स्वरूप हूँ। आपसे ही आपमें अपने ही लिए अपने द्वारा मैं आपको स्थापित करता हूँ, तब फिर एक अद्वैत भाव में पहुँच जाता हूँ। सर्व कल्पना जाल के पार हो जाता हूँ। उसी समय मैं सहजानन्द का निर्मल स्वाद पाता हूँ। सहजानन्द मेरी निज की सम्पत्ति है। उसे कोई हर नहीं सकता, तोड़ नहीं सकता, नाश नहीं कर सकता। सहजानन्द ही वह अमृत है जो मुझे अजर-अमर रखता है। मैं आकाश के समान निर्लेप हूँ, वायु के समान असंग हूँ, अग्नि के समान जाज्वल्यमान हूँ, चन्द्रमा के समान परम शीतल हूँ, कमल के समान परम प्रफुल्लित हूँ और सूर्य

के समान परम तेजस्वी हूँ। मैं ही परमात्मा, ईश्वर, भगवान, निरंजन, निर्विकार और सत् रूप एक अमूर्तिक पदार्थ हूँ।

कर्मों का नाटक नाना प्रकार के दृश्य दिखलाता है। मैं उनसे हर्षित व शोकित नहीं होता हूँ। यद्यपि मैं उन्हें मात्र जानता हूँ तथापि उपेक्षा भाव रखता हूँ। न मुझे मुक्ति प्राप्त करनी है, न तप व जप करना है। मैं सब कर्तृत्व से परे और पर के भोक्तृत्व से परे अपने सहज स्वभाव ही में रमण करने वाला व आपसे आपमें ही सहजानन्द का पान करने वाला हूँ। मेरी स्वानुभूति मेरे पास है। मैं उसी का धनी परम सन्तोषी हूँ।

20- आत्मदेव-पूजा

एक ज्ञानी भव में रहता हुआ अपने को भवरहित अनुभव कर रहा है। भेदविज्ञान के प्रताप से वह जानता है कि मैं आत्मा हूँ और मेरा किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध अनात्मा से नहीं है। अनात्मा के सम्बन्ध को लेकर जगत में नर, नारक, पशु और मानव आदि नाम प्रसिद्ध हैं व मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र आदि अयोगीपर्यन्त गुणस्थान कहे गए हैं। एकेन्द्रिय आदि चौदह जीवसमासों के नाम हैं। गति, इन्द्रिय, काय, योग आदि मार्गणाओं के भेद हैं। प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग चार प्रकार के बन्ध हैं। संसार व मोक्ष की सारी प्रक्रिया पर के संयोग को लेकर है। यदि एक अकेली आत्मा की तरफ ही दृष्टि डाली जावे तो विदित होगा कि यह आत्मा आप एक अकेली है। किसी अन्य आत्मा से भी इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस अकेली आत्मा को ही परमात्मा, ईश्वर, प्रभु, सर्वज्ञ, वीतराग और सर्वदर्शी आदि नामों से कहा जाता है। ये सर्व नाम की संज्ञाएँ भी कल्पित हैं।

यह आत्मा तो सर्व कल्पनाओं से रहित है। यह परम शुद्ध

चैतन्यमय एक अनुपम पदार्थ है। जगत में सूर्य, चन्द्रमा, रत्न आदि अमूल्य पदार्थ हैं पर वे सब स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णमय होने से पौद्गलिक हैं। अमूर्तिक आत्मा से इनकी सदृशता कदापि नहीं हो सकती। आत्मा ही मेरा घर है, वही मेरी शय्या है, वहीं मैं विश्राम करता हूँ। आत्मा ही मेरा आनन्दमय भोजनपान है, उसे मैं खाता-पीता हूँ। आत्मा ही मेरा चिदाकार बहुमूल्य वस्त्र है, उसे ही मैं पहनता-ओढ़ता हूँ। आत्मा ही में मेरा सर्व विश्व है। मैं अपनी आत्मा ही में सर्वात्मा पाता हूँ। आत्मा ही वह दर्पण है जहाँ पूर्ण निर्मलता है, निर्विकारपना है।

सहजानन्द आत्मा का ही स्वभाव है। सहजानन्द प्राप्त करने का प्रेमी एक अपनी ही सहज आत्मा के स्वभाव में एकाग्र होता है। उसे ही देव मानकर पूजता है, उसे ही प्रभु मानके उसकी सेवा करता है। उसे ही अपना एक क्रीड़ाघर मानके उसी में कल्लोल करता है। वही एक अपूर्व उपवन है जिसकी शोभा का निरीक्षण उसे आत्मा का परमानन्द प्रदान करता है यह उसी में मगन हो परम सन्तोषित हो जाता है।

21- आत्मा भण्डारी (V. Imp.)

ज्ञाता-दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व प्रपञ्च जाल से शून्य होकर जब एकान्त में अपने भीतर कल्लोल करता है तब एकाएक सहजानन्द में डूब जाता है। सहजानन्द एक ऐसा गुण है जो आत्म-द्रव्य में सर्वत्र वैसे ही व्यापक है जैसे इक्षु में मिष्टरस व्यापक रहता है, लवण में लवणता सर्व व्यापक है और नीम में कटुकता सर्व व्यापक है। सहजानन्द का वर्णन हो नहीं सकता, वह मात्र अनुभवगम्य है। इस आनन्द के भोग को कोई व्यक्ति अनन्तकाल भी भोगे तब भी उसको थकान प्राप्त नहीं हो सकती है। इस आनन्द का लाभ मिथ्यादृष्टि को

होना दुर्लभ है। जिसको अमृत कूप का पता नहीं वह अमृत का लाभ कैसे पा सकता है! मिथ्यादृष्टि आनन्दसागर आत्मा के पते से शून्य है।

प्रश्न है कि आत्मा का पता कैसे लगे? जब किसी को श्रीगुरु का समागम होता है या वह जिनवाणी का मनन करता है तब उसका अनादिकाल का भ्रम निकल जाता है। पहले वह मानता था कि मैं रागी-द्वेषी हूँ, नर, पशु, नारकी देव हूँ, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौन्द्रिय व पञ्चेन्द्रिय हूँ तथा कर्मजनित पर्यायों में, अशुद्ध अवस्थाओं में और विकारी भावों में आत्मपने की प्रतीति कर रहा था। अब उसे यह बोध हो जाता है कि आत्मद्रव्य का यह वास्तविक स्वरूप नहीं है, यह तो परकृत उपाधि है। उपाधिजन्य विकार को असली मानना वैसा ही मिथ्याभाव है जैसे उष्ण पानी को स्वाभाविक पानी मानना, रंगीन वस्त्र को असली वस्त्र मानना और पत्रे रत्न के समान दिखने वाली स्फटिकमणि को पन्नारत्न मान लेना।

जैसे पानी स्वभाव से शीतल है, वस्त्र स्वभाव से सफेद है और स्फटिकमणि स्वभाव से पर वर्ण रहित निर्मल है, वैसे ही आत्मा सर्व उपाधि से रहित, शुद्ध, निर्मल, अमूर्तिक और ज्ञानानन्दमय एक निराकुल पदार्थ है। उसे ही परमात्मा, सिद्ध, भगवान, जिनवर, पूज्य, ध्येय, निरञ्जन, निर्द्वन्द्व, अखण्ड, अजर-अमर, अव्याबाध, आकाश तुल्य, निर्लेप व सहजानन्दी कहते हैं। इस प्रकार का बोध होने पर जब मिथ्यादृष्टि सरलभाव से नित्य प्रति अपने वास्तविक सच्चे स्वभाव का मनन करता है, अभ्यास करता है तब परिणामों में उज्ज्वलता होती जाती है, अन्धकार मिटता जाता है तथा तत्त्व मनन से एक समय आ जाता है जब सम्यग्दर्शन के बाधक कर्मों का असर बन्द हो जाता है और एकाएक आत्मप्रतीति जागृत हो जाती है। मैं सिद्ध सम शुद्ध हूँ, मेरा द्रव्य स्वभाव कभी कहीं गया नहीं, जायेगा नहीं

और न कभी छूटा है, द्रव्यरूप जैसे का तैसा है। इस अपने द्रव्य के स्वभाव में जो कोई अपने उपयोग को जोड़ता है वह तुरन्त सहजानन्द को पा लेता है। आप ही उसका भण्डार है, आप ही भण्डारी है, आप ही ग्रहण योग्य है, आप ही अमृतरस है, आप ही अमृतरस का पान है। इस भेद को पहचानने वाला व्यक्ति अपने स्वरूप की तरफ सन्मुखता रखता है, उसी के भीतर आपको लगाता है और अपने जीवन को सफल बनाते हुए सहजानन्द को पाकर परम सुखी हो जाता है।

22- सच्चा जैनत्व (V. Imp.)

एक ज्ञानी भव्य जीव अपनी भव्यता को जब विचारता है तब उसको पता चलता है कि मैं स्वयं शुद्ध एकाकी आत्म द्रव्य हूँ, सूर्यसम स्व-पर प्रकाशक हूँ, सर्वज्ञ वीतराग निर्द्वन्द्व हूँ, परमानन्द से परिपूर्ण हूँ और कर्मसंयोग जनित सर्व अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग अवस्थाएँ आत्मा का निज स्वभाव नहीं है। ऐसा आप होते हुए भी अनादिकालीन अज्ञान से इसने यह मान रखा था कि मैं कुछ और ही हूँ। इस आत्मा का सम्बन्ध स्वात्मीय गुणों से ही है। गुण और गुणी में एकता है। वास्तव में सर्व गुण स्वगुणी में तन्मय और अखण्ड होते हैं। समझने के लिए भेद किया जाता है। स्वस्वरूप को न समझकर सुख के खोजी इस प्राणी ने इन्द्रिय-विषयजनित क्षणभंगुर व पराधीन सुख को ही सुख माना तथा अनादिकाल से इसी सुख की तृष्णा से आकुल-व्याकुल रहा। नाना प्रकार पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषयभोग सामग्री को एकत्रित करता रहा। उसके लिए न्याय-अन्याय, हिंसा-अहिंसा का भी ख्याल छोड़ दिया। प्रचुर धन मिलाकर इच्छित भोगों का संग्रह किया और उनको भोगता रहा परन्तु तृप्त नहीं हुआ। एकाएक आयुकर्म के क्षय से शरीर को त्यागना पड़ा। अन्य गति में फिर वही इन्द्रिय चाह की दाह में जलता रहकर इन्द्रिय सुख से तृप्ति पाने का

उद्यम करता रहा परन्तु अन्त में निराश ही हुआ। इस तरह अनन्त काल बीत गया परन्तु यह चाह की दाह का शमन नहीं कर सका।

‘मैं कौन हूँ’, इसका ठीक-ठीक पता न पाने से इसकी यह घोर अज्ञानमूलक दशा हुई। अब श्री गुरु के प्रताप से इसने अपने को समझा, इसका भ्रम मिटा। ‘मैं ही सहजानन्द समूह हूँ’-यह प्रतीति दृढ़ हुई, विषयसुख की श्रद्धा मिटी, ‘पर संयोग से सुख होगा’-यह भावना हटी, सर्व से वैराग्य उत्पन्न हो गया, ‘कोई अपना नहीं है’-यह आकिञ्चन्य भाव जग उठा, जैसा आप पर से निराला है वैसा प्रत्येक आत्मा पर से निराला है और सर्व ही शुद्ध बुद्ध परमात्मा रूप हैं-इस ज्ञान ने अज्ञानमूलक राग-द्वेष को दूर कर दिया और परम समताभाव पाने की कला हाथ में आ गयी।

अब यह सहजानन्द के लिए पर वस्तु का मुख नहीं ताकता वरन् अपने ही भीतर झाँकता है। सूक्ष्म ज्ञान दृष्टि से जब झाँकता है तब भीतर अपने ही स्वच्छ स्वात्म-निवास में प्रवेश पाता है। प्रवेश पाते ही सहजानन्द का लाभ हो जाता है। जैसे शान्त शीतल सरोवर के निकट जाते ही व उसमें मज्जन करते ही आताप मिट जाता है व शीतलता छा जाती है, उसी तरह आत्मामय सहज ज्ञान सरोवर के निकट आते ही व उसमें मज्जन करते ही भवाताप-तृष्णा का सन्ताप मिट जाता है और सहजानन्द का अपूर्व स्वाद आता है।

इस सहजानन्द के भोग से यह भव्य जीव अपनी भव्यता को चरितार्थ करता हुआ सहज ही में सहज सुख को पाकर अपने को बन्ध से रहित मुक्त-परम आत्मा ही समझता है। इस सहजानन्द के भोग से एक अपूर्व ध्यान की अग्नि प्रज्वलित हो जाती है जो आत्मा के भीतर सञ्चित कर्म मैल को जला देती है। वास्तव में जहाँ सहजानन्द

का भोग है वहीं मोक्षमार्ग है, वहीं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमयी रत्नत्रय की एकता है, वहीं जैनत्व है, वहीं निर्ग्रन्थत्व है, वहीं सहज समाधि है, वहीं सिद्धपद है, वहीं अरहन्त पद है और वहीं आचार्य, उपाध्याय व साधु का पद है। यह सहजानन्द का लाभ ही परम मङ्गल है।

23- आत्मिक भण्डार (V.Nice)

ज्ञाता-दृष्टा एक आत्मा सर्व प्रपञ्च जाल से रहित हो, जब एकान्त सेवन करता हुआ निज आत्मिक तत्त्व का निरीक्षण करता है तब यह पाता है कि वह तत्त्व पूर्णपने आनन्द गुण से भरपूर है। सहजानन्द उस आत्मा का स्वभाव है। आत्मा के मार्ग से बाहर रहकर इस कुमार्गगामी व्यक्ति ने उस आनन्द के लेने का प्रयास नहीं किया इसीलिए यह चिरकाल से दुःखित रहा। श्रीगुरु के उपदेश के प्रताप से इसे अपना स्वरूप झलक गया कि मैं ही सहजानन्द स्वरूप परमात्मा हूँ, मैं ही ज्ञातादृष्टा अविनाशी अमूर्तिक एक शुद्ध पदार्थ हूँ।

जिसकी मैं भक्ति करता था वह मैं ही हूँ, जिसकी मैं खोज करता था वह भी मैं ही हूँ। जिसकी शरण के भीतर जाकर मैं सब आकुलताओं से बचना चाहता था वह परम शरण रूप मैं ही एक निराकुल धाम हूँ। जिसकी छत्रछाया में बैठने से कर्म-शत्रुओं का आक्रमण नहीं हो सकता वह मैं ही अनन्त बली वीर आत्मा हूँ। जिसको जरा नहीं, जन्म नहीं, मरण नहीं, शोक नहीं, वियोग नहीं, खेद नहीं, क्षुधा नहीं, तृषा नहीं वह निर्दोष वीतराग प्रभु मैं ही हूँ। जिसका नाम नहीं, जिसका गुणों का भेद नहीं, जिसके भीतर कोई विकार नहीं वह निर्विकार अद्भुत पदार्थ मैं ही तो हूँ। जिसके ध्यान से सुख-शान्ति का विस्तार होता है वह अनुपम ध्येय पदार्थ मैं ही तो हूँ। जिसके लिए अनेक मन्दिर बनवाये जाते हैं, प्रतिमाएँ स्थापित

की जाती हैं, तीर्थस्थान स्थापित किये जाते हैं और बड़ी-बड़ी तीर्थयात्राएँ की जाती हैं, वह परम पूजनीय देव मैं ही तो हूँ।

जिसको आठ द्रव्यों से पूजकर भक्तजन जन्म, जरा, मरण के निवारण की, भवाताप शमन की, अक्षय गुण-लाभ की, काम-विकार शमन की, क्षुधा रोग निवारण की, मोह अन्धकार दूर करने की, आठ कर्म जलाने की और मोक्षफल प्राप्ति की भावनाएँ भाते हैं वह परम पुरुष परमात्मा मैं ही तो हूँ। जिसकी भक्ति के लिए इन्द्रगण व देवगण आकर माता की सेवा करते हैं, ऐरावत हाथी पर बैठाकर सुमेरु पर्वत पर ले जाते हैं व क्षीरसमुद्र के जल से अभिषेक करके फिर लौटकर माता-पिता की भक्ति करते हैं, उनको आनन्द नाटक दिखाते हैं, पालकी में बैठाकर वन में ले जाते हैं तथा समवसरण की रचना करके बारह सभाएँ सजाते हैं व गन्धकुटी बनाते हैं व निर्वाण समय की पूजन करके निर्वाण स्थान को अङ्कित करते हैं, वह माननीय सिद्ध परमात्मा मैं ही तो हूँ।

इस प्रकार का जागृत भाव आते ही संसारासक्ति का सर्व तम विघट जाता है, इन्द्रिय विषयों की चाह की दाह शमन हो जाती है, परम पुरुषार्थ सामने खड़ा हो जाता है और यह ज्ञानी सहजानन्द का भली प्रकार पता पा लेता है। तब यह जब चाहे तब उस आनन्द को लेता हुआ परम सन्तोष को पाता रहता है। अपने ही पास के अपूर्व भण्डार को मिथ्यात्वी ने आज तक नहीं देखा उसका दर्शन सम्यक्त्वी जीव करके अपने को कृतार्थ मानता है और सहजानन्द के रसास्वाद में जल में मत्स्यवत् निमग्न हो जाता है।

24- आनन्दसागर में मग्नता (Nice)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्चों से रहित होकर इस बात की खोज में है कि सहजानन्द का लाभ हो। श्रीगुरु के उपदेश से व शास्त्रावलोकन

से व युक्तिपूर्वक विचार से यह निर्णय उसकी बुद्धि में हो चुका है कि सहजानन्द अपनी ही आत्मा का स्वभाव है तथा वह अपने से ही अपने भीतर मिल सकता है। प्रयत्न करने की यह जरूरत है कि इस मानव के साथ जो मन-वचन-काय हैं और जिनके भीतर निरन्तर चञ्चलता रहा करती है जिससे इनके प्रदेशों के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहने वाला आत्मा भी चञ्चल हो जाता है वे कैसे थिर हों क्योंकि चञ्चलता में सहजानन्द कहाँ! सहजानन्द तो थिरता में है।

इन तीन बाधकों में मुख्य बाधक मन है। यह नाना प्रकार के विषयों की थिरता में रमा करता है, नाना प्रकार के कार्यों में लग्न रहता है। शरीर व शरीर के सम्बन्धियों का विचार करता है। इच्छित विषयों की प्राप्ति का, उनकी रक्षा का, उनके वियोग की चिन्ता का व अनिष्ट के संयोग की चिन्ता का व नाना प्रकार के शारीरिक रोगों का, क्षुधा-तृषा वेदना आदि का, विरोधी व्यक्तियों को कष्ट पहुँचाने का, इष्ट विषयों की प्राप्ति के लिए मृषा बोलने का, अदत्त के ग्रहण का, कुशील सेवन का, धनादि परिग्रह के संग्रह करने का, एक विषय को छोड़ दूसरे विषय के भोगने का, परनिन्दा में अनुमोदित होने का और स्वप्रशंसा में राजी रहने का विचार रात-दिन किया करता है। इस मन की सम्पूर्ण कल्पनाओं को मिटाने का उपाय इसे अध्यात्म व आगम के विचार में जोड़ देना है और आत्मा के स्वरूप के विचार में लगा देना है। यह आत्मा निश्चय से ज्ञाता-दृष्टा अविनाशी है, अमूर्तिक है, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से रहित है और सहजानन्द स्वरूप है। इसे आत्मतत्त्व के पुनः पुनः विचार में उसी तरह जोड़ देना चाहिए जिस तरह एक बन्दर को किसी एक खम्भे में बाँध देते हैं और वह उसी पर चढ़ा व उतरा करता है।

आध्यात्मिक विचार में जोड़ देने से इसके भीतर में अनात्म विचारों

के होने का मार्ग बन्द हो जायेगा और तब यह आत्म विचार करता-करता कभी भी एक क्षण के भीतर निश्चलता भजेगा और आप आप में थिरीभूतपना रूप चारित्र का लाभ प्राप्त कर लेगा। तब मन-वचन-काय उतने क्षण के लिए थिर हो जायेंगे और बुद्धिपूर्वक कोई चञ्चलता न होगी। यही वह काल है जब आत्मा आत्मा की तरफ आकर्षित होता हुआ उसी का स्वाद लेगा और तब सहज ही सहजानन्द का भोग प्राप्त हो जाएगा। जब तक सहजानन्द के सागर आत्मा के भीतर मग्नता न होगी, उसी समुद्र के शान्त का रस पान न किया जायेगा तब तक सहजानन्द का स्वाद नहीं आयेगा। जिसे इस आनन्द का मजा लेना हो उसको यह उचित है कि मन-वचन-काय के सर्व आरम्भ छोड़कर आत्मा के ही उपवन में क्रीड़ा करके सन्तोषित रहे।

25- सच्चे निर्ग्रन्थ (V. Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा एकान्त में बैठकर सुख धर्म की समालोचना करता है। वह इन्द्रियजनित सुख को आकुलताकारी, अतृप्तिवर्द्धक और आत्मा को कलुषित करने वाला पाता है। अनन्त काल हो गया इस संसारी प्राणी की एक भी इन्द्रिय की कामना तृप्त नहीं हुई। यह दिन-रात भूखा ही बना रहा है। वास्तव में यह सुख नहीं है, सुखाभास है। सच्चा सुख सहजानन्द है जो इस आत्मा का निज स्वभाव है। इसका लाभ उसी व्यक्ति को होता है जो निज आत्मा को पहिचानकर व उसकी श्रद्धा लाकर उसकी सेवा करता है। आत्माराधना ही सहजानन्द को प्रदान करती है। पर की आराधना त्यागे बिना आत्माराधना नहीं हो सकती है अतएव इस उपयोगवान आत्मा को उचित है कि तन, मन, धन, कुटुम्ब, परिवार सबकी आराधना छोड़े, इन्द्रियों की आराधना त्यागे, मन के विचारों की आराधना त्यागे, मन-वचन-काय तीनों के कामों से विरक्त हो जावे और इन

तीनों के भीतर से केवल निज आत्मा के भीतर प्रवेश करे। आत्मा सहजानन्द का समुद्र है। आत्मा में स्थान पाते ही सहजानन्द का स्वाद आ जाता है।

आत्मा जो भौतिक दृष्टि का विषय नहीं केवल मात्र ज्ञान दृष्टि का विषय है, उसको किस तरह ग्रहण किया जावे ? अनुभव में आने वाले सर्व ही ज्ञान को, सर्व ही ज्ञेयों को, सर्व ही सुख को, सर्व ही दुःख को, सर्व ही संस्कारों को, सर्व ही कर्मबन्ध के प्रकारों को, सर्व ही कर्मों के फल को, सर्व ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के रूपों को, सर्व ही अणु व स्कन्धों के आकारों को, सर्व ही द्रव्यों के गुणों को, सर्व ही द्रव्यों की पर्यायों को, अपनी ही आत्मा के भेद रूप गुणों को व भेद रूप पर्यायों को लक्ष्य में जब न लिया जावे और पर से शून्य भाव की प्राप्ति की जावे तब एकाएक आत्मा का अनुभव हो जाता है।

जिसका अनुभव करना है, वह आप ही है। परवस्तु के विचार सम्बन्धी मेघों के आवरणों को हटाने की आवश्यकता है। पर से भिन्न मैं आप एक अकेला अमूर्तिक, अविनाशी, ज्ञानदर्शन लक्षणधारी परमात्मा हूँ। यही मनन चिरकाल तक किए जाने की आवश्यकता है। दीर्घकाल के मनन से ही वृत्ति पर से निवृत्त होकर आप में प्रवृत्ति करने को समर्थ होती है। अपना आत्मा रूपी रत्न बहुत ही सूक्ष्म है परन्तु अजीव सम्बन्धी बड़े भारी समुदाय के भीतर छिपा हुआ है। खोजी को उचित है कि वीतराग विज्ञानमयी लक्षण को समझकर इस लक्षण पर दृष्टि धरकर उससे जो न मिले उन सब अलक्ष्यों को भावों की सन्मुखता से हटावे और अपने लक्षण पर स्थिर रहकर उस लक्षण विशिष्ट आत्मा रूपी अपने द्रव्य को देखे।

सहजानन्द का लाभ ही धर्म के सेवन का फल है। मानव जीवन

की सफलता भी इसी लाभ में है। सम्राट हो या एक निर्धन पामर मानव हो, निरोगी हो या रोगाक्रान्त मानव हो, बहु कुटुम्ब सहित हो या अकेला हो, नगर में हो, ग्राम में हो या राजधानी में हो, थल पर हो, जल पर हो या आकाश की वायु में हो, ऊपर हो, मध्य में हो या नीचे हो, दिन में हो, रात्रि में हो या सवेरे-दोपहर या सांझ में हो, हर एक आत्मान्वेषी व्यक्ति हर एक दशा में सहजानन्द को पाकर परम सुखी हो सकता है। जिसने इस अमृत को पा लिया वही अमर हो जाता है। बिना इस अमृत के कोई आज तक अमर हुआ नहीं, होगा नहीं। धन्य हैं वे सन्त महात्मा जो सहजानन्द का स्वाद लेते हुए अपने जीवन को आदर्श बनाते हैं। वे ही श्री जिनेन्द्र के सच्चे दास हैं, वे ही निर्ग्रन्थ या जैन हैं।

26- स्वानुभव जल (V.V.Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व सङ्कल्प-विकल्पों को त्यागकर एकान्तसेवी हो जाता है और सहजानन्द के भोगने के लिए लालायित हो जाता है। सहजानन्द कहीं अन्यत्र नहीं है, आत्मा में है, आत्मा का एक गुण ही है। जो आत्मा आत्मा में ही जमेगा वह सहजानन्द को पाएगा। आत्मा की तरफ लक्ष्य का जाना तब ही सम्भव हो सकता है जब अपना लक्ष्य और सब बातों से हटकर एक आत्मा पर ही जम जावे। वह बहुत बड़ा कठिन काम है। आत्मा से निराले आठों कर्म हैं और आठों कर्म के उदय रूप प्रगट फल हैं। आत्मा से भिन्न मन है और मन के त्रिकाल सम्बन्धी सङ्कल्प-विकल्प हैं। वचन और काय की क्रियाएँ तो आत्मा से भिन्न हैं ही। कर्म के उदय से जो आत्मा के विकारी भाव होते हैं वे भी आत्मा नहीं हैं। आत्मा उन सर्व अनुभवों से अलग है जो मन के द्वारा तर्क में आते रहते हैं। मनातीत अवस्था हो तब कहीं आत्मा की तरफ लक्ष्य जावे।

साधक का यह पवित्र कर्तव्य है कि वह मन के भीतर प्रवेश करके फिर मन के भीतर से उल्लंघन कर किसी ऐसे सूक्ष्म पदार्थ पर चला जावे जो आप ही स्वयं है व जिसका कथन होना अशक्य है व जिसका मन से विचार होना अशक्य है। यद्यपि जो वचन, मन, काय से अतीत है उधर लक्ष्य का जाना बड़ा ही दुर्निवार है तथापि जिसको लक्ष्य में लाना है वह आप ही तो है अतएव अपने आप को मन-वचन-काय की किसी भी क्रिया में उपयुक्त न कराया जावे। इस बात का अभ्यास किया जावे कि यह अपने से अपनी झाँकी कर सके। सर्व जगत की प्रपञ्च रचना से वह निराला है। अतएव जो कोई विश्व प्रपञ्च से वैराग्ययुक्त होगा वही इस प्रपञ्च से अतीत निर्मल आत्मस्वरूप का दर्शन करेगा।

जैसे किसी के घर के पास ही सरोवर है और वह बड़े ही मीठे जल से परिपूर्ण है। उस जल का स्वाद तब ही आयेगा जब सरोवर के मिष्ट रस का प्रेमी सर्व ओर से हटकर सीधा सरोवर के निकट आयेगा और बड़े भाव से सरोवर के जल को पात्र में भरके व छानकर उस जल का पान करेगा। वैसे ही जो सहजानन्द का इच्छुक है उसको उचित है कि श्रुत के आधार से आत्मा का सत्य केवल शुद्ध स्वभाव क्या है-इस बात को जाने, जानकर उसकी श्रद्धा लावे और उसका श्रद्धावान होकर यही मनन करे कि वही मैं हूँ, उसके सिवाय मैं कुछ नहीं हूँ। इसका मनन निरन्तर करना ही उस आत्मिक सरोवर के निकट पहुँचने का उद्यम करना है। इस अभ्यास को सतत करते रहने से अकस्मात् एक समय आता है जब आत्मा उस सरोवर के बिल्कुल निकट पहुँचकर उसके स्वानुभव रूपी जल का पान करता है। वही जलपान सहजानन्द के स्वाद को अर्पण करता है। यही मोक्षमार्ग है जहाँ स्वात्मानन्द का स्वाद मिलता है तथा यही मोक्ष है।

27- सच्चा जौहरी (V. Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च से रहित होकर एकान्त में विचार करता है तो उसे यह सर्व जगत का ठाठ क्षणभंगुर दिखता है। सांसारिक सुख जिन पदार्थों के आधीन होता है वे पदार्थ सब क्षणभंगुर हैं इसलिए उनके आधीन सुख भी क्षणभंगुर है। अतएव जो इस झूठे सुख की तरफ रञ्जायमान होते हैं उनको सदा ही आकुलता बनी रहती है। अनन्त संसार में विषयासक्त को कभी भी शान्ति नहीं मिल सकती है। मोह के कारण भ्रम से मोही जीव विषय सुख को सुख मान लेते हैं। उनको उस सच्चे आध्यात्मिक सुख का पता नहीं है जो अपनी ही आत्मा का स्वभाव है।

श्रीगुरु के उपदेश के प्रताप से जो अपनी आत्मा के स्वभाव को पहचान लेता है उसे सच्चे सहजानन्द के सागर का पता लग जाता है। फिर वह जब चाहे तब उसी सागर में गोता लगाकर व उसी आनन्द के अमृत का पान कर परम सुख शान्ति का लाभ करता है। आत्मा की तरफ दृष्टि ले जाने के लिए यह उचित है कि निज आत्मा से भिन्न सर्व ही पदार्थों से दृष्टि को सङ्कोच लिया जावे तथा ऐसी अवस्था प्राप्त की जावे जहाँ आप ही देखने वाला हो व आप ही देखने योग्य हो, आप ही ध्याता हो व आप ही ध्यान के योग्य हो, आप ही ज्ञाता हो व आप ही जानने योग्य हो, आप ही भोक्ता हो व आप ही भोगने योग्य हो, जहाँ पर का किञ्चित् भी सम्बन्ध न रहे और अपना सर्वस्व आपको ही अर्पण किया जावे। यह अवस्था तब ही आती है जब सम्यग्दर्शन गुण आत्मा में प्रगट हो जाता है, जिसके बल से पूर्ण सत्य ज्ञान व पूर्ण सत्य वैराग्य हो जाता है, सहजानन्द का ही श्रद्धान जम जाता है और विषयानन्द का श्रद्धान मिट जाता है।

सतत मनन करते रहने से, बार-बार तत्त्व के अभ्यास से निज

तत्त्व सन्मुख आ जाता है और परतत्त्व दृष्टि से दूर चला जाता है। जौहरी के समान रत्नपरीक्षक होना ही रत्न के लाभ का उपाय है। आत्मरत्न का परीक्षक सम्यग्दृष्टि आत्मरत्न को बड़ी सुगमता से प्राप्त कर लेता है। वह कभी धोखे में नहीं पड़ता है। वह कभी असत् द्रव्य, गुण, पर्याय को आत्मा नहीं कल्पता है। निजात्मा को ही आत्मा जानता हुआ वह ज्ञानी सहजानन्द का प्रेमी रहता हुआ जब चाहे तब सहजानन्द का भोग कर सकता है।

मोक्ष भाव में जो सहजानन्द है वही सहजानन्द मोक्षमार्गी को भी प्राप्त होता है। सहजानन्द के उत्सुक को उचित है कि निश्चयनय की दृष्टि से जगत को शुद्ध, नित्य, निश्चल देखे तब सर्व आत्माएँ अनात्माओं से भिन्न, एक रूप, शुद्ध, शान्त और आनन्दमय दिख पड़ेंगी तथा राग-द्वेष की कालिमा मिटा जायेगी। फिर जब भावना का स्रोत बन्द होगा तब यह अपने ही भीतर आपको जमाता हुआ सहजानन्द का भोक्ता हो जायेगा।

28- सच्चे श्रमण

एक ज्ञानी आत्मा एकान्त में बैठा हुआ जब अपने द्रव्य की तरफ लक्ष्य दे रहा है तब उसको अपने सामने एक शुद्ध आत्म द्रव्य नजर आ रहा है जिसमें कोई भी सम्बन्ध किसी अन्य द्रव्य का नहीं है। न अन्य आत्मा का सम्बन्ध है, न पुद्गल के किसी परमाणु व स्कन्ध का सम्बन्ध है, न धर्मद्रव्य, न अधर्म द्रव्य, न आकाश और न कालाणुओं का सम्बन्ध है। जब पुद्गल का कोई सम्बन्ध आत्मा से नहीं है तब पुद्गल संयोगजनित भाव विकारों का भी कोई सम्बन्ध आत्मा से नहीं है। अतएव इस अपनी आत्मा में न अजीव है, न आस्रव है, न बन्ध है, न संवर है, न निर्जरा है और न मोक्ष तत्त्व है।

न इसमें मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यक्त्व, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म साम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली गुणस्थान हैं। न इसमें अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु - इन पाँच परमेष्ठियों के भेद हैं न इसमें पाँच स्थावर और त्रस के भेद हैं। न यहाँ देश संयम की कल्पना है। न यहाँ दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रौषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग, उद्दिष्टत्याग-इन ग्यारह प्रतिमाओं के भेद हैं।

न यहाँ सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात चारित्र के भेद हैं। और तो क्या, इस आत्मद्रव्य में गुण-गुणी के भेद भी नहीं हैं अर्थात् आत्मा ज्ञानस्वरूप है, दर्शनस्वरूप है, सुख गुणरूप है, सम्यक्त्व गुणस्वरूप है, चारित्ररूप है, वीर्यमयी है, अस्तिरूप है, वस्तुरूप है, प्रदेश स्वरूप है इत्यादि भेदकल्पनाओं से मुक्त यह अभेद एक अखण्ड पदार्थ है।

इस अपने ही आत्मद्रव्य की सत्ता में विश्राम करना, इसी में सन्तोष प्राप्त करना, इसी को अपना सर्वस्व समझना, इसी में रमण करना, इसी में भोक्ता-भोग्य भाव रखना सहजानन्द पाने का उपाय है। यह आत्म पदार्थ सहजानन्द का सागर है। पूर्ण कलश की तरह सहजानन्द से भरपूर है। इसी शुद्ध पदार्थ का लक्ष्यबिन्दु रखना अपना परम कर्तव्य है। जीवन को सफल बनाने का उपाय सहजानन्द का भोग है। ऐसा भोगी पर पदार्थों के भोगों के लिए आतुर नहीं होता है। जिसको अमृतपान का स्वाद आ गया वह उससे कम स्वादवाले पान का प्रेमी कैसे बना रह सकता है!

सम्यग्दृष्टि वही है जो इस सहजानन्द को व इसके स्रोत को

पहचाने। सहजानन्द के भोगी ही सच्चे योगी हैं, साधु हैं, तपस्वी हैं, महात्मा हैं। परमात्मा भी निरन्तर सहजानन्द का भोग करते हैं। जहाँ इस अपने आनन्द का भोग है वहाँ परम साम्यभाव झलकता है और रागद्वेषादि कालिमाओं का जरा भी झलकाव नहीं रहता है। वास्तव में जो सहजानन्द के ज्ञाता हैं वे ही श्रमण हैं और वे ही जगत्पूज्य व वन्दनीय हैं।

29- त्रिगुणमयी किला (V. Imp.)

ज्ञाता-दृष्टा अविनाशी आत्मा सर्व प्रपञ्च जालों से रहित होकर अपने आपमें निवास करता है। उसने भली प्रकार देख लिया है कि अपने से बाहर रहने में कहीं भी सुख-शान्ति नहीं मिल सकती है। अनादि काल से लेकर इस जीव ने निगोद पर्याय से लेकर नौ ग्रैवेयकपर्यन्त नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य व देवगति के अनन्त ही भव धारण किये व बार-बार इन्द्रियों के विषयभोग भोगे परन्तु कहीं पर भी तृप्ति व सुख-शान्ति का लाभ नहीं हुआ।

जैसे चमकती बालू को जल समझकर पीने के लिए दौड़ने पर मृग को निराशा ही होती है, उसी तरह इस जीव को अपनी आत्मा से बाहर पर पदार्थ में सुख की आशा से दौड़ने पर निराशा ही होती है। अपने ही पास सहजानन्द है, कहीं दूर नहीं है। खेद यह है कि मोह के नशे में बेखबर होकर अपने से बाहर-बाहर ढूँढ़ता है, अपने भीतर जरा भी दृष्टिपात नहीं करता है। पाँच इन्द्रियाँ और मन - इन छह द्वारों से यह अज्ञानी प्राणी विचारता हुआ जगत के पदार्थों में राग, द्वेष, मोह करता रहता है। यदि यह इन छहों द्वारों से भ्रमण करना बन्द कर दे व अपने ही भीतर विश्रान्ति ले ले तो इसे सहज ही में सहज सुख प्राप्त हो जावे। उपयोग को उपयोगवान आत्मा में स्थिर

करते ही सहजानन्द का स्वाद आ जाता है। आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा तथा ठीक-ठीक पहिचान आवश्यक है। जब तक उस सरोवर को न जाने जिसमें परम मिष्ट जल है व उस सरोवर तक पहुँचने का मार्ग न जाने तब तक कोई भी सरोवर के जल का मिष्ट स्वाद नहीं पा सकता है।

मैं आत्मा हूँ, सर्व परसङ्ग से रहित हूँ, असङ्ग हूँ, बन्ध रहित हूँ, एकरूप हूँ, निश्चल हूँ, अभेद हूँ, असंयुक्त हूँ, निर्विकार हूँ, परम शुद्ध हूँ, अमूर्तिक हूँ, पूर्ण ज्ञान स्वरूप हूँ, पूर्ण वीर्यस्वरूप हूँ, पूर्ण सम्यक्त्व सहित हूँ, पूर्ण चारित्र सहित हूँ, पूर्ण सहजानन्द स्वरूप हूँ। मेरा स्वभाव अमिट है, अविनाशी है। जिसको परमात्मा, ईश्वर, परब्रह्म व परम प्रभु कहते हैं वही तो मैं हूँ। मेरे स्वभाव में न पर का कर्तापना है, न पर का भोक्तापना है। यही स्वभाव परमात्मा का है। मैं मलिनता रहित शुद्ध जल के समान व शुद्ध वस्त्र के समान हूँ—यही श्रद्धा व यही ज्ञान सच्चा है, सम्यक् है, निश्चय है।

अब यही उचित है कि मैं मन, वचन, काय की गुप्ति का किला बनाऊँ व उसी में विश्राम करूँ। इन द्वारों के खुले रहने से अनेक विचार आते हैं, कर्मास्त्रव होते हैं और बन्ध की बेड़ियाँ पड़ती हैं। दृढ़ता से मन, वचन, काय का संवर करके मैं आपसे ही आप में देखता हूँ। मैंने छहों द्वारों से देखना बन्द कर दिया है। तब फिर क्या है! मुझे बड़ा ही रमणीक आत्मिक उपवन दिख रहा है। इस उपवन में रमण करता हुआ और इसी का उपभोग करता हुआ जिस सुख-शान्ति को पा रहा हूँ वही सहजानन्द है। इसी का भोग मोक्षमार्ग है व यही मोक्ष है।

30- सच्ची अग्नि (V. Imp.)

ज्ञानदृष्टि का धारी सहजानन्द को पाने के लिए आतुर है। जगत में अनादि काल से प्राणी पाँचों इन्द्रियों के भोगों में निरन्तर संलग्न रहते हैं। वे नाना प्रकार का उद्यम करके भोग सामग्री को प्राप्त करते हैं, बार-बार भोगते हैं परन्तु तृष्णा घटने की अपेक्षा बराबर बढ़ती चली जाती है। ज्ञानी ने ज्ञानदृष्टि से इन सुखों की असारता को पहचान कर यह जान लिया है कि सहज सुख निज आत्मा का ही स्वभाव है पर राग-द्वेष-मोह के मैल का इतना अन्धेरा छाया हुआ है जिस अन्धकार में दृष्टि आत्मा के उस रत्नत्रयमयी स्वभाव पर नहीं जाती है जो बिल्कुल शुद्ध, निरञ्जन, निर्विकार है। उसे ही परमात्मा, परब्रह्म, ईश्वर, जिन, बुद्ध, महादेव, विष्णु, ब्रह्मा, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, समदर्शी, ज्योतिस्वरूप, आनन्दमय, अमूर्तिक और परमप्रभु कहते हैं।

जिस ज्ञानी ने पुरुषार्थ करके अपनी दृष्टि से सर्व जगत को हटाया है, सिवाय निज आत्मा के सर्व से राग-द्वेष का प्रसङ्ग निवारा है, सर्व से पूर्ण वैराग्य प्राप्त किया है, परमाणु मात्र पर को अपना मानना त्याग दिया है, अपना सर्वस्व निज आत्मा की ही सेवा में अर्पण कर दिया है, निज आत्मा को ही अपना देव मानकर उसकी भक्ति में अपने को न्यौछावर कर दिया है, केवल पौद्गलिक शरीर व वचन से नहीं किन्तु अपने आपका सर्वस्व अपने आपमें ही ऐसी भक्तिपूर्ण लग्न के साथ जोड़ दिया है कि दो के स्थान में एकता हो गयी है, पूजक-पूज्य, ध्याता-ध्येय और वंद्य-वंदक का द्वैत भाव मिट गया है, अद्भुत अद्वैतता प्राप्त हो गयी है। ऐसी गाढ़ आसक्ति जिस महात्मा की अपने से हो जाती है कि उसके पीछे वह चक्रवर्ती की सम्पदा तक को भी त्याग देता है, सर्व परिग्रह त्यागकर नग्न हो जाता

है, सर्व रसों का स्वाद त्यागकर निज रस के स्वाद का रसिया हो जाता है उसी महात्मा को सहजानन्द का स्वाद आ जाता है।

सहजानन्द का मार्ग ही वह परम भोग है जिससे आत्मा पुष्ट होता है। यही वह शस्त्र है जिससे कर्मवैरियों का ध्वंस कर दिया जाता है। कोई बड़ा कठिन तप करते हैं, मास-छह मास का उपवास करके शरीर को सुखाते हैं, भूख-प्यास की घोर वेदना सहते हैं परन्तु दृष्टि शरीर की तरफ रहती है। उनको वह अग्नि नहीं मिलती है जो कर्मों को दग्ध कर सके, परन्तु जो ऐसा कठिन तप नहीं करते हैं या कभी जरूरत हुई तो करते भी हैं परन्तु अपनी दृष्टि शरीर व शरीर के सुख-दुःख से छुड़ाकर केवल निज आत्मा के भीतर जोड़ते हैं और उसके भीतर रत होकर सहजानन्द का पान करते हैं उनके कर्म क्षणमात्र में दग्ध हो जाते हैं।

यदि जीवन का फल लेना हो तो यही कर्तव्य है कि सबसे मुँह मोड़, आप अपने स्वरूप से नाता जोड़ उसी में अपने को लगा देना चाहिए। यही योगाभ्यास है, यही ध्यान का प्रकार है, यही रत्नत्रय का साधन है, यही मोक्ष का उपाय है व यही निरन्तर सुखी रहने का मन्त्र है।

31- सच्चा गंगाजल (Imp.)

ज्ञानदृष्टि का धारी आत्मा सर्व सङ्कल्प-विकल्पों से रहित होकर जब एकान्त में बैठता है तब श्री गुरु द्वारा प्राप्त उपदेश का मनन करता है कि इस विश्व के मोह में ग्रसित प्राणी को पर वस्तुओं की तरफ राग-द्वेष-मोह करने से जो कल्पित सुख भासता है उससे कभी तृप्ति नहीं होती है, उल्टी तृष्णा की दाह बढ़ती है। अतएव यथार्थ सुख को जो चाहता हो उसको सर्व अन्य से मोह छोड़ एक अपनी ही तरफ पूर्णपने सन्मुख हो जाना चाहिए। स्वात्म सन्मुख होने वाला प्राणी

वैसे ही अवश्य सहजानन्द का स्वाद प्राप्त करता है क्योंकि सहजानन्द निज आत्मा का ही गुण है, जैसे शुद्ध मिष्ट जल की कतिपय बूंदों को भी पीने वाला व्यक्ति मिष्ट जल के आस्वाद को पाता है।

इस गुप्त उपदेश को स्मरण करके वह अपनी सत्ता को सम्हालता है कि मैं पुद्गलादि पाँच द्रव्यों से, उनके गुणस्वभावों से और उनकी अनेक पर्यायों से निराला, निज गुण पर्यायवान् द्रव्य हूँ। मैं न कभी जन्मा, न कभी मरूँगा। मेरा सर्वस्व मेरे पास निरन्तर बना रहता है। अगुरुलघुगुण के प्रताप से मैं अपनी निश्चित मर्यादा को कभी कम व अधिक नहीं करता हूँ। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र आदि विशेष गुणों को रखता हुआ भी मैं इनसे अभेद हूँ। कोई भी कारण नहीं है जिससे कि एक भी गुण मेरे से भिन्न हो सके और वह गुण मेरे में सर्वव्यापक न होकर कहीं व्यापक व कहीं अव्यापक हो। हर एक गुण मेरे में सम्पूर्ण भरा है। हर एक गुण हर एक दूसरे गुण में व्यापक है इसीलिए कहने को गुणों के भेद हैं, परन्तु वास्तव में उन सब गुणों का समुदाय गुणी पूर्णपने अभेद है।

मेरी आत्मा की सत्ता में वह सर्व संसार नहीं है जो पाप-पुण्य की विचित्रता में बनता-बिगड़ता रहता है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य व देवगति के भीतर जितने भी वैभाविक व अशुद्ध भाव होते हैं, राग-द्वेष मिश्रित परिणाम होते हैं, जितनी बाहरी शरीर की रचना है व शरीर से सम्बन्धित पदार्थ हैं, वे सब मेरी आत्मा के स्वभाव से बाहर ही रहने वाले हैं। मेरे कोई परभाव उसी तरह स्पर्श नहीं करता है जैसे प्रकाश को अन्धकार स्पर्श नहीं करता है। मैं एक निराला अखण्ड परम निर्मल स्वानुभवगोचर पदार्थ हूँ - ऐसा निश्चयपूर्वक ज्ञान के भीतर ही मैं रमण करता हूँ। स्वात्मा के स्वरूप में रमण करने से सर्व सांसारिक दुःख-सुख के क्षणिकभाव विला जाते हैं और एक

परम वीतराग सहज सुख का स्रोत बह निकलता है। उसके ही भीतर मैं स्नान करता हूँ, वही मेरा गंगाजल है, उसका ही मैं शान्त जल पीता हूँ, वही मेरा जलपान है, उसी में मैं निमग्न हो जाता हूँ, वही मेरा मत्स्यवत् जलावगाहन है और वही मेरे जीवन का ध्येय है।

32- परम सामाधिक

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्चों से रहित होकर जब संसार के स्वरूप का विचार करता है तो उसे बड़ा आश्चर्य मालूम होता है। जिसे वह अपना समझता था वही अपना नहीं है। जितने सम्बन्धी हैं वे देखते-देखते विलाते जाते हैं। जीवित रहते हुए भी वे स्वार्थ के बिना बात ही नहीं करते हैं। जिनका स्वार्थ नहीं सधता है वे उदास हो जाते हैं। जगत स्वार्थ के ऊपर स्थिर है। जगत की वस्तुएँ देखते-देखते रूपान्तरित हो जाती हैं। जिन पदार्थों के सहारे पाँचों इन्द्रियों के भोग भोगे जाते हैं, वे सब अपनी इच्छानुसार न तो बने रह सकते हैं और न इच्छानुसार वर्तन कर सकते हैं। उनके सहारे सुख की कल्पना करना असार है, मोह है, पागलपन है, मिथ्यात्व है।

इस मिथ्यात्व के भाव का त्यागना यद्यपि सुगम है परन्तु मोह की मदिरा के मद में बहुत ही दुर्लभ हो रहा है। श्मशान भूमि में जाने पर जो वैराग्य आता है, लौटते-लौटते वह वैराग्य रफूचक्कर हो जाता है। इस मोह के मद को दूर करने का उपाय सन्तों की शरण है। सन्त शरण से आँखें खुलती हैं। वे सम्यग्ज्ञान की सलाई शिष्य की ज्ञानचक्षु पर फेरते हैं जिसके प्रताप से धीरे-धीरे मोह का मद उतर जाता है और ज्ञान की दृष्टि साफ-साफ खुल जाती है, तब निश्चयनय की मुख्यता से वह दृष्टि देखने लगती है।

तब न कहीं देश है, न नगर है, न मुहल्ला है, न उपवन है, न

मकान है, न दुकान है, न कोठी है, न वस्त्र है, न आभूषण है, न चटाई है, न पलंग है, न कुर्सी है, न मेज है, न शस्त्र है, न शास्त्र है, न मन्दिर है, न मूर्ति है, न नदी है, न समुद्र है, न पर्वत है, न तीर्थस्थान है, न सिद्धक्षेत्र है, न नरकभूमि है, न स्वर्ग के पटल हैं, न जम्बूद्वीप है, न धातकीखण्ड द्वीप हैं, न पुष्करार्ध द्वीप है, न लवणोदधि समुद्र है, न कालोदधि समुद्र है, न क्षीर समुद्र है, न सुमेरु पर्वत है, न पाण्डुक वन है, न पाण्डुक शिला है, न तिर्यञ्च गति है, न मनुष्य गति है, न कोई पक्षी है, न कोई पशु है, न मत्स्यादि जलचर जीव हैं, न आर्य मनुष्य हैं, न पृथ्वी है, न जल है, न वायु है, न अग्नि है, न वनस्पति है, न शब्द है, न गन्ध है, न वर्ण है, न स्पर्श है, न कोई स्थूल है, न सूक्ष्म है, न तम है, न प्रकाश है, न छाया है, न बन्ध है, न मोक्ष है, न कोई संसारी है और न ही कोई सिद्ध है।

न कोई मिथ्यात्वी है, न कोई मोही है, न कोई रागी है, न कोई द्वेषी है, न कोई क्रोधी है, न कोई मानी है, न कोई मायावी है, न कोई लोभी है, न कोई कृपण है, न कोई दानी है, न कोई हिंसक, न कोई मृषावादी है, न कोई सत्यवादी है, न कोई चोर है, न कोई साहू है, न कोई परोपकारी है, न कोई अपकारी है, न कोई सम्यक्त्वी है, न कोई श्रावक है, न कोई मुनि है, न कोई उपशान्तमोही है, न कोई क्षीणमोही है, न कोई केवली है, न कोई ऋषि है, न कोई गणधर है, न कोई श्रुतकेवली है, न कोई मतिज्ञानी है, न कोई श्रुतज्ञानी है, न कोई अवधिज्ञानी है, न कोई मनःपर्ययज्ञानी है। मात्र पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और सर्व जीव अपने मूल स्वभाव में ही दिखलायी पड़ते हैं।

अजीवों में कोई चेतना नहीं अतएव यह ज्ञानी सर्व जीवों को परम शुद्ध, ज्ञाता और परम वीतराग देखकर एकाएक शान्तिमय और

आनन्दमय समुद्र में मग्न हो जाता है और परम समताभाव रूपी सामायिक में तिष्ठकर जिस अपूर्व सन्तोष को पाता है वह बिल्कुल वचनों से अगोचर है।

33- स्वानुभूति तिया (Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व सङ्कल्प-विकल्पों को त्यागकर जब अपने आप शान्तचित्त हो जाता है तब वह एक ऐसा अपूर्व सुख पाता है जिसको सहजानन्द कहते हैं। यद्यपि वह आनन्द अपने ही निकट है तथापि मिथ्यादृष्टि जीव को इसका स्वाद नहीं आता है क्योंकि उसको अनादिकाल से अनात्मा के कारण प्रगट होने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा व काम विकार का खारा स्वाद ही आता है। वह खारा स्वाद मूल पानी का नहीं है। अज्ञान से या भ्रम से वह उस स्वाद को पानी का स्वाद जान लेता है परन्तु वह स्वाद उस लवण का है जो खारा पानी के साथ घुला हुआ है। पानी का स्वाद कुछ दूसरा ही है।

श्रीगुरु परम दयालु जिनको निज आत्मा के सच्चे स्वरूप का यथार्थ स्वाद आ गया है, परम करुणाभाव से जगत के प्राणियों को सच्चे स्वाद के अभाव में मलिन स्वाद के लेने से आकुलित देखकर उन्हें समझाते हैं कि हे भव्य जीवों! वह वैषयिक स्वाद राग का स्वाद है जो आत्मा नहीं है, पुद्गल है, इसे तुम आत्मा का स्वाद मत जानो। एक दफे विवेक से तुम इस बात को समझ लो कि आत्मा राग रहित है, द्वेष रहित है, मोह रहित है, परम वीतराग ज्ञानमयी अविनाशी है। इस श्रद्धा को प्राप्त होकर तुम रागादि भावों से भिन्न वीतरागता की भावना करो कि वे अन्य हैं, मैं अन्य हूँ। कुछ काल के अभ्यास से रागादि विकारों से उदासीनता आ जायेगी तब उपयोग स्वयं वीतरागता की ओर झुक जायेगा।

वीतरागता आत्मा के चारित्र गुण का परिणमन है। भेद विज्ञान के अभ्यास से कुछ काल पीछे आत्मा का साक्षात्कार हो जाता। उस प्रकाश को सम्यग्दर्शन कहते हैं। उसके उदय होते ही सहजानन्द मेरी ही आत्मा का गुण है, ऐसी दृढ़ प्रतीति हो जाती है फिर यह ज्ञातादृष्टा आत्मा जब चाहे तब उस प्रतीति का भोग करता है और जैसे गृहस्थ अपनी स्त्री की रुचि व प्रतीति रखता है, अन्य कामों में लगे रहने से वह अपनी स्त्री का भोग नहीं करता है परन्तु जब चाहे तब स्वस्त्री का उपभोग कर सकता है। वह स्वप्रिया का जितना-जितना अधिक रागी होता है उतना-उतना पर कामों से अधिक समय निकालकर अपनी स्त्री से मित्रता का व्यवहार करता है।

इसी तरह ज्ञाता आत्मा निज स्वानुभूति प्रिया का परम प्रेमी हो गया है। जितना-जितना उसका उसमें प्रेम अधिक होता जाता है उतना-उतना अधिक वह स्वात्मानुभूति में रमण करता है और अन्य कार्यों से उदास होता जाता है। एक समय आता है जब वह सर्व पर से सदा के लिये वैरागी होकर निज स्वात्मानुभूति के साथ एक संलग्नता कर लेता है और मोक्षभाव के आनन्द को भोगता रहता है।

34- स्वराज्य लाभ (V.V.Imp.)

ज्ञातादृष्टा एक आत्मा सर्व प्रपञ्च जाल से विरक्त होकर परम शान्ति के साथ विचारता है कि 'सहजानन्द का लाभ कैसे करूँ?' उसको यह भली प्रकार विदित है कि सहजानन्द आत्मा का एक गुण है, वह आत्मा में ही है व आत्मा से ही आत्मा को प्राप्त हो सकता है। अपने में होते हुए भी अपने को नहीं मिलना केवल मात्र अपने प्रमाद का ही दोष है। प्रमाद को हटाते ही और कषाय के झोकों से बचते ही ज्यों ही यह आत्मा अपनी उपयोग भूमिका में सम्हल कर बैठ जाता है त्यों ही इसे सहजानन्द का लाभ होने लगता है।

सहजानन्दमयी तो आत्मा है ही, सहजानन्द का वह सागर ही है, फिर उसको सहजानन्द का लाभ होना चाहिए यह बात भी बनती नहीं है। वास्तव में आत्मा के आत्मस्थ नहीं रहने से उसे सहजानन्द का लाभ नहीं है-ऐसा कहना पड़ता है। यदि यह आत्मस्थ रहे तो यह स्वयं सहजानन्द का सागर ही है। राग-द्वेषादि की कल्लोलों के कारण आत्मा रूपी समुद्र निश्चल नहीं रहता है, इसी से स्वात्मवेदन को न प्राप्त करके परवेदन करता हुआ सहजानन्द के लाभ से वंचित रहता है। यदि राग-द्वेषादि की लहरें मिट जावें और समुद्र समान यह आत्मा परम तत्त्व के साथ स्थिर हो जावे तो यह स्वयं सहजानन्द का स्वामी ही है। इसे फिर सहजानन्द के प्राप्त करने की चिन्ता करने की जरूरत नहीं है।

‘राग-द्वेषादि कैसे मिटें’-यह एक बड़ा विकट प्रश्न है। राग-द्वेषादि मोहनीय कर्म का विकार है। मोहनीय कर्म से वैराग्य रख करके उससे उपेक्षा रखना ही राग-द्वेष के मिटने का उपाय है। निश्चयनय के द्वारा अपनी आत्मा को सिद्ध सम शुद्ध देखना-जानना, श्रद्धान करना व अनुभव करना-यही एक उपाय है, यही एक मन्त्र है, यही एक औषधि है जिससे सर्व पर सम्बन्ध का वियोग होता है। ‘मैं परम शुद्ध स्वरूप हूँ’-यही मनन आत्मा के वैरियों की शक्ति को क्षीण करने वाला है। अपनी जागृति, अपनी अनुभूति, अपनी तृप्ति, अपना ही लक्ष्य, अपना ही सम्मान, अपना ही आदर और अपना ही पूजन अपने बल के विकास का उपाय है। शुद्ध दृष्टि शुद्ध पदार्थ का दर्शन कराने वाली है, अशुद्ध दृष्टि अशुद्ध पदार्थ की तरफ ले जाने वाली है।

अनादि काल से अशुद्ध दृष्टि के द्वारा यह देखता रहा है। अब यदि उस आदत को त्यागे और शुद्ध दृष्टि के द्वारा शुद्ध पदार्थ का अवलोकन करे, बार-बार करे, पुनः-पुनः करे, प्रेमालु होकर करे, आसक्त होकर

करे तो दृष्टि में वही मनमोहनी सूरत जमती जाती है और धीरे-धीरे पर सन्मुख रहने वाली दृष्टि संकुचित होती जाती है। शुद्ध दृष्टि से देखना ही स्वराज्य स्थापन का कारण है, स्वतन्त्र होने का उपाय है। यही सहजानन्द के सतत भोग का उपाय है। अब मैं शुद्ध दृष्टि से ही देखने का अभ्यास करूँगा जिससे शुद्धात्मा का पद-पद पर दर्शन हो और राग-द्वेष की गन्ध भी न प्राप्त हो और जिससे मैं सहजानन्द का सतत भोग कर सकूँ।

35- आत्म-सरोवर का निर्मल जल (V.Nice)

ज्ञाता-दृष्टा स्वभावधारी एक महात्मा सर्व प्रपञ्च जालों से मुक्त होकर एकान्त में वास करता है और इस बात का प्रयत्न करता है कि किसी भी तरह सहजानन्द का लाभ हो। सहजानन्द कहीं और नहीं है, अपने ही पास है। सच पूछो तो हर एक के भीतर वह पूर्ण रूप से भरा है। इसे कुछ भी प्राप्त करना नहीं है परन्तु यह जो राग-द्वेष-मोह के अन्धकार से आच्छादित है उसे उघाड़ना है। यह अन्धकार पुद्गल कर्मों के संयोग से हो रहा है। यह संयोग आत्मा के साथ अनादिकाल का है क्योंकि यदि कभी आत्मा शुद्ध होता तो फिर वह कभी अशुद्ध नहीं हो सकता था। पुद्गल में भी अपूर्व शक्ति है। मोहनीय कर्म रूपी पुद्गल में एक प्रकार की मादक शक्ति है जिसके प्रभाव से यह त्रिजगत प्रधान जीव अपने निज स्वरूप को भूलकर बेभान हो रहा है और यही कारण है कि जो ऐसा विचार करना पड़ता है कि मुझे सहजानन्द का लाभ नहीं है और उसे प्राप्त करना चाहिए।

भेदविज्ञान का सच्चा विचार इस बात का विश्वास करा देता है कि मेरी निज आत्मा का स्वभाव ही सहजानन्द रूप, अमूर्तिक, ज्ञानदर्शनमय, अविनाशी है। इस अपने स्वरूप का दृढ़ विश्वास होकर जब परिणति में स्व-स्वरूप की रुचि जम जाती है तब उपयोग पर

परिणति से विरागी होकर स्व-स्वरूप के सन्मुख होता है। यही स्व सन्मुखता जब बढ़ने लगती है तब सहजानन्द का स्वाद आने लगता है।

जगत एक प्रपञ्च जाल है। जैसे क्षीरसमुद्र के समान किसी सरोवर का मिष्ट व शान्त जल हो और उस पर घास का आच्छादन पड़ा हो, तब बाहरी दृष्टि वाले को वह सरोवर नहीं दिखता है वैसे ही प्रपञ्च जाल के आच्छादन से बहिरात्मा को आत्मा का स्वभाव नहीं दिखता है। जैसे चतुर मानव घास के आच्छादन के भीतर स्वच्छ जल को पहिचानता है और जब चाहे तब उस सिवाल को हटाकर निर्मल पानी का लाभ कर लेता है और उसका पानकर शीतल जल का स्वाद पाता है, उसी तरह अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि प्रपञ्च जाल के भीतर स्वस्वरूप को पहिचानता है और जब चाहे तब उस जाल को हटाकर स्वाभाविक आत्मानुभव को पाकर सहजानन्द का स्वाद पा लेता है।

सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा के हाथ में सदा ही सहजानन्द का लाभ है। सहजानन्द का स्वाद आना ही मोक्ष का साधन है। यही वह औषधि है जो कर्म रोग को शान्त कर देती है। धन्य हैं वे प्राणी जो इस विकट संसार वन में भ्रमण करते हुए भी सहजानन्द के स्वाद को पाकर अपने जीवन को सफल कर लेते हैं और संसार यात्रा में मोक्ष यात्रा का लाभ पा लेते हैं। इन्हीं को महात्मा कहते हैं।

ज्ञानी जगत का काम करते हुए व सुख-दुःख भोगते हुए देखने में आते हैं परन्तु वे करते हुए भी अकर्ता हैं, भोगते हुए भी अभोक्ता हैं। उनकी रुचि संसार के कार्यों में नहीं है, वे कर्म की प्रेरणा से करते व भोगते हैं। जैसे बालक पढ़ने की रुचि न रखता हुआ माता, पिता व गुरु के भय से पढ़ता है, सीखता है और पुस्तक देखता है तो भी रुचि बिना पढ़ता हुआ भी न पढ़ने के समान है, उसी तरह ज्ञानी आत्मा

सर्व प्रपञ्च करते हुए भी उदासीन है क्योंकि उसको सहजानन्द का पता है, उसे सहजानन्द का स्वाद मिल गया है, वह सहजानन्द का रोचक बन गया है, इससे वह परम सन्तोषी व शान्त है।

36- ज्ञानसागर का स्नान (V. Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जालों से अलग होकर एकान्त में बैठकर अपने आपके स्वरूप का विचार करता है, तब उसको यह भासता है कि मैं तो एक अनुभवगम्य पदार्थ हूँ। मन में शक्ति नहीं है जो उसका विचार करे, वचनों में शक्ति नहीं है जो उसका कथन कर सके, तब फिर उसका अनुभव कैसे हो! इस चिन्ता को करते ही उसको यह बात सूझी कि गुरु महाराज ने जिस भेदविज्ञान का उपदेश दिया है, उसी को ग्रहण करना चाहिए। भेदविज्ञान से ही आत्मबोध होगा। जैसे धान के भीतर भेदविज्ञान से चावल अलग और भूसी अलग नजर आती है, तिलों के भीतर तेल अलग और भूसी अलग दिखती है, गरम पानी के भीतर अग्नि अलग और पानी अलग नजर आता है, बने हुए साग के भीतर साग अलग और लवण अलग दिखता है, दूध और पानी के मिश्रण में दूध अलग व पानी अलग दिखता है, एक गुटिका के भीतर वैद्य को पचासों औषधियाँ अलग-अलग दिखलायी पड़ती हैं, उसी तरह भेदविज्ञानी को यह अपना आत्मा औदारिक, तैजस, कार्माण शरीरों से, रागद्वेषादि भावों से व अन्य सर्व आत्माओं व अनात्माओं से जुदा नजर आता है।

जैसे चावल का इच्छुक धान्य के भीतर छिलके को छोड़कर चावल को ग्रहण कर लेता है वैसे भेदविज्ञानी महात्मा सर्व अनात्माओं को छोड़कर एक अपनी ही आत्मा को ग्रहण कर लेता है। जिस बुद्धि से आत्मा को पर से अलग किया था उसी प्रज्ञा बुद्धि से आत्मा

को ग्रहण करना चाहिए। आत्मा को ग्रहण करते समय अपने उपयोग को बहुत ही गुप्त एक आत्मा की गुफा में प्रवेश कराना पड़ेगा। इसके लिए साधक को परम वैराग्यवान होकर अपने आपका परम प्रेमी होना चाहिए। जहाँ प्रेम होता है, जहाँ श्रद्धा होती है, जहाँ दृढ़ रुचि होती है, वहीं उपयोग अपने स्वरूप में जमने लगता है। वास्तव में जिसको जानना है व जिसका स्वाद लेना है वह कोई पर नहीं है, आप ही है।

अपनी आत्मा को एक ज्ञानसागर मानना चाहिए। उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूपी रत्न भरे हुए हैं। उसके भीतर परम शान्ति है। उसमें खारापन नहीं है किन्तु परमानन्दमयी मिष्टता है। जो इस ज्ञानसागर के भीतर स्नान करते हैं व उसी के शान्त रस का पान करते हैं वे परम तृप्त हो जाते हैं। सहजानन्द आत्मा का स्वभाव है। सहजानन्द का प्रेमी ही सहजानन्द को पाता है। इस आनन्द की उपमा जगत में किसी वस्तु से नहीं दी जा सकती है। धन्य हैं वे सम्यग्दृष्टि जीव जो इस आनन्द को पाकर परम तृप्त रहते हुए अपने जन्म को सफल कर सिद्धों के समान सुखी रहते हुए ज्ञानमग्न रहते हैं।

37- सत्य हिमागार (हिमालय) (V.Nice)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जालों को छोड़कर सहजानन्द पान के हेतु से एक स्थल पर विश्राम करता है और सहजानन्द के लिए जब भावना करता है तब उसे विचार आता है कि सहजानन्द तो आत्मा का गुण है अतएव सहजानन्द के लिए अपनी आत्मा के भीतर ही रमण करना पड़ेगा। आत्मा के सिवाय जितने और द्रव्य हैं, गुण हैं, पर्याय हैं उन सबसे उपयोग को हटाना होगा और एक अपनी आत्मा के ही द्रव्य, गुण, पर्याय पर लक्ष्य लाना होगा। गुण-पर्याय

के विचार को भी गौण कर आत्मा रूपी द्रव्य में एकतानता से विश्राम करना होगा तब ही सहजानन्द का लाभ होगा। सहजानन्द का लाभ होते हुए जितने इन्द्रियों व मन के विकल्प हैं वे सब मिट जाते हैं, छह रसों के स्वाद सब हट जाते हैं और आत्मिक रस का निराला ही स्वाद आता है। इस स्वाद की उपमा जगत के किसी भी स्वाद से नहीं दी जा सकती है।

आत्मिक रस का वेदन सिद्धों के सुख वेदन से किसी भी तरह कम नहीं है। यही वह हिमागार है जहाँ वीतरागता की अपूर्व शान्ति ही शान्ति है। यही वह क्षीरसमुद्र है जहाँ स्वानुभव रूपी जल का प्रवाह बह रहा है। यही वह कमलों का मनोहर वन है जहाँ स्वात्मिक सुख की सुगन्ध फैल रही है। यही वह अनुपम स्फटिक मणि की शिला है, जहाँ ऐसी स्वच्छता है जिसमें सर्व जगत के पदार्थ जैसे के तैसे झलकते हैं तथापि उसमें कोई विकार नहीं होता है। यही वह रमणीक क्षेत्र है जहाँ सर्व सुन्दरता ही सुन्दरता है, जहाँ समता का ही राज्य है, जहाँ कोई आकुलता की मलिनता नहीं है। यही वह सुमेरुपर्वत है जहाँ पर आत्मानुभवी मुनि पाण्डुक शिला पर तिष्ठ कर आत्मा के तत्त्व का मनन करते हैं। यही वह नाटकशाला है जहाँ सर्व ही विश्व के पदार्थ अपने गुण व पर्यायों के साथ जैसे के तैसे झलकते हैं तथापि दृष्टा व ज्ञाता को विकार के कारण नहीं होते हैं।

इस तरह एक अद्भुत स्थान व सामान के मध्य में तिष्ठा हुआ एक आत्मानुभवी आत्मा सहजानन्द का भोग करता हुआ अपने को सिद्धों से किसी तरह कम अनुभव नहीं करता है। जब स्वात्मानुभव होता है तब वहाँ सिद्ध-संसारी का भेद और गुण-गुणी का भेद कुछ नहीं रहता है। आत्मा का नाम भी उड़ जाता है। वहाँ नाम रहित व गुणों की कल्पना रहित एक अद्भुत पदार्थ झलकता है जिसकी

उपमा जगत के किसी पदार्थ से नहीं दी जा सकती है। ऐसा सहजानन्दी जीव परम समता से जिस सन्तोष में रमण कर रहा है वह वचन अगोचर आनन्द का धाम है।

38- तृष्णादाह शमन (Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जालों से छूटकर एकान्त में विचार करता है कि सहजानन्द कैसे प्राप्त हो! उसने यह भली प्रकार अनुभव कर लिया है कि इन्द्रिय विषयों के सुखों से किसी को भी सन्तोष का लाभ नहीं हो सकता है किन्तु आकुलता व चिन्ता बढ़ती ही जाती है। कभी वियोग की आग सताती है, कभी तृष्णा की दाह परेशान करती है। सहजानन्द के बिना सन्तोष का मिलना वैसा ही कठिन है जैसे जल वर्षा के बिना आग का बुझना कठिन है। हम घी से चाहें तो आग न बुझेगी, उसके लिए तो जल ही चाहिए। तृष्णा की दाह शान्त करने के लिए शान्त रसपान की जरूरत है।

शांत रस आत्मा के स्वभाव में पूर्णरूप से भरा है इस कारण बुद्धिमान प्राणी को योग्य है कि वह किसी भी तरह अपना पल्ला सर्व अनात्माओं से छुड़ा ले और निश्चिन्त होकर एक आत्मा ही की तरफ उपयुक्त हो जावे। आत्मा के सरोवर में ही स्नान करे, आत्मिक आनन्द रूपी रस का ही पान करे, तब ही सहजानन्द हाथ में आ जायेगा। यह सहजानन्द अनादि काल की तृष्णा को मिटा देता है और बड़ी भारी आकुलता का शमन कर देता है। यह सहजानन्द ही वह सर्वोच्चता है जिसके सामने चक्रवर्ती के भोग और इन्द्र का ऐश्वर्य सब तुच्छ है। यही कारण है कि सहजानन्द के भोगी योगी को सर्व ही बड़े-बड़े गृहस्थ, इन्द्र, धरणेन्द्र व अन्य योगी भी नमन करते हैं क्योंकि उन्होंने जीवन सुखदाई व जीवन को अमर बनाने वाले अमृत को पा लिया है।

सहजानन्द का लाभ परम लाभ है। उसके हाथ में मुक्ति आ गई है और उसको वह कला मालूम हो गई है जिसके बल से वह पूर्व बँधे हुए कर्मों के अच्छे व बुरे फल को भोगता हुआ भी अभोक्ता रहता है और जिसके प्रताप से वह गृहस्थी में रहते हुए भी साधु के समान भावों का स्वामी होता है। सहजानन्द का भोक्ता समताभाव में रमण करता है। मोक्षद्वीप में न रहते हुए भी वह मोक्ष के आनन्द को लेता है। सहजानन्द का भोग ही वह भोग है जो आत्मा को बन्धनों से छुड़ाकर मुक्त कर देता है। सहजानन्द का लाभ वह परम अद्भुत रसायन है जो कषायों के विष को दमन कर देता है। धन्य हैं वे महात्मा जो सहजानन्द के स्वामी आत्मा को पहचानकर निज व पर को सबको समान भाव से देखते हैं और राग-द्वेष के झगड़ों से बच जाते हैं।

जीवन की सफलता सहजानन्द रसपान से है। बुद्धिमान मानव को उचित है कि सर्व जगत के झगड़ों को अनासक्ति के भाव से देखकर निज आत्मा के बाग में क्रीड़ा करने का उद्यम करे। इसी से वह शान्ति का लाभ करता हुआ परमात्मा पद की तरफ बढ़ता हुआ चला जायेगा और सदा ही सन्तोष में रमण करेगा।

39- शिवकन्या का वर (V.Imp.)

एक ज्ञातादृष्टा आत्मा अनात्मा की अनादि सङ्गति से अपने रूप को भूलकर तथा अपने सहजानन्द को भी भूलकर इन्द्रियजनित सुख का ही मोही होता है। यह इष्ट-वियोग व अनिष्ट-संयोग से व शरीर पीड़ा से रात-दिन आतुर रहता है व विषयों की दाह में जलता रहता है। इच्छानुकूल वस्तु न पाकर घबड़ाता है और वस्तु पाकर भी और अधिक इच्छाओं को बढ़ा लेता है। एक दिन शरीर छूट जाता है तब

निराश दशा में ही मर जाता है। खेद है कि यह मानव मानवजन्म को वृथा ही खो देता है।

श्री गुरु ने इस प्राणी को आकुलित देखकर इसको उपदेश किया कि, हे प्राणी! पराधीन सुख के लिए क्यों वृथा कष्ट पा रहा है! अपने भीतर देख तो तुझे उस परम प्रिय सहजानन्द का पता लग जायेगा जिस सहजानन्द के अनुभव से जन्म-जन्म का दाह मिट जाता है और परम शान्ति का लाभ होता है। इस गुरु की वाणी को सुनकर यह चेतता है और बड़े भाव से देखता है कि आत्मा कहाँ है! आत्मा को देखने के लिए इसे अपनी वृत्ति को सर्व पर पदार्थों से हटाना पड़ता है और सारे मोहजाल को बलात्कार त्यागना पड़ता है। अपने पास तीन शरीर हैं—कार्माण, तैजस, औदारिक। उनके भीतर झांकना पड़ता है। कर्मों के असर से जो रागादि भाव होते हैं उनसे भी चित्त को हटाना पड़ता है। मन, वचन, काय के योगों से जो आत्मा में चञ्चलता होती है उसे भी त्यागना है। सिद्ध के समान शुद्ध आत्मा को पहचानकर उसी में गोता लगाने का अभ्यास करना है तथा जैसे महामत्स्य पानी में रहता है, पानी को पीता है और पानी से ही अपना जीवन समझता है, उसी तरह यह अपने ही क्षीर समुद्र समान आत्मा में रमण करके उसी के शान्त जल को पीता है और परम तृप्ति को पाता है।

सहजानन्द रस से पूर्ण यह आत्मा है। इसी का श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण ही वह मार्ग है जिससे आत्मा में रमण होता है। अज्ञानी आत्मज्ञान के पाने ही से ज्ञानी हो जाता है। जिसने सहजानन्द का पता पाया वह इन्द्र, धरणेन्द्र और चक्रवर्ती की सम्पदा से भी अधिक सम्पत्ति का स्वामी हो जाता है। सहजानन्द वह रसायन है जिससे आत्मा परम पुष्ट हो जाता है। इसी रसायन के सेवन से वह एक दिन

अनन्तबली हो जाता है। सहजानन्द का प्रेमी ही सम्यग्दृष्टि है, वही ज्ञानी है, वही वीतरागी है, वही महात्मा है, वही सन्त है, वही अन्तरात्मा है और वही शिव कन्या का वर होगा। वह संसार में रहते हुए अपने को सिद्ध सम शुद्ध अनुभव करके सिद्ध सुख का सा आनन्द लेता हुआ परम तृप्त रहता है।

40- अपना अटूट धन (V.Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जालों से रहित होकर यह विचारता है कि मैं हूँ क्या और मेरी वर्तमान में अवस्था क्या हो रही है। उसको जब शरीर का सङ्ग याद आता है तब बड़ा ही विषाद प्राप्त होता है कि सूक्ष्म कार्माण शरीर की सङ्गति से मेरी इस आत्मा की कैसी दुर्व्यवस्था हुई है। यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति-इन पाँच प्रकार के स्थावरों में बहुत ही भयानक कष्टों को पा चुका है। मानवों व पशुओं के व्यवहार से बड़ी निर्दयता के साथ रौंदा गया है, छीला गया है, पटका गया है, काटा गया है, छेदा-भेदा गया है, औँटाय़ा गया है। लट, पीपल, मक्खी, भँवरा और असैनी सर्व ही द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय असैनी तक की योनियों में इसने बड़ी ही तकलीफें सही हैं। सबलों के द्वारा खाया गया है, जन्म-मरण के भयानक दुःख सहे हैं। सैनी पञ्चेन्द्रिय पशु पर्याय में अतिभारारोपण और भूख-प्यास सहन कर, क्रूर जीवों द्वारा वध-बन्धन के असहनीय दुःख सहन किये हैं। मानव गति में भी इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग के अपार दुःख पाये हैं। नारकी व देव होकर शारीरिक व मानसिक दुःखों से दुःखी रहा है।

मेरी आत्मा ने चारों गतियों में भ्रमणकर अपार कष्ट पाया है। उनके याद करने से बड़ा ही पश्चाताप होता है। इन सब कष्टों का

कारण मेरा ही राग-द्वेष-मोह से बाँधा हुआ पाप कर्म है। मैंने अब तक अपने स्वरूप की पहचान नहीं की। अपने सच्चिदानन्दमयी शुद्ध स्वभाव को नहीं सुना। अपने स्वभाव से प्रीति नहीं की। अपने धन की सम्हाल नहीं की। जो सहजानन्द अपने ही पास भरा है, उसका स्वाद नहीं लिया। अब मुझे श्री गुरु ने बता दिया है कि सच्चा सुख आत्मा ही का स्वभाव है, वह आत्मा ही में रमण करने से प्राप्त होगा।

बस, अब यह इस बात की चेष्टा करता है कि मैं भेदविज्ञान के प्रताप से जो कुछ मैं नहीं हूँ, उसको अपने से दूर कर दूँ। यह अपने भावों से सर्व ही मन, वचन, काय की क्रियाओं को हटाता है। और तो क्या, आठों कर्मों के तीव्र या मन्द उदय में जो कुछ चेष्टाएँ हो सकती हैं, उन सबको अपनी बुद्धि से भिन्न करता है। यों कहिए कि तीन लोक की सर्व पर्यायें जो स्वाभाविक नहीं हैं, वैभाविक हैं, वे इसकी बुद्धि से हट जाती हैं। यह केवल अपने ही आपमें विश्राम करता है। जब यह आपमें ही एकाग्र हो जाता है तब वहाँ परम स्वानुभव प्राप्त हो जाता है। इस स्वानुभव के जगते ही अपूर्व आनन्द का स्वाद आ जाता है, सहजानन्द का भोगी हो जाता है। सहजानन्द अपना ही अटूट धन है। मिथ्यात्वी को इसकी खबर नहीं पड़ती है, इससे वह असत्य सांसारिक सुख की तृष्णा में फँसा रहता है और उसके संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद करके आकुलित रहता है व निराकुल सुख का स्वाद नहीं पाता है।

जीवन की सफलता निराकुल सुख के स्वाद में है। भेदविज्ञानी महात्मा भेदविज्ञान के प्रताप से इस सुख को जब चाहे तब पा सकता है और यह किसी भी अवस्था में हो अपने जीवन को सुखमयी बिता सकता है। सहजानन्द का भोगी परमात्मा के समान आनन्द भोगी है। वह अपनी आत्मा को सदा मोक्ष रूप ही अनुभव करता है। उसके

सामने यह सर्व जगत एक प्रकार का तमाशा दिखता है। ऐसा सम्यक्त्वी जीव सदा सुखी रहता है। धन्य हैं वे महात्मा जो सहजानन्द के भोक्ता होते हुए परम तृप्त रहते हैं।

41- अखण्ड दुर्ग (V.Nice)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जालों से छूटकर जब विचार करता है तब उसको विदित होता है कि वह बहुत बड़ी आकुलता के चक्र में फँसा है। आकुलता का कारण भी यही है कि वृत्ति पर पदार्थों में चली जाती है। जब वह वृत्ति को रोकता है तो वह रुकती भी नहीं है। परपदार्थों में जाने से उसको सहजानन्द का स्वाद नहीं आता है क्योंकि सहजानन्द कहीं बाहर नहीं है, वह तो एक अपनी आत्मा ही में है। जो कोई अपनी वृत्ति को आत्मस्थ करेगा उसी को सहजानन्द का स्वाद आयेगा।

वृत्ति रोकने का मूल उपाय पक्का श्रद्धान है। जहाँ जिसकी रुचि होती है वहीं उसकी वृत्ति चली जाती है। श्रद्धान होने का उपाय उस पदार्थ के स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान है। आत्मा अपने स्वरूप से शुद्ध है, निर्विकार है, ज्ञान-दर्शन स्वरूप है, अविनाशी है, वीतराग है, अमूर्तिक है, अखण्ड है और असंख्यात प्रदेशी होकर भी शरीर प्रमाण विराजित है। यही परमानन्द स्वरूप है। इसका स्वभाव श्री सिद्ध परमात्मा के समान है। ऐसा दृढ़ निश्चय करने की जरूरत है।

रागादि भाव, क्रोधादि भाव सर्व अशुद्ध भाव हैं। ये सर्व मोहनीय कर्मकृत विकार हैं। मोहनीय कर्म जड़ है, पुद्गल है, मेरे स्वभाव से भिन्न है। इसी तरह ज्ञानावरणादि सर्व ही द्रव्यकर्म भी मेरे स्वभाव से भिन्न है। शरीरादि नोकर्म भी मेरे स्वभाव से भिन्न है। मैं तो भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से निराला हूँ। जैसे स्फटिक मणि के साथ काले,

नीले, पीले, लाल डांक के सम्बन्ध से स्फटिक मणि की निर्मलता ढंक जाती है और उसके स्थान पर वर्णपना झलक जाता है उसी तरह मेरे वीतराग स्वभाव में राग-द्वेष का झलकाव कर्म संयोग के कारण से है। इस तरह आत्मा के यथार्थ स्वरूप की भिन्नता का मनन करते रहना ही आत्मा की श्रद्धा का कारण है।

दीर्घकाल के अभ्यास से दृष्टि अपने स्वरूप की पहचान पर उसी तरह जम जायेगी जिस तरह एक जौहरी की दृष्टि सच्चे झूठे रत्न की परीक्षा से सच्चे रत्न पर जम जाती है। दृष्टि के जमते ही श्रद्धा का अंकुर स्फुरायमान हो जायेगा। फिर भी आत्मा का मनन जारी रखना चाहिए। चिरकाल के अभ्यास से दृष्टि और भी अधिक परिपक्व हो जायेगी, फिर ऐसी दशा हो जायेगी कि जब चाहे तब एक ज्ञानी आत्मा के यथार्थ स्वरूप पर परिणाम को ले जा सकता है और अपनी वृत्ति को स्थिर रख सकता है। वृत्ति का जमना ही आत्मस्थ होना है। आत्मस्थ होने ही से सहजानन्द का लाभ होता है। सहजानन्द के खोजी को उचित है कि आत्मस्थ होने का अभ्यास डाले।

वास्तव में रहने लायक ठिकाना तो एक अपनी आत्मा का ही दुर्ग है जिसमें शुद्ध ज्ञान व आनन्द भरा है, जिसके भीतर कोई पुद्गल की कालिमा नहीं है व कोई मलिनता नहीं है। जिस दुर्ग को कोई ढा नहीं सकता है। जो अखण्ड, अविनाशी है व शुद्ध है। ऐसे दुर्ग का वासी होकर यह आत्माराम सदा ही चिद्विलास करता हुआ परम सुखी रहता है व सहजानन्द का निराबाध उपभोग किया करता है।

42- मेरा अनिर्वचनीय स्वरूप

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विकारों से रहित होकर सहजानन्द के लिए अपने ही निज स्वरूप में प्रवेश करता है। उस निज स्वरूप में देखने को जाता है तो वहाँ न वर्ण है, न गन्ध है, न रस है, न स्पर्श है। न

राग है, न द्वेष है, न मोह है, न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न अनन्तानुबन्धी कषाय है, न अप्रत्याख्यानावरण कषाय है, न प्रत्याख्यानावरण कषाय है, न संज्वलन कषाय है, न हास्य है, न रति है, न अरति है, न शोक है न भय है, न स्त्रीवेद है, न पुंवेद है, न नपुंसकवेद है। न ज्ञानावरण कर्म है न दर्शनावरण कर्म है, न मोहनीय कर्म है, न वेदनीय कर्म है, न आयु कर्म है, न नाम कर्म है, न गोत्र कर्म है, न अन्तराय कर्म है। न आर्तध्यान है, न रौद्रध्यान है, न धर्मध्यान है, न शुक्लध्यान है।

न वहाँ नरकगति है, न तिर्यञ्च गति है, न मनुष्यगति है, न देवगति है। न वहाँ स्पर्शन इन्द्रिय है, न रसना इन्द्रिय है, न घ्राण इन्द्रिय है, न चक्षु इन्द्रिय है, न कर्ण इन्द्रिय है। न वहाँ मन है, न वचन है, न काय है। न वहाँ सत्य मन-वचन योग है, न असत्य मन-वचन योग है, न उभय मन-वचन योग है, न अनुभय मन-वचन योग है। न औदारिक काययोग है, न औदारिक मिश्र काययोग है, न वैक्रियक काययोग है, न वैक्रियक मिश्र काययोग है, न आहारक काययोग है, न आहारक मिश्र काययोग है; न कार्माण काययोग है। न वहाँ हिंसा है, न असत्य है, न स्तेय है, न अब्रह्म है, न परिग्रह है। न वहाँ एकान्त मिथ्यात्व है, न विपरीत मिथ्यात्व है, न संशय मिथ्यात्व है, न विनय मिथ्यात्व है, न अज्ञान मिथ्यात्व है। न वहाँ कोई प्रमाद भाव है।

न वहाँ कोई आप सिवाय भिन्न जीव है, न वहाँ कोई पुद्गल के अणु व स्कन्ध हैं, न धर्म द्रव्य है, न अधर्म द्रव्य है, न आकाश द्रव्य है, न कालाणु रूप काल द्रव्य है। न भावास्त्रव है, न द्रव्यास्त्रव है, न भाव बन्ध है, न द्रव्य बन्ध है, न भाव संवर है, न द्रव्य संवर है, न भाव निर्जरा है, न द्रव्य निर्जरा है, न भाव मोक्ष है, न द्रव्य मोक्ष है, न वहाँ सात तत्त्व हैं, न वहाँ नौ पदार्थ हैं, न पुण्य है न पाप है। न

वहाँ कोई मिथ्यात्व गुणस्थान है, न सासादन है, न मिश्र है, न अविरत है, न देशविरत है, न प्रमत्तविरत है, न अप्रमत्तविरत है, न अपूर्वकरण है, न अनिवृत्तिकरण है न सूक्ष्मलोभ है, न उपशान्त कषाय है, न क्षीणकषाय है, न संयोगकेवली, न अयोगकेवली गुणस्थान है। न वहाँ ध्यान है, न धारणा है, न समाधि है।

वहाँ मात्र मेरा एक अनिर्वचनीय स्वरूप है जो केवल अनुभवगम्य है। मैं ऊपर कहे प्रमाण सर्व विभावों से उपयोग को हटाकर एक परम सूक्ष्म व शुद्ध अपनी आत्मा के भीतर तन्मय होता हूँ। आत्मा के भीतर प्रविष्ट होते ही सहजानन्द का स्वाद आ जाता है। बस, मैं इसी में मग्न होकर परमानन्दित रहता हूँ।

43- सच्चा बलिदान (V.Nice)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकार के विचारों को बन्द कर एक कोने में बैठ जाता है और यह देखता है कि सिद्ध भगवान क्यों सुखी हैं! वह जानता है कि सिद्धों के साथ किन्हीं भी कर्मों का कोई सम्बन्ध नहीं है। न भावकर्म रागादि हैं, न द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि हैं, न नोकर्म शरीरादि हैं। वे पूर्ण निश्चल समुद्र समान हैं। क्षोभ रहित शुद्ध भावों के धारी हैं अतएव वे सहजानन्द सागर में मग्न हैं। क्यों न मैं भी सिद्धों के समान अपने को भाऊँ!

मैं जब निश्चयदृष्टि से देखता हूँ तो अपने को सिद्ध सम निराला एक शुद्ध द्रव्य ही पाता हूँ। सच है जो सिद्ध सम निज आत्मा को श्रद्धा में लाकर निःशङ्क ज्ञानी होकर अपनी वृत्ति को इसी प्रकार की श्रद्धा में निरोध करता है वह शीघ्र ही सहजानन्द का स्वाद पा लेता है। सहजानन्द आत्मा का ही गुण है। जैसे मिश्री में मिष्टपना है, लवण में लवणपना है, इमली में खट्टापना है वैसे आत्मा में सहजानन्द है।

सहजानन्द के लिए हर एक बुद्धिमान प्राणी को अपनी आत्मा की ही गोद में खेलना चाहिए। आत्मा ही से उत्पन्न आनन्दामृत का भोजन करना चाहिए। आत्मा ही की यथार्थ गुणावलि की माला की सुगन्ध लेनी चाहिए। आत्मा का ही पवित्र दर्शन करना चाहिए। आत्मा ही के द्वारा होने वाला शुद्ध भाव रूपी शब्द ज्ञान के कर्णों से सुनना चाहिए। आत्मा ही के द्रव्य व गुणों का मनन करना चाहिए। आत्मा ही को अपना सर्वस्व मान कर उस आत्मदेव की वेदी पर अपने सर्व अहङ्कार व ममकार की बलि चढ़ा देनी चाहिए अर्थात् अपने आपको न्यौछावर कर देना चाहिए। अपनी सम्पूर्ण शक्ति को आत्मिक रस में डूबा देना चाहिए। जैसे समुद्र में गोता लगाते समय समुद्र में मानो डूब जाना होता है वैसे ही आत्मिक समुद्र में गोता लगाते समय आत्मिक समुद्र में मानो डूब जाना चाहिए।

सहजानन्द अपने घर की अटूट सम्पत्ति है। अज्ञानी जीव इस सम्पत्ति का पता न पाकर वैषयिक सुखों में रञ्जायमान रहता है। वह बार-बार दौड़कर विषयों का सेवन करता है परन्तु उनसे तृप्ति न पाकर आकुलित होता है या इच्छित विषय को न पाकर क्षोभित होता है। पाँचों इन्द्रिय-विषय की तृष्णा में डूबकर वह जो कष्ट पाता है वह वचन अगोचर है।

श्री गुरु के प्रताप से जब इसको अपनी सहजानन्द की सम्पत्ति दिख जाती है तब यह महान सन्तुष्ट हो जाता है और जब भीतर जाकर आत्म भण्डार में ध्यान से दृष्टिपात करता है तो सहजानन्द के दर्शन करके मग्न हो जाता है। इस मग्नता के स्वाद को कोई कह नहीं सकता। यह ज्ञानी अब आनन्दानुभव के लिए सुख समुद्र स्वरूप अपनी ही आत्मा के भीतर गोता लगाता रहता है और सिद्ध समान सुख भोगता हुआ अपने आपको किसी भी तरह सिद्ध से कम नहीं अनुभव करता है। यह सहजानन्द के लाभ का ही माहात्म्य है।

44- परम सूक्ष्म तत्त्व

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जालों से रहित होकर अपने भीतर जब ध्यान से देखता है तो एक ऐसे प्रभु का दर्शन पाता है जिसके समान जगत में कोई नहीं दिख पड़ता है। उसकी महिमा अपार है। वह अनन्त गुणों का स्वामी है। न उसमें कोई वर्ण है, न गन्ध है, न रस है, न स्पर्श है। न कोई शरीर है। न कोई वहाँ राग है, न द्वेष है, न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न हास्य है, न रति है, न अरति है, न शोक है, न भय है, न जुगुप्सा है, न स्त्री वेद है, न पुंवेद है, न नपुंसक वेद है, न अनन्तानुबन्धी कषाय है, न अप्रत्याख्यानावरण कषाय है, न प्रत्याख्यानावरण कषाय है, न संज्वलन कषाय है। न कोई मन की क्रिया है, न वचन की क्रिया है, न काय की क्रिया है। न वहाँ शुभोपयोग है, न अशुभोपयोग है। न पुण्य है, न पाप है। न ज्ञानावरण कर्म है, न दर्शनावरण कर्म है, न वेदनीय कर्म है, न मोहनीय कर्म है, न आयुर्कर्म है, न नामकर्म है, न गोत्रकर्म है, न अन्तराय कर्म है। न वह नारकी है, न देव है, न पशु है, न मनुष्य है।

न वह संसारी है, न वह सिद्ध है। न वह बन्धा है, न खुला है। न प्रमादी है, न अप्रमादी है। न वह श्रावक है, न मुनि है। न एकेन्द्रिय है, न द्वीन्द्रिय है, न तीन्द्रिय है, न चौन्द्रिय है, न असैनी पञ्चेन्द्रिय है, न सैनी पञ्चेन्द्रिय है। न पर्याप्त है, न अपर्याप्त है, न सूक्ष्म है, न बादर है। न गुण है, न गुणी है, न पर्याय है, न पर्यायवान है। वह तो एक अनिर्वचनीय, मन से भी अगोचर, बड़ा ही सूक्ष्म, स्वानुभव-गोचर पदार्थ है जिसमें सर्व विश्व झलकता है, तो भी वह अपने आप में है। नाम तो जिसका कुछ नहीं है परन्तु नाम से इसे ही परमात्मा, ईश्वर, प्रभु, निरञ्जन, निर्विकार, अरहन्त, सिद्ध, कृतकृत्य, शुद्ध,

शंकर, विष्णु, महेश, ब्रह्मा, सुगत, त्रिलोचन, धर्मस्वामी, स्वयंभू, परम शान्त, परमानन्दी, समयसार, महावीर, अजितनाथ, चन्द्रप्रभु, मुनिसुव्रत, पार्श्वनाथ, आदिनाथ आदि कहते हैं। उसको पहचानना मन की भी शक्ति से बाहर है।

सहजानन्द कहीं और नहीं है। अपना सहजानन्द अपने में है, पर का सहजानन्द पर के भीतर है। अतएव सहजानन्द के लाभ के लिए उस सूक्ष्म तत्त्व के भीतर प्रवेश करने की जरूरत है जहाँ मन-वचन-काय नहीं जा सकते। इसका उपाय यही है कि पहले तो यह गाढ़ श्रद्धा करे कि मेरा स्वभाव शुद्ध सिद्ध परमात्मावत् है। ऊपर लिखे कोई भी पर संयोग मेरे साथ नहीं हैं। फिर बुद्धिपूर्वक सर्व ही भावों को हटाकर बलात्कार भेदविज्ञान के प्रताप से जब भीतर घुसकर देखा जाता है और दृष्टि पर से बिल्कुल छूटकर आप ही से आपमें रमण करती है तब एकाएक आत्मप्रभु का दर्शन हो जाता है। आप ही सहजानन्द का समुद्र है। अज्ञान से अपने भीतर आनन्द समुद्र होते हुए भी हम उसे देख नहीं पाते हैं। जब आत्मप्रभु के दृढ़ ज्ञान, पूजन व ध्यान के द्वारा आत्मानन्द झलकने लग जाता है तब ही समझना चाहिए कि मैंने सहजानन्द समुद्र को पा लिया है और अनादिकाल का मेरा ताप शान्त हो गया है।

45- स्याद्वाद से स्वभाव लाभ

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जालों से रहित होकर एकान्त में बैठकर यह विचारता है कि क्या मेरा कोई साथी है! तब उसके भेदविज्ञान में झलकता है कि मैं तो बिल्कुल अकेला हूँ, मेरा कोई साथी नहीं है। मेरा द्रव्य मैं हूँ, मैं ही अपने अभेदरूप से रहने वाले गुण व पर्यायों का पिण्ड हूँ और कोई मेरा साथी नहीं है। मेरे सिवाय अनन्त जीव द्रव्य, परमाणु से स्कन्धपर्यन्त अनन्त पुद्गल, धर्म द्रव्य,

अधर्म द्रव्य, काल के असंख्यात अणु व आकाश द्रव्य किसी से मेरा सम्बन्ध नहीं है। द्रव्य की अपेक्षा सब मुझसे भिन्न हैं।

क्षेत्र अपेक्षा जो देखता हूँ तो मेरा असंख्यात प्रदेशी क्षेत्र मेरा मेरे ही में है, मेरे क्षेत्र में परक्षेत्र की सत्ता नहीं है। ऊपर कथित सर्व द्रव्यों का क्षेत्र निराला है। मैं जहाँ हूँ वहाँ अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु व स्कन्ध हैं तो भी उनका क्षेत्र जुदा है, मेरा क्षेत्र जुदा है। **काल की अपेक्षा** मेरा समय-समय परिणमन मेरे ही में है, मेरे में अन्यो का कुछ भी परिणमन नहीं है। यद्यपि सोने-चाँदी के मिले हुए पदार्थ में सोने-चाँदी का साथ-साथ परिणमन देखा जाता है तो भी सोने-चाँदी का परिणमन भिन्न ही है, इसी तरह मेरे साथ बैठे हुए अनन्त कार्माण वर्गणाओं का, तैजस वर्गणाओं का व आहारक वर्गणाओं का परिणमन मेरे परिणमन के साथ-साथ हो रहा है तथापि उनका परिणमन उनमें है, मेरा परिणमन मुझमें है। **भाव की अपेक्षा** देखता हूँ तो मेरा शुद्ध पारिणामिक जीवत्व भाव या ज्ञान, दर्शन, सुख, चारित्र, वीर्य, सम्यक्त्व आदि भाव मेरा मेरे में हैं। मेरे इन भावों के साथ अनन्त संसारी व सिद्ध जीवों के भावों का, पुद्गल के स्पर्शादि गुणों का व धर्म, अधर्म, काल व आकाश के गुणों का कोई सम्बन्ध नहीं है। बस, मैं तो बिल्कुल अकेला ही हूँ, कोई साथ है ही नहीं।

यदि ध्यान से देखता हूँ तो अपने भीतर अनेक गुणों को व्याप्त पाता हूँ। यद्यपि इन गुणों का स्वभाव एक दूसरे से भिन्न है तथापि मैं ही इन सबका आधार हूँ, मेरे से भिन्न इनकी सत्ता नहीं है। अपने से बाहर मैं एक भी गुण को नहीं देखता हूँ। मैं ऐसा देखता हूँ कि वे गुण अलमारी में खिलौने की तरह अलग-अलग चुने हुए हैं किन्तु सबके सब परस्पर व्याप्त हैं, हर एक में सब हैं। क्योंकि हर एक गुण का स्वभाव जुदा-जुदा है इसलिए जब मैं हर एक गुण का दर्शन करना

चाहता हूँ तो अलग-अलग एक-एक को देखता हूँ परन्तु जब मुझे एक का दर्शन होता है तब दूसरों का दर्शन नहीं होता।

इस भिन्नता को मिटाने के लिए और सब गुणों का एक मिश्रित स्वाद एक ही समय में लेने के लिए मैं अपनी विशाल अभेददृष्टि में अपने अभेद अखण्डभाव को ही देखता हूँ, उसी का स्वाद अपने चेतना गुण द्वारा लेता हूँ, ज्ञानचेतना रूप हो जाता हूँ। बस एकदम से सहजानन्द के सागर में मग्न हो जाता हूँ। असङ्ग, एकान्त, सहज स्वभाव का रमण ही सहजानन्द का स्वाद देता है। यह है तो अवक्तव्य, परन्तु जो स्वाद का अनुभव नहीं कर पा रहा है वह वचनों से स्मरण द्वारा कथन कर स्वपर को रञ्जायमान करता है। यह क्रिया भी उसी सहजानन्द सोपान पर ले जाकर खड़ा कर देती है। धन्य है सहजानन्द जो परम तृप्ति का बीज है।

46- तारण-तरण जहाज (Nice)

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जाल से रहित होकर एकान्त में बैठकर सहजानन्द का लाभ करने के लिए निज आत्मा की गुप्त गुफा में विश्राम करता है। वह मन, वचन, काय को पूर्णपणे स्थिर कर लेता है। उपयोग को पाँच इन्द्रियों व मन के द्वारा वर्तन से हटा लेता है तथा आत्मा के स्वरूप में जोड़ देता है। श्रुतज्ञान के बल से उसने जैसा आत्मा का स्वरूप समझा है उसी स्वरूप में बार-बार लय होने का अभ्यास करता है। इसी अभ्यास से उसे सहजानन्द का लाभ होता है।

सहजानन्द जिस भण्डार में है वह बिल्कुल अभेद है। वहाँ कोई सङ्कल्प-विकल्प रूप मन के धर्म नहीं हैं, न वहाँ वचन के सत्य-असत्य, उभय व अनुभय प्रयोग हैं, न वहाँ काय का हलन-चलन

रूप वर्तन है। इन तीन गुप्ति के किले में जो बैठ जाता है वह निश्चिन्त होकर सहजानन्द रस का पान करता है। सहजानन्द परम स्वाधीन है। अपनी ही आत्मा का अपूर्व रस है। आत्मा से बाहर जाने पर इसका लाभ नहीं होता है क्योंकि जो बाहर है वह जानने योग्य है और आत्मा सर्व का ज्ञाता है।

छह द्रव्यों में प्रधान द्रव्य आत्मा है। यह ज्ञाता भी है, ज्ञेय भी है। और द्रव्य मात्र ज्ञेय हैं, ज्ञाता नहीं हैं। आत्मा का नाम नहीं, आत्मा में भेद नहीं, आत्मा में बन्ध नहीं, आत्मा में मोक्ष नहीं, आत्मा में रस नहीं, गन्ध नहीं, वर्ण नहीं, स्पर्श नहीं। आत्मा अमूर्तिक है। मूर्तिक पदार्थों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ हैं। उनके द्वारा आत्मा ग्रहण में नहीं आ सकता है। मन भी उन्हीं बातों को विचारता है जो इन्द्रियों के द्वारा देखी हैं व सुनी हैं। इसकी पहुँच भी आत्मा पर नहीं है। आत्मा की तरफ तो आत्मा का एक शुद्ध उपयोग ही पहुँच सकता है, और कोई नहीं जा सकता। उसे दिखलाने वाली कोई वस्तु नहीं।

इसका पता कैसे मालूम हो कि यह आत्मा है। जब तक दृढ़तापूर्वक आत्मा के शुद्धस्वरूप का और पुद्गल कर्म के भेदविज्ञान का विचार नहीं होता तब तक जीव आत्मा की तरफ नहीं पहुँच सकता, परन्तु भेदविज्ञान में ऐसी ताकत है कि जैसे सुनार द्वारा मिट्टी में पड़ा हुआ सोना पहचान लिया जाता है उसी तरह भेदविज्ञान की सूक्ष्मदृष्टि से आत्मा आत्मा रूप और अनात्मा अनात्मा रूप दिखायी देता है। जो स्याद्वाद को अनुभव में लेकर स्वचतुष्टय में मग्न होता है व पर चतुष्टय को पर जानकर मोह नहीं करता है वह निरन्तर आत्मस्वरूप का मनन करता है। मनन करते समय मन की सहायता है परन्तु वह मन के मरण के लिए ही है।

सहजानन्द ही वह भांग है जिसमें अपूर्व नशा है। सहजानन्दी भांग को पीकर स्वानुभव के नशे में चूर हो जाता है। वही सच्चा मोक्षरूपी स्त्री का भक्त है। वही साधक है, वही यति है, वही मुनि है, वही अनगार है, वही श्रावक है, वही ऐलक है, वही क्षुल्लक है, वही ब्रह्मचारी है, वही महाव्रती है, वही अणुव्रती है, वही सम्यग्दृष्टि है। वही उपशम सम्यक्त्वी, वही क्षयोपशम सम्यक्त्वी, वही क्षायिक सम्यक्त्वी है। वही उपासक है, वही पूजक है, वही श्रोता है, वही वक्ता है, वही जिनभक्त जैनी है, वही त्यागी है, वही वैरागी है। वही शिवभक्त है, वही विष्णुभक्त है, वही बुद्धभक्त है, वही ईश्वरभक्त है, वही जगदम्बा जिनवाणी देवी का भक्त है। वही सत्य तत्त्व ज्ञाता है, वही शास्त्री है, वही पण्डित है, वही शिष्य है, वही गुरु है, वही वीर है, वही धीर है, वही संवर रूप है, वही निर्जरा रूप है, वही समयसार है। जो इस सहजानन्द के नशे में चूर हो जाता है वही शिवनारी को वर लेता है। धन्य है सहजानन्द का प्रताप, यही वास्तव में तारणतरण जहाज है।

47- अनन्त शक्तिधारी द्रव्य

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जालों से रहित होकर जब अपनी आत्मा की शक्ति का विचार करता है तो उसे पता चलता है कि जैसे परमाणु में अनन्त गुण पर्यायें हैं वैसे ही आत्मद्रव्य में हैं। एक परमाणु जब सूक्ष्म से सूक्ष्म जघन्य स्निग्ध व रूक्ष गुण के अविभाग प्रतिच्छेद रूप अंश को रखता है, तब वह किसी से बन्ध को प्राप्त नहीं होता है परन्तु जब उसी परमाणु में अंशों की अधिकता होती है तब वह दूसरे परमाणुओं से मिलकर अनेक आकार रूप व अनेक प्रकार रूप हो जाता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जावे तो एक परमाणु में आहारक वर्गणा, तैजस वर्गणा, कार्माण वर्गणा, भाषा वर्गणा व

मनोवर्गणा को आदि लेकर अनेक प्रकार की वर्गणाओं के रूप में परिवर्तन होने की शक्ति है।

विश्व में पुद्गल के जितने प्रकार के गुण व अवस्थाएँ दिखलायी पड़ती हैं, उन सबकी शक्ति एक परमाणु में होती है। भूत, भविष्य, वर्तमान काल सम्बन्धी जितनी अवस्थाएँ पुद्गल (matter) की हो सकती हैं उन सर्व रूप होने की अनन्त शक्ति एक परमाणु में है। यदि शक्ति न होवे तो कभी भी परमाणु का नाना रूप परिणमन नहीं होवे। सूर्य, चन्द्रमा व नक्षत्रों के विमान, नाना प्रकार माणिक, पन्ना, हीरा और रत्न, नाना प्रकार पृथ्वी आदि छह कार्यों के शरीर, इन सब रूप होने की शक्ति परमाणु में है। वैभाविक शक्ति के कारण विभाव पर्यायों में परमाणु नाच रहा है। उसी तरह इस जीव में निगोद पर्याय से लेकर सिद्ध होने तक जितनी भी प्रदेश सञ्चार रूप व्यञ्जन पर्यायें होती हैं व जितनी भी गुण परिणमन रूप अर्थ पर्यायें होती हैं, उन सबकी परिणमन शक्ति हर एक आत्मा में है। वैभाविक शक्ति के कारण एक आत्मा विश्व की अनन्त पर्यायों को धारण करता है। जैसे परमाणु अन्य परमाणु में मिलकर विभाव रूप हो नाना प्रकार का उदय दिखाता है वैसे ही आत्मा कर्मों के साथ अनादिकाल से मिला हुआ नाना प्रकार के दृश्य दिखाता है। यदि शुद्ध निश्चय से परमाणु को देखा जावे तो वह शुद्ध व अबन्ध है वैसे ही शुद्ध निश्चय से यदि आत्मा को देखा जावे तो वह भी शुद्ध व बन्ध रहित है। उसमें कोई भी संसार का नाटक नहीं है।

जिसको सहजानन्द का पान करना हो उसके लिए यही उचित है कि वह सर्व विभावों से मुख मोड़कर एक शुद्ध आत्मिक स्वभाव को ही देखे। उस शुद्ध दर्शन में न राग है न द्वेष है किन्तु परम समता भाव है। जहाँ समता भाव आ जाता है वहाँ ही सहजानन्द का स्वाद

आता है। वहाँ ही परम शान्ति है, वहाँ ही उपयोग अपनी ही आत्म सत्ता पर उपयुक्त है। मैं अब अपने शुद्ध स्वभाव को देखता हुआ सहजानन्द का स्वाद ले रहा हूँ।

48- सच्चा योगी (V. Imp.)

एक ज्ञानी आत्मा जब सर्व प्रकार के प्रपञ्च भावों से अलग रहकर सहजानन्द पाने का उपाय विचार करता है तब उसे यह विदित होता है कि जिस मन से मैं विचार कर रहा हूँ कि मैं सहजानन्द को पाऊँ वह मन ही सहजानन्द में बाधक है। सहजानन्द आत्मा का स्वभाव है। जब बाहर में वचन व काय स्थिर होते हैं और भीतर में मन निश्चल होता है तब जैसे निश्चल व निर्मल समुद्र के भीतर पड़ा हुआ हीरा चमकता है वैसे ही उपयोग की भूमिका में आत्मा का स्वभाव चमकता है। उस स्वभाव में अनुरक्त होने से, तन्मय होने से, लीन होने से सहजानन्द का स्वाद उसी तरह आ जाता है जैसे ईख के चबाने से मिष्टता का स्वाद, नीम के चबाने से कड़वा स्वाद, इमली के खाने से खट्टा स्वाद, आंवले के खाने से कसायला स्वाद और लवण के खाने से नमकीन स्वाद आ जाता है।

सहजानन्द का भोगी वही हो सकता है जो योगी है। योगी वही है जिसने मन, वचन, काय तीनों योगों को रोककर अपने उपयोग का अतीन्द्रिय व मनरहित स्वभाव में संयोग कर दिया हो। जो सहज ही बिना किसी परिश्रम के सहज स्वभाव में रमण करे वही योगी है। योगी का ध्यान एक सहज आत्मस्वभाव पर ही होना चाहिए। योगी ही सदा सहजानन्द का भोगी है, इसी से सर्व ही भोगियों के द्वारा अर्थात् चक्रवर्ती, इन्द्र, धरणेन्द्र, नारायण, बलदेव, प्रतिनारायण, महामंडलेश्वर, राजा, महाराजा, धनिक, निर्धन, कृषक और शिल्पकार आदि के द्वारा वन्दनीय है, पूजनीय है, क्योंकि ये सभी

भोगी इन्द्रिय सुख को पाते हैं सो भी कभी-कभी ही परन्तु वे उसमें ठहरते नहीं हैं, न उससे तृप्ति होती है इसलिए वे सदा सन्तापित रहते हैं, वे अपने सामने योगियों को सुखी पाते हैं।

जो कोई तत्त्वज्ञानी गृहस्थ आत्मसंवेदी हैं उनको यद्यपि आत्मानन्द का या सहजानन्द का स्वाद आता है तो भी वे गृहस्थ की चिन्ताओं से व्याकुल होते हुए उस रस का सदा पान नहीं कर सकते इसलिए ऐसे ज्ञानी भोगी भी योगियों को उस अमृत का सदा पान करने के कारण ऊँचा समझकर उनको निरन्तर नमस्कार करते हैं। सहजानन्द ही वह अमृत है जिसके पीने से जीव अमर हो जाता है। यही उन कर्मों का क्षय करता है जो जन्म, जरा, मरण के कारण हैं। यही मिथ्यात्वी को सम्यक्त्वी, यही सम्यक्त्वी को देशव्रती, यही देशव्रती को महाव्रती, यही महाव्रती को क्षपकश्रेणी आरूढ़, यही क्षपक को क्षीणमोही, यही क्षीणमोही को सयोगकेवली जिन, यही सयोगकेवली जिन को अयोगकेवली जिन और यही अयोगकेवली जिन को सिद्ध भगवान बना देता है। सहजानन्द का लाभ ही जिनधर्म है। यही मोक्षमार्ग है। जो मानव इस अमृत का पान करना चाहे उसे उचित है कि वह अपनी आत्मिक गुफा में प्रवेश करके उसी में गुप्त हो बैठ जावे। वह देखेगा कि वह सहजानन्द के सागर में डूब गया।

49- अमृतसागर

एक ज्ञानी आत्मा एकान्त में बैठकर जगत का दृश्य देखता है तो पाँचों इन्द्रियों की कामनाएँ दौड़ने लगती हैं। जो-जो विषय स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु व कान को अच्छे लगते हैं उन-उन पर वह राग करता है जो-जो विषय अच्छे नहीं लगते हैं उन-उन पर द्वेष कर लेता है। अपना राग प्राप्त करने वाले विषयों की प्राप्ति का यत्न करता है। यदि प्राप्त हो जाते हैं तो हर्ष मान लेता है। यदि प्राप्त नहीं होते हैं

तो महान कष्ट पाता है। प्राप्त विषय जब बिगड़ जाते हैं तब महान दुःख भोगता है। जब रोगी, शोकी, निर्बल, वृद्ध होने से प्राप्त विषयों को भोग नहीं सकता है तब क्लेशित होता है।

इष्ट विषयों को भोगने से तृप्ति नहीं होती। तृष्णा का दाह जितना-जितना भोगो उतना-उतना बढ़ता जाता है। एकाएक शरीर छूट जाता है तब तृष्णातुर रह मरकर खोटी गति में चला जाता है। फिर अन्य किसी कोई गति में पराधीन हुआ महान दुःख भोगता है। इस तरह जब तक राग-द्वेष का झगड़ा नहीं मिटता है तब तक प्राणी दुःखों की परिपाटी से नहीं बच सकता।

राग-द्वेष क्यों होता है। वास्तव में ये आत्मा के स्वाभाविक भाव नहीं हैं। मोहनीय कर्म का संयोग इस जीव के साथ है। बाहिरी कारण पाने पर जब उसका उदय आता है तब ही विभाव भाव होते हैं। इनके मेटने का उपाय वीतराग भाव में रमण करना है। यह वीतराग भाव अपनी ही आत्मा का स्वभाव है। आत्मा को स्वभाव से परमात्मा ही देखना, जानना, श्रद्धा करना व ध्याना चाहिए। भेदविज्ञान या विवेक से जब विचार किया जाता है तब यह आत्मा कर्मरहित, विभावरहित, शरीररहित, शुद्ध, निर्विकार, ज्ञाता-दृष्टा, परम शान्त व परमानन्दमयी एक शुद्ध पदार्थ झलकता है। जो कोई वीतराग भाव का प्रेमी है उसको अपना उपयोग अपनी ही आत्मा के स्वभाव पर ले जाना चाहिए। बलात्कार मन को सर्व पर से रोकना चाहिए और आत्मा में बिठाना चाहिए, यही आत्मध्यान का अभ्यास है।

सहजानन्द आत्मा का स्वभाव है। जब कभी आत्मा आत्मस्थ होता है, आप आपमें रम जाता है, तब ही उसे सहजानन्द का स्वाद आ जाता है। आत्मध्यान व सहजानन्द के प्रकाश का एक ही काल है। यही मोक्षमार्ग है। यही आत्मा के कर्ममल काटने का मसाला है।

जो कोई आत्मा के स्वाधीन पद के इच्छुक हैं उनको सर्व प्रयत्न करके सहजानन्द के स्वाद में मग्न होना चाहिए। सहजानन्द अमृतसागर है। जो इसमें स्नान करता है वह अजर, अमर व शुद्ध हो जाता है, जन्म-मरण के व्यवहार से छूट जाता है और सहजानन्दी होकर अपने को जीवन्मुक्त अनुभव करता है।

50- गुप्त मोक्षमार्ग (V. Imp.)

एक ज्ञानी जीव सर्व प्रपञ्च से अलग हो सहजानन्द के लाभ के लिए प्रयत्नशील होता है, तब वह केवल अपनी आत्मा ही के भीतर प्रवेश करता है, क्योंकि सहजानन्द एक आत्मा में ही है, आत्मा का स्वभाव है। जब आत्मा में आत्मा का प्रवेश होता है तब मन व इन्द्रियों से उपयोग को अलग करना पड़ता है। जब उपयोग आत्मा के शुद्ध स्वभाव में श्रद्धापूर्वक निश्चल होता है उसी समय आत्मा के पद का स्वाद आता है। यही सहजानन्द का लाभ है।

जब सहजानन्द का पूर्ण लाभ होता है तब विचार की सर्व धाराएँ रुक जाती हैं, आत्मा का विचार भी बन्द हो जाता है कि यह द्रव्य है या गुणी है, इसके साधारण गुण क्या हैं, विशेष गुण क्या हैं, इसकी शुद्ध पर्यायें क्या हैं अशुद्ध पर्यायें क्या हैं। इसका स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव क्या है, उसमें परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव का क्या अभाव है। निश्चयनय से आत्मा क्या है, व्यवहारनय से क्या है इत्यादि सर्व मन द्वारा होने वाले श्रुतज्ञान के विकल्प बन्द हो जाते हैं। ठीक ही तो है-जब स्वरूप-मग्नता हो, आत्मा के शुद्ध ज्ञानजल में निमग्नता हो, निर्वाण रूपी प्रियतमा का दर्शन किया जा रहा हो, तब विचार कैसा, विकल्प कैसा, तर्क कैसा, प्रमाण और नय का विचार कैसा, स्याद्वाद का तर्क कैसा! ये सब बातें तो सहजानन्द के स्वाद को प्राप्त करने में बाधक हैं।

सहजानन्द का लाभ ही धर्मध्यान है, यही शुक्लध्यान है, यही मोक्षमार्ग है, यही भाव संवर है, यही भाव निर्जरा है, यही भाव मोक्ष है, यही योगाभ्यास है, यही सम्यग्दर्शन है, यही सम्यग्ज्ञान है, यही सम्यक्चारित्र है, यही साधक भाव है, यही साध्य भाव है, यही श्रावकाचार है, यही यत्याचार है, यही धर्म है। जहाँ सहजानन्द का लाभ नहीं वहाँ धर्म नहीं, सम्यक्त्व नहीं, सम्यग्ज्ञान नहीं, चारित्र नहीं, संवर नहीं, निर्जरा नहीं, योग नहीं, धर्मध्यान नहीं, शुक्लध्यान नहीं। वास्तव में मोक्षमार्ग भी गुप्त है और मोक्ष भी गुप्त है। दोनों ही मन व इन्द्रियों के अगोचर हैं।

सहजानन्द का लाभ ही मानव जन्म का सार है। इस आनन्द के प्रेम से उत्साहित होकर और गृह जञ्जाल के आरम्भ की चिन्ता को बाधक समझकर तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलभद्र, महामण्डलेश्वर, मण्डलेश्वर, महाराजाधिराज, महाराजा, राजा, श्रेष्ठी आदि व बड़े-बड़े धनी व व्यापारी आदि सर्व परिग्रह त्यागकर यथाजात रूपधारी निर्ग्रन्थ हो जाते हैं और एकान्त, उपवन, गिरि गुफा आदि का सेवन करके वहाँ कोलाहल रहित, क्षोभ रहित वातावरण में तिष्ठकर आत्मिक गुफा में प्रवेश करते हैं और स्वानुभव द्वारा सहजानन्द का रस पान करते हैं।

धन्य है वह सहजानन्द जो अनादिकाल की इन्द्रिय-सुख की तृष्णा को बुझा देता है, जो राग-द्वेष-मोह की उपाधियों को हटा देता है, जो कर्मबन्ध के कारणों का शमन कर देता है, जो तत्त्वज्ञानी को मोक्ष का सा लाभ इसी जीवन में ही प्रदान करता है। धन्य है सहजानन्द! तू मेरे भीतर सदा प्रवाहित रहो। मैं तुझ ही में गोते लगाकर परम सुखी होऊँगा।

51- श्री महावीर प्रभु की भक्ति

एक ऐसा नाम है जिसका स्मरण आते ही भावों में वीरता छा जाती है और कर्म-शत्रुओं के जीतने का व राग-द्वेष मोहादिभावों के विजय करने का उत्साह उमड़ आता है। वह पवित्र नाम है **श्री महावीर भगवान**। उस वीरों के वीर ने उस कामभाव को जीता था जिसके वश चक्रवर्ती समान सम्राट हो जाते हैं और जिसको वश करना बड़ा ही दुर्लभ है। पाँचों इन्द्रियों की कामना ही संसार-भ्रमण का व सर्व सङ्कटों का मूल है। श्री वीर प्रभु ने उस कामभाव को और इन्द्रियों की कामना को आत्मध्यान की अग्नि जलाकर भस्म कर डाला था। उन्होंने जिस अग्नि को जलाया था उसका तेज बड़ा ही आनन्दप्रद है। सहजानन्द का अपूर्व तेज उसी समय चमक जाता है जब उपयोग सर्व ओर से हटकर अपनी ही आत्मा के भीतर प्रवेश कर जाता है और वहीं विश्रान्ति पा लेता है। वे श्री महावीर प्रभु परम वीरता के साथ ध्यानस्थ होकर उन चार घातिया कर्मों का ही क्षय कर देते हैं जो अनन्त सहजानन्द के प्रकाश में बाधक थे। परमात्मा वीर सदा के लिए सहजानन्द सागर में निमग्न हो जाते हैं और वास करते हैं।

जैसे दीर्घ शरीरधारी महामच्छ स्वयंभूरमण समुद्र में वास करता है, उसी का जल पीता है और उसी में मग्न रहता है वैसे ही श्री वीर प्रभु के भीतर स्वयंभूरमण समुद्र बहता है अर्थात् स्वयं ही उत्पन्न आत्मरमण रूपी स्वानुभव समुद्र बहता है। इसी की अनुभूति रूपी जल का स्वाद सहजानन्दमय है। वे वर्द्धमान भगवान इसी समुद्र में सदा वास करते हुए स्वानुभूति द्वारा सहजानन्द के अमृत का स्वाद लेते हैं। वे षट्स के स्वाद से व भवभोगों के अथिर स्वाद से सर्वदा के लिए विमुख हो गए हैं। इसी अपूर्व वीरत्व के कारण प्रभु का

आत्मा पूजनीय है, वन्दनीय है, मननीय है, जपनीय है और अनुकरणीय है। पूजा, नमस्कारादि से भी बढ़कर काम अनुकरण का है।

मैं भी वीर की भाँति निर्ग्रन्थ हो जाता हूँ, सिवाय अपने ही द्रव्य-गुण-पर्याय के किसी को भी नहीं अपनाता हूँ, सर्व पर के मोह की ग्रन्थि को काट डालता हूँ, इन्द्रियों के व मन के द्वारा देखना बन्द करता हूँ, सर्व पर से राग-द्वेष हटाता हूँ, निश्चिन्त होकर आप ही अपने को अपने से अपने लिए अपने में से अपने में देखता हूँ, आप ही का स्वाद लेता हूँ, आप ही में रमण करता हूँ, आप ही को अपना सर्वस्व अर्पित करता हूँ और इसी रीति से स्वानुभव की अपूर्व सम्पदा को प्राप्त करता हुआ परम शिरोमणि सहजानन्द का स्वाद पाकर परम तृप्त हो जाता हूँ। मैं अपने ही ब्रह्मरूपी महावीर की निश्चय आराधना में जमकर निरन्तर सहज सुख पाता हूँ।

— — —

सिद्धान्त में यह भी बतलाया गया है कि इस भरतक्षेत्र में ऐसे भी जीव उत्पन्न होंगे जो कि यहाँ से मरकर सीधे विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर नव वर्ष बाद केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष चले जावेंगे।

जीवासयतेइसा पंचम कालेय भद्रपरिणामा ।
उप्पाइयु विदेहे नवमई वरसे दु केवली होदि ॥

योगसार पाहुड़

अर्थ-इस पंचम काल में इस भरत क्षेत्र में भद्र परिणामी पुण्यात्मा कहीं से आकर उत्पन्न होंगे और अपनी शक्ति के अनुसार धर्म साधन कर अपनी आत्मा को स्वल्पकर्मि बनाकर मनुष्य आयु के निमित्त से एक सौ तेईस जीव महाविदेहक्षेत्र में जाकर जन्म लेकर नव वर्ष के अन्दर केवलज्ञान प्राप्त करेंगे।

इसका खुलासा इस प्रकार से है। पञ्चम काल की मर्यादा २१००० वर्ष की है। आचार्यों ने इसके सात भेद बतलाये हैं और प्रत्येक भाग तीन-तीन हजार वर्ष का है।

पहिले भाग के ३००० वर्ष में ६२ भद्रपरिणामी केवलज्ञान पैदा करेंगे। दूसरे भाग के ३००० वर्ष में ३१ जीव, तीसरे भाग के ३००० वर्ष में १६, चौथे भाग के ३००० वर्ष में ८, पाँचवें भाग के ३००० वर्ष में ४, छठे भाग के ३००० वर्ष में २ और सातवें भाग के ३००० वर्ष में १ जीव केवलज्ञान पैदा करेंगे।

इस प्रकार इस पञ्चम काल के २१००० वर्षों में इस भरतक्षेत्र के जन्मे हुए जीव क्रम से विदेहक्षेत्र में जाकर अपने आत्मकल्याण के मार्ग मनुष्य पर्याय में जो भद्रता रखेंगे वे सदा सुखी होंगे।

देखो, इस पंचम काल में भी इस मनुष्य पर्याय का कितना बड़ा

माहात्म्य बतलाया है। इस जीव को ये मनुष्य पर्याय कितनी दुर्लभ है सो ही आचार्य नीचे बतलाते हैं—

साधिक द्वयब्धिसहस्रं स्थिति जीवानां व्यवहारे ।
तस्मिन्नेव अट्टचदु प्राप्नोति त्रिवेदे पर्यायाः ॥१॥

सारबिन्दु

अर्थ—यह जीव संसार सागर में त्रस पर्याय में दो हजार सागर तक रहता है, विशेष नहीं रहता। इसमें इसको मनुष्य की ४८ पर्यायें ही मिलती हैं, ज्यादा नहीं मिलतीं। जिसमें १६ तो पुरुष पर्याय, १६ स्त्री पर्याय और १६ नपुंसक पर्याय मिलती हैं।

सो हमें यह मालूम नहीं कि हमारी कौन सी पर्याय है। अगर आखिरी की पर्याय हुई तो अब मनुष्य पर्याय मिल नहीं सकती और संसार में डूब जाओगे। इससे यह मनुष्य पर्याय प्राप्त करना महान दुर्लभ जानकर श्री गुरुओं के संयम धारण करने के उपदेश को धारण करो।

— — —